प्रेस
भट्ट
जाने
हमारे
उससे
ने प्रे
लडा
किय
जरिए
योग्य
हुए,
की
बहुत
राजनै
और
व्याप
बना
अपन
वाली
एक
से इ
वाले
वाले

पत्रकारिता के प्रश्न

राजेन्द्र शंकर भट्ट

पंचशील • जयपुर

ISBN 81-7056-212-0

प्रथम संस्करण : 2000

मूल्य : दो सौ पचास रुपए मात्र

प्रकाशक

पंचशील प्रकाशन

फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,

जयपुर-302 003

शब्द-संयोजक

गीतांजलि कम्प्यूटर्स

टोंक फाटक, जयपुर

मुद्रक

शीतल प्रिन्टर्स

फिल्म कॉलोनी, जयपुर

PATRAKARITA KE PRASHNA
By Rajendra Shanker Bhatt

Price
Rs 250

प्रिय प्रवीण पत्नी
सुशीला रानी को

प्रेस
भट्ट
जा
हम
उस
ने
ल
वि
ज
ये
हु
कं
ब
रा
अं
ठ
ब
अ
व
ए
से
वं
व

पत्रकारिता के यक्ष प्रश्न

पत्रकारिता के प्रश्न उठा कर भट्टजी ने देश की प्रेस को आईना दिखाने की कोशिश की है। दिक्कत यह है कि किसी को कोई आईना दिखा ही सकता है, उसमें अपनी शक्ल देखने पर किसी को कोई मजबूर नहीं कर सकता। अपने देश की प्रेस अपनी आत्म-छवि पर ऐसी मुग्ध है कि किसी आईने में अपना वास्तविक चेहरा देखना नहीं चाहती। या वह अपनी असलियत से इतनी घबराई हुई है कि उसका सामना नहीं करना चाहती, शायद वह अपने को होड़ के दबाव की ऐसी भागमभाग में पाती है कि ठहर कर अपने अन्दर झाँक नहीं सकती, या उसे लगता है कि आत्म-विश्लेषण में पड़कर अपने घाव और अपनी कमजोरियों को देखने लगेगी तो दूसरे उनका लाभ उठा जाएँगे, या वह सब कुछ जानते हुए भी स्वीकार करना नहीं चाहती कि उसमें कमजोरियाँ और भटकाव आ गए हैं और जब तक वह उन्हें दूर नहीं करेगी उसका क्षय नहीं रुकेगा। भारतीय समाज की दूसरी संस्थाओं की तरह वह भी ऐंठ में है कि जब और सभी का पतन हो रहा है तो उसी को घेर कर कटघरे में क्यों खड़ा किया जाए?

दरअसल प्रेस के कई पुरोधा कितने ही मंचों से कह चुके हैं कि वह तो खुद ही एक आईना है। उसमें जो कुछ दिख रहा है और जो भी हो रहा है वह कुल समाज का ही चित्र है। प्रेस कोई शून्य में तो चलती नहीं। अगर सबका पतन हो रहा है तो उसका भी होगा और इसके लिए वह स्वयं उतनी जिम्मेदार नहीं है जितना कि समाज। इस समाज को ठीक कर लीजिए तो वह भी ठीक हो जाएगी, यानी प्रेस को अलग करके क्रॉस पर मत लटकाइए। अगर आप इस समाज में बिना किसी घबराहट के रह लेते हैं तो इस प्रेस को भी मंजूर कीजिए क्योंकि वह समाज की दर्पण है। जैसा समाज होगा वैसी ही वह भी होगी। उससे अलग होने की उम्मीद करना बेमानी है और उसके साथ अन्याय भी। जब देश के लोग और नेता आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे तब त्याग, तपस्या, बलिदान, जनसेवा आदि के मूल्य प्रेस में भी थे। अब वही लोग राजनैतिक सत्ता और आर्थिक उदारवाद के भोग में लगे हुए हैं तो प्रेस संन्यासिन की तरह कैसे और क्यों रहे? समाज के प्रति प्रेस की जिम्मेदारी अगर आप मानते हैं तो उसकी दूसरी संस्थाओं को भी कहिए कि वे अपनी जिम्मेदारी निभाएँ। अगर विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में भी गड़बड़ी हो गई है तो प्रेस कैसे बचेगी? प्रेस कोई गंगा तो है नहीं कि सबके पाप धोती रहे। फिर पापी और पाप इतने हो गए हैं कि गंगा अपनी पवित्रता खोकर खुद ही प्रदूषित हो गई है। यह प्रदूषण उसका अपना किया हुआ नहीं है, दूसरों ने उसको प्रदूषित किया है, यानी प्रेस फिर भी अँगुली दूसरों पर ही उठाएगी, वह अपने सीने पर हाथ नहीं रखना चाहती।

लेकिन ये दलीले भी तो उन लोगो की हैं जो प्रेस की वर्तमान स्थिति का बचाव करने मे लगे हैं। यानी कहीं-न-कहीं वे भी यह मानते है कि प्रेस ने अपना वह ऊँचा ओटला खो दिया है जिस पर वह कभी खड़ी थी और जिस पर पहुँचना ही उसका लक्ष्य होना चाहिए। इन लोगो से भिन्न अब ऐसे प्रवक्ताओं की गिनती बढ़ रही है जो कहते हैं कि प्रेस की भूमिका के बारे मे ही समाज गलती पर है--प्रेस ने आजादी के आन्दोलन के दौरान और आजाद भारत के बनने के वर्षों में जो किया सो किया, अब उसकी अध्यापक की या पहरुए की भूमिका नहीं रही। खुले बाजार के भूमंडलीकृत भारत में प्रेस अब विज्ञापन के बाजार में खड़ी है। वह एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ते नए समाज में नहीं, एक बाजार में है जिसमें बड़े-से-बड़ा हिस्सा अपने लिए निकालना और ज्यादा-से-ज्यादा विज्ञापन पाकर ज्यादा-से--ज्यादा मुनाफा कमाना ही उसका लक्ष्य हो सकता है। दूसरे बिकने वाले उत्पादों की तरह खबरें और राय भी उत्पाद हैं। अखबार उन्हें विज्ञापन पाने के लिए बेचता है। बड़े और ज्यादा पैसे देने वाले विज्ञापन उसी अखबार को मिलेंगे जो अपनी खबरों और अपने लेखों को ज्यादा-से-ज्यादा पठनीय यानी बिकाऊ बना सकता है। अखबार एक ऐसा उत्पाद होना चाहिए जो ज्यादा से ज्यादा लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा पढ़ी जा सकने वाली सामग्री देकर लुभा सके ताकि वे बड़ी से बड़ी कम्पनी के महँगे-से-महँगे उत्पादनो को खरीद सकें। अखबारों का काम अब लोगों को जगाने, उनकी बात करने और लोकमत बनाकर देश के लोकतन्त्र को पुष्ट करना नहीं है। उसकी जिम्मेदारी सरकार को लोगों के प्रति उत्तरदायी बनाना भी नहीं है। उसका अस्तित्व अब एक लाभकारी व्यावसायिक संस्था होने में है।

देश के एकाध बड़े अखबार ने तो यह सब खम ठोककर खुल्लमखुल्ला किया है। बाकी के बड़े अखबार यही सब लोकमत और लोकजागरण के नाम पर कर रहे हैं। छोटे और भाषाई अखबारों ने बड़ी बातें करना ही छोड़ दिया है। वे अपने मालिकों और उनके बाद सम्पादकों-पत्रकारों के गैर-पत्रकारीय हितों को पत्रकारीय पव्वे के इस्तेमाल से पूरे करने में लगे हैं। इन सबके लिए पाठक इस देश के जरूरतमंद नागरिक नहीं, ग्राहक हैं। उसी हद तक वे उनकी फिकर भी करते हैं। बाकी ध्यान और जोर राजनैतिक सत्ता की तरफ देते हैं ताकि दूसरे काम हो सकें। जिनके पास औद्योगिक साम्राज्य पहले से आ चुका है वे अपने अखबारों को उसके हित-साधन में लगाए हुए हैं और दूसरे अपने अखबारों के सही इस्तेमाल से अपने औद्योगिक साम्राज्य बनाने में लगे हुए हैं। पत्रकारिता इन सबके लिए अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और लोकहित-राष्ट्रहित की माध्यम नहीं है। वह खुद खुला बाजार नहीं तो उस तक पहुँचने और वहाँ जमे रहने का जरिया है।

प्रेस की इस भूमिका से सरकार दु:खी नहीं है। राजनैतिक सत्ता-प्रतिष्ठान इस भूमिका में प्रेस को पसन्द करता है क्योंकि जो अपने बिकाऊपन पर सबसे ज्यादा जोर देता हो उसे खरीदना आसान है। उस पर मूल्य का एक बिल्ला लगा हुआ है फिर भी उसकी कीमत पर सौदेबाजी की जा सकती है। सत्ता-प्रतिष्ठान अपनी जरूरत के हिसाब से मोलभाव करता है, बिकने वाला अपने इरादे के हितों से अपनी कीमत लेता है। अखबार अगर राजनैतिक विचारधारा और लोकहित पर प्रतिबद्ध हो तो उसे अपनी तरफ करना और उसका इस्तेमाल कठिन होता है। तब वह खुद नियन्त्रण में आने के बजाय सरकार पर अंकुश लगाने की कोशिश करता है। ऐसी प्रेस सत्ता-प्रतिष्ठान को पसन्द नहीं आती फिर चाहे वह कितनी ही लोकहित और राष्ट्रहित में हो। हर सत्ता-प्रतिष्ठान चाहता है कि लोकहित और राष्ट्रहित तय करने का एकाधिकार उसी के पास हो और वही निश्चित

करे कि उनकी पूर्ति कौन कैसे करेगा। समाज और लोगो के हितो को समर्पित प्रेस बाजार की नहीं होती, इसलिए सत्ता-प्रतिष्ठान की भी नहीं होती। आज अगर आप सत्ता-प्रतिष्ठान और प्रेस में कोई संघर्ष और खींचतान नहीं देख रहे हैं तो इसका कारण यही है कि बाजार प्रेस पर हावी है इसलिए सत्ता प्रतिष्ठान भी उसका साथी है।

देश में इस बात पर कोई बहस नहीं हो रही कि प्रेस अगर कारपोरेट क्षेत्र की सहचरी हो जाए और उसका जीवन इसी में सफल हो कि वह बड़ी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादों के लिए ग्राहक जुटाए तो इस देश के समाज और इसके लोकतन्त्र की देखभाल और निगरानी कौन करेगा। प्रेस के नए प्रवक्ता कहते हैं कि यह प्रेस का काम नहीं है। यह विधायिका और न्यायपालिका जैसी संस्थाओं की जिम्मेदारी है। इनके अलावा भी समाज और लोकतन्त्र के नियमन और स्वास्थ्य-परीक्षण के लिए संस्था की जरूरत होगी तो देश बनाएगा। प्रेस व्यावसायिक--औद्योगिक अभिक्रम है। उस पर अन्य समाजसेवी और परोपकारी जिम्मेदारियाँ नहीं डालनी चाहिएँ। इस रवैये से प्रेस की स्वतन्त्रता और विश्वसनीयता भी संकट में है। राज्य अगर उसकी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की कोशिश करता है तो वह न्यायपालिका का दरवाजा खटखटा सकती है या जनमत बनाकर उस सरकार को वोट से बदल सकती है जो प्रेस का गला घोटने की कोशिश कर रही है। लेकिन प्रेस अगर कारपोरेट क्षेत्र की सहचरी बन जाएगी तो जब विज्ञापनदाता उसमें प्रकाशित होने वाली सामग्री का नियमन करेंगे तो वह किसके पास फरियाद ले कर जाएगी? अपने आर्थिक हितों के लिए जब वह खुद ही अपनी गर्दन किसी के हाथ में दे रही हो तो अपनी स्वतन्त्रता कैसे रख पाएगी?

इस वातावरण में राजेन्द्र शंकर भट्ट ने वे प्रश्न खड़े किए हैं जो भारत की प्रेस से पूछे ही जाने चाहिएँ। ये प्रश्न पाठकों और देश के मन में हैं क्योंकि हमारे समाज के मानस में प्रेस की छवि अलग है और उससे अपेक्षाएँ भी अलग हैं। आखिर इस देश के लोगों ने प्रेस को जन-जागरण के माध्यम और आजादी की लड़ाई के हथियार के रूप में जाना और उसका सम्मान किया है। देश के बड़े-से-बड़े नेताओं ने पत्रकारिता के जरिए लोगों को आजादी के लिए तैयार करना और उसके योग्य बनाना जरूरी माना है और इसलिए वे नेता बाद में हुए, पहले सम्पादक हुए। दुनिया के किसी भी स्वतन्त्र देश की तुलना में भारत की प्रेस ने आजादी के आन्दोलन में बहुत बड़ी और रचनात्मक भूमिका अदा की है। वह राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की कारक और वाहक रही है। देश के मन में उसका स्थान एक व्यापारिक प्रतिष्ठान का नहीं, बल्कि समाज को जगाने, बनाने और उसकी निगरानी करने वाली संस्था का रहा है। अपनी इस ऐतिहासिक और राष्ट्रीय भूमिका को छोड़ देने वाली प्रेस न तो देश को स्वीकार होगी न देश उसे महज एक दुकान बनने देगा। इस सत्य को भट्टजी ने कई पहलुओं से इस पुस्तक में उठाया है इसलिए यह सिर्फ मीडिया वालों के लिए ही नहीं, अपितु समाज के सोचने-समझने वाले लोगों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

34, चित्र विहार,
दिल्ली-110092

—प्रभाष जोशी
सम्पादकीय सलाहकार
'जनसत्ता' दैनिक

प्रे
भ
ज
ह
उ
ने
ल
ति
ध
र्
ह
व
ब
र

भूमिका

प्रश्न कोई हो, उसका विषय, स्थान अथवा समय कोई हो, पत्रकार उस पर विचार और मन्तव्य का अपना अधिकार मानते हैं। वे कम मानते हैं कि इनमें पत्रकारिता विषयक प्रश्न भी आते हैं, अतएव ऐसे प्रश्न पत्र-पत्रिकाओं के स्तम्भों में कम स्थान प्राप्त कर पाते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं होता कि सजीव और सक्रिय विधा पत्रकारिता के अपने विषय में प्रश्न नहीं हैं। यह विडम्बना है कि जैसे-जैसे हमारे देश में स्वतन्त्रता का समय बढ़ता जा रहा है, पत्रों-पत्रकारों का प्रभाव और प्राबल्य कम होता जा रहा है। यही नहीं, स्वतन्त्र भारत में स्वतन्त्र पत्रकारिता का संचालन स्वयं प्रश्न बनता जा रहा है।

यह विषय केवल उनके लिए ही रुचि और चिन्तन का नहीं है, जो पत्रकारिता मे हैं। जो देश के शुभ और साफल्य में आस्था रखते हैं और जिनमें उसके लिए चिन्ता और व्यग्रता है, उन सबके वास्ते पत्रकारिता के प्रश्न महत्त्व के हैं। लोकतन्त्र, स्वायत्तता, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय अस्मिता तथा पत्रकारिता अन्योन्याश्रित हैं।

मुद्रण से पूर्व इस संकलन के अवलोकन का अनुरोध मैंने श्री प्रभाष जोशी से किया था, जो मेरे लिए प्रतिभा प्रखरता और प्रामाणिकता के कीर्तिस्तम्भ हैं। उनका लिखा जो मिला है, उससे स्वतः प्रकट है कि वे स्वयं पत्रकारिता के प्रश्नों से उद्वेलित हैं। इसीलिए मेरा कथन, उनके साथ जुड़कर, ऐसा आह्वान बन गया है जिसको पत्रकारिता से सम्बद्ध सभी, इस देश के प्रबुद्ध नागरिकों सहित, जितनी चिन्ता, चेतना और चेष्टा से हृदयंगम करेंगे, उतना ही हम सबका, इस देश का और देशवासियों का, हित सम्पादित होगा। मैं जोशी जी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

इस अवसर पर मैं श्री ऋषिदत्त मेहता और श्री प्रेमनारायण माथुर के प्रति सम्मान प्रकट करना चाहूँगा—उनकी स्नेह और विश्वास भरी प्रेरणा ही मुझे साप्ताहिक 'राजस्थान' द्वारा पुनर्जन्म और पत्रकारिता में प्रवेश के लिए पुनः अजमेर ले आई थी।

मैं पंचशील प्रकाशन के श्री मूलचन्द गुप्ता का भी कृतज्ञ हूँ। यह उनका ही आग्रह था कि पत्रकारिता के विषय में अपने विचार प्रकाशन के लिए संकलित करके उनके सुपुर्द करूँ। उन्होंने पूरे उत्साह से इस पुस्तक का प्रकाशन किया है।

'स्फटिक'
3, जयाचार्य मार्ग,
रामनिवास बाग,
जयपुर 302 004

—राजेन्द्र शंकर भट्ट

अनुक्रम

पत्रकारिता के प्रश्न

समाचारपत्रों में सत्य से साक्षात्

विश्वसनीयता के विकल्प के रूप में, वास्तव में तो इसके समर्थन और व्यावहारिक रूप में, विविधता को ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

विश्वसनीयता का प्रश्न हमारी इस परम्परा से प्रारम्भ होता है कि जो कुछ कहा जाता है, वह सत्य होता है और उससे भी ज्यादा सत्य वह हो जाता है जो लिखकर दिया जाता है। इस आधार पर अविश्वसनीय अतीत में ही नहीं, आजकल के समय में भी इतना व्यवहार और व्यापार हो रहा है कि कहे और लिखे हुए का अनादर बहुत बार समझ में नहीं आता। स्थिति तो यह है कि बहुत-से सौदे अब भी कपड़े में छिपी अँगुलियों के इशारों पर हो लेते हैं, हजारों-लाखों के वारे-न्यारे के। ऐसे लोग कैसे मान सकते हैं कि जो बड़े-बड़े नाम हैं लिखे-पढ़े लोगों में, उनकी ओर से छपी बातें सत्य के सिवा कुछ और हो सकती हैं।

अब भी लिखे-छपे का इतना आदर है कि दैनिक समाचारपत्र और अवधिकालीन पत्रिकाएँ इसी के आधार पर बिकती हैं। अगर ऐसा नहीं हो तो अखबारों का खरीदा जाना बहुत कम हो जाए। वास्तविकता भी यह है कि हर एक समाचारपत्र के हर एक अंक में ऐसी सामग्री सचमुच कम छपती है, जिसे प्रकाशन के पूर्व सत्य नहीं माना जाता।

समाचारों की प्राप्ति और प्रकाशन की जो विधि है, उसमें इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता कि उतना ही प्रकाशित किया जाए, जिसे प्रकाशन के समय सत्य समझा जाता है। इसमें भी अल्पता अथवा आशंका हो जाती है, तभी विश्वसनीयता की समस्या सामने आती है।

चाहे समाचार पहुँचाने के साधन समाचारपत्र हों अथवा रेडियो या टेलीविजन, उन्हें स्रोत के रूप में अपने संगठन के बाहर काम करने वालों पर निर्भर रहना पड़ता है। कल्पना करें उस समाचार सम्पादक की, जिसे एक कमरे में बैठकर, कुछ घण्टों में ही संसार के हर कोने से, निकट से भी और बहुत ही दूर से भी, अपने संवाददाताओं से, मान्य संवाद समितियों से, कम परिचित संवाददाताओं से, सर्वथा अपरिचित सूत्रों से, प्राप्त समाचारों के अपार समूह में से चुनकर अगले प्रात:काल के लिए अपने अखबार के समाचार-पृष्ठ तैयार करने पड़ते हैं। वह बेबस होता है, समय के आगे, सामग्री के आगे, और समाचारों की प्रामाणिकता परखने के जो जाने-माने सिद्धान्त हैं, जैसे अपरिचित सूत्रों से प्राप्त संदिग्ध और विवादास्पद समाचार नहीं प्रकाशित किया जाए, उनके सिवा वह विश्वसनीयता प्राप्ति के लिए कुछ और कर नहीं सकता।

उसकी हर एक कोशिश के बाद भी ऐसे समाचार छप जाते हैं, छप सकते हैं, जो सत्य नहीं हों। परन्तु —————— का विवाद ऐसी चूक अथवा धोखे को लेकर नहीं उठाया जाता विवाद और शंका ऐसे समाचारों को लेकर उठती है जो जान बूझकर चाहे पूरे

असत्य नहीं हों लेकिन प्रकाशन के पूर्व इस उद्देश्य और स्वरूप में परिवर्तित किए हुए होते हैं, जिनसे पूरी वास्तविकता प्रकट नहीं हो, जिससे समाचार पहुँचाने के सीधे और अकेले कर्त्तव्य के सिवा भी कुछ और हितों तथा स्वार्थों की 'सेवा' हो।

समाचारों की प्रक्रिया में ऐसा आरम्भ से अन्त तक सब कर सकते हैं और कठिनाई बहुत बार अनेक स्तरों पर हो जाती है कि जो सत्य दिख रहा है, उसे असत्य मानकर उसका प्रकाशन कैसे रोका जाए।

संवाददाता पूरा प्रयत्न और परिश्रम नहीं करें, गलत अथवा स्वार्थी स्रोत पर भरोसा कर लें, प्रभाव में आ जाएँ, और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एवज में प्राप्त धन, सामग्री, सेवा के बदले में, अपर्याप्त अथवा अर्द्ध-सत्य समाचार भेज दें; जितना जाना हुआ संवाददाता होगा उतनी ही अधिक ऐसा सत्य से दूर वातावरण बनाने वाले समाचार के प्रकाशन की सम्भावना बन जाएगी। अगर ऐसा कम होता है, होशियारी से होता है, पत्र-स्वामी, व्यवस्थापक या सम्पादक के इशारे अथवा प्रोत्साहन पर होता है, जैसे इनमें से कोई किसी अधिकारी या उद्योगपति को प्रसन्न करना चाहता है तो समाचार की गलतियाँ कभी पकड़ी नहीं जा सकतीं, पकड़ी जाने पर भी उनके दूर हुए बिना ऐसा असत्य का प्रचारक समाचार छप जाएगा।

जब समाचारपत्र साठ प्रतिशत से अधिक विज्ञापन को अपने संचालन का आधार बनाए हुए हैं, विज्ञापनों के समाचारों पर प्रभाव का अनुपात अपने आप लगाया जा सकता है। हर विज्ञापनदाता में हर एक समाचार अथवा समाचारपत्र को प्रभावित करने की क्षमता नहीं होती, परन्तु सम्बन्धित समाचारपत्र में जितना अधिक उसका आर्थिक अनुदान होता है, उतनी वह अपनी क्षमता समाचार, संवाददाता, सम्पादक और संचालक को प्रभावित करने की बढ़ा लेता है।

भारत में विशेष स्थिति यह हो गई है कि समाचारपत्रों की सकल प्रकाशन संख्या का आधा से अधिक भाग उन समाचारपत्रों को प्राप्त है, जिनका स्वामित्व और संचालन औद्योगिक-व्यापारिक प्रतिष्ठान कर रहे हैं। वे अपने आर्थिक हितों की उपेक्षा करके जनहित मे समाचारपत्रों का संचालन करेंगे, ऐसी आशा पूरे के पूरे अंश मे शंका में नहीं है। सबसे पहले उस साधन को, उनके समाचारपत्र को, अपनी पटुता और विश्वसनीयता निर्मित करनी होती है, तभी वह उनके उपयोग का हो सकता है। फिर, बीच में संवाददाता और सम्पादन के विभिन्न स्तर होते हैं, जो नैतिकता और प्रतिष्ठा के अपने-अपने सिद्धान्तों तथा व्यवहारो से अपने को बाँधे रखते हैं। इनमें से कुछ हो सकते हैं, जिन्हें उनकी जानकारी में विचलित किया जा सके। उनके बिना समाचारपत्र चल नहीं सकता, इसलिए कोई समाचारपत्र पूरी तरह पर-हित साधना नहीं कर सकता, फिर भी मानवीय स्वभाववश और अपनी हित-रक्षा की आवश्यकता के लिए यह खुलकर मान लिया गया है कि समाचारपत्र की 'नीति' का निर्धारण पत्र का संचालक और स्वामी ही करता है। वहीं से 'समझौता' आरम्भ हो जाता है जो बहुत बार अपना जाल यहाँ तक पहुँचा लेता है कि पत्र-स्वामी स्वयं सम्पादक-कक्ष में आ बैठकर प्रकाशन से पूर्व समाचार और सम्पादकीय देखने लगता है। ऐसा 'हस्तक्षेप' विश्वसनीयता की मात्रा उतनी ही कम करता है जितनी पत्र-स्वामी के अपने आर्थिक हितों से वह टकराती है सिवा इसके कि कभी-कभी [illegible] संचालक उद्योगपति उसके

प्रकार के उत्पादन में लगे पूरे उद्योगपति-समूह की हित-रक्षा को अपना दायित्व मान लेता है।

इनकी आलोचना में इतना कहने से यह नहीं ढ़क सकता कि संवाददाताओं और सम्पादकों के भी अपने विचार और हित होते हैं या उनका इधर-उधर झुकाव नहीं होता। देखने में तो यहाँ तक आया है कि जो तकनीकी गैर-तकनीकी श्रमिक समाचारपत्रों में काम करते हैं, वे भी 'समाचार' में परिवर्तन करा लेते हैं।

समाचारपत्र के बाहर समाचारों को प्रभावित करने की अभिलाषा, महत्त्वाकांक्षा और हौसला, हिम्मत तथा ताकत रखने वाले तत्त्व और समूह बढ़ते जा रहे हैं, जिनका प्रभाव कम-अधिक मात्रा में समाचारों और विचारों को प्रभावित करता रहता है। इसी मे से सरकार-समर्थक तथा सरकार-विरोधी श्रेणियाँ बनती हैं, जिनमें जितने समाचारपत्र आते हैं, उतने ही उनमें काम करने वाले संवाददाता और सम्पादक। जान-बूझकर कुछ सिद्धान्तों का अति-समर्थन भी समाचारों का अंग-भंग किए बिना नहीं रहता और सम्पादकीय विचारों को तो बराबर रंगत दिए रहता है।

यहाँ तक बात उन समाचार-साधनों की हुई जो बिना शासन के प्रभुत्व अथवा प्रभाव के प्रकाशित होते हैं, जिनका स्वामित्व और संचालन प्रतिष्ठानों, समूहों, परिवारों और व्यक्तियों के हाथों में है। जब ये सब अपने-अपने विचारों और हितों के अनुसार समाचारपत्र प्रकाशित करने को 'स्वतन्त्र' हैं, स्वभावत: जो प्रकाशन प्रशासन की ओर से होते हैं, वे उसी का दृष्टिकोण प्रसारित कर पाते हैं। जो लोकतन्त्रात्मक शासन हैं, जैसे भारत देश का, उनमे यह नीति और नैतिकता का प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि जो प्रकाशन-प्रचारसाधन जन-सामान्य से संकलित धन से चलाये जाते हैं, वे देशवासियों के प्रति ही सच्चे बने रहे, परन्तु जब रेल मन्त्री पद प्राप्त करने पर अपने इलाके के लिए नई रेल निकाल लेता है, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पंक्तियाँ भिन्न मार्ग नहीं अपना सकतीं। समाचार-साधन बिना हिचक के प्रचार-साधन बना लिये जाते हैं। शासन-संचालन एक ओर अति विकट होता जा रहा है, दूसरी ओर सर्व-साधारण की सहमति उसके लिए अधिकाधिक आवश्यक होती जा रही है। ऐसे में समाचार-साधनों का अपनी मर्जी के अनुसार उपयोग शासन संचालकों के लिए सुविधा का उपाय हो गया है।

फिर भी इस विचार को पूरी तरह लेकर लोकतन्त्रात्मक प्रशासनों को नहीं चलने दिया जा रहा है और उनका भी हित 'अपने' समाचार-साधनों की विश्वसनीयता बढ़ाना हो जाता है। इस दृष्टि से ही भारतीय दूरदर्शन और आकाशवाणी आलोचना में रहे हैं और अब परिवर्तन की प्रक्रिया में हैं।

चाहे सरकारी क्षेत्र के हों, चाहे निजी क्षेत्र के, जो समाचार-साधन हैं, चाहे अखबार, रेडियो या टेलीविजन, वे उतनी ही विश्वसनीयता अर्जित कर पाते हैं, जितनी उनमें काम करने वालों की प्रतिष्ठा, सेवा-भावना, आदर्शवादिता और बलिदान-उत्कंठा होती है। पत्रकार समूह अपने में ये गुण अधिक मात्रा में मानता है और अन्य व्यवसायों से अधिक ही इनके लिए प्रयत्न और त्याग करने को तत्पर रहता है। इसीलिए पत्रकार और उनके नाम आदर अर्जित करते हैं और उनका उपयोग में होता है

परन्तु विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए अपनी प्रामाणिकता से आगे निकलने का । भी पत्रकारों ने किया है। विदेशों में, विशेषतः अमेरिका में, समाचारपत्रों ने स्वय । निरीक्षण करने के लिए और अपने खिलाफ शिकायतें सुनने के लिए न्यायिक कारी नियुक्त किए हैं। भारत में भी बैनेट-कोलमैन कम्पनी के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' 'नवभारत टाइम्स' ने ऐसा प्रबन्ध किया है।

जो अन्य संस्थाएँ और समूह समाचारपत्रों की प्रामाणिकता बढ़ा सकते हैं, वे भारत मे । पूरा योगदान नहीं कर रहे—

(1) विश्वविद्यालय अपने क्षेत्र के समाचारपत्रों की समीक्षा का दायित्व ले सकते हैं।

(2) ऐसी त्रैमासिक, अर्द्ध-वार्षिक, मासिक पत्रिकाएँ निकल सकती हैं, जो समाचारपत्रों की समालोचना करें और उनकी निगरानी रखें।

(3) विद्वानों, विशेषज्ञों और सावचेत नागरिकों की संस्थाएँ हो सकती हैं, जो समस्त सूचना-साधनों को निर्धारित मार्गों और दायित्वों से नहीं भटकने दें।

(4) प्रेस कमीशन ने ऐसे अधिकृत प्रतिष्ठान का प्रतिपादन किया था। सिद्धान्त यही रहे, 'समाचारपत्रों का, समाचारपत्रों द्वारा, समाचारपत्रों के लिए,' समाचारपत्रों को मिलकर ऐसा संस्थान संचालित करना चाहिए जो उनका मार्गदर्शन करता रहे। विश्वसनीयता भी स्व-अर्जित सम्पत्ति होती है और जितना समाचारपत्र इस ओर ध्यान देंगे उतनी ही उनकी प्रामाणिकता बढ़ेगी, जो अन्ततः सभी सजीव तत्त्वों की सबसे बड़ी पूँजी और शक्ति होती है।

(5) पाठक और उनके समूह समाचारपत्रों में प्रकाशित सामग्री के निरन्तर निरीक्षण के लिए संगठित किए जा सकते हैं।

(6) स्वयं पाठक जो अलग-अलग होते हैं, यदि निश्चय कर लें और अपने लिए अपने समाचारपत्र को ज्यादा अच्छा बनाना चाहें तो वे सबसे अधिक प्रभावी हो सकते हैं। सम्पादक के नाम पत्र लिखकर, सम्पादक के पास जाकर, उसके सामने और जरूरत हो तो उसके विरुद्ध प्रदर्शन करके जो पैसा देकर अखबार खरीदते हैं, वे सम्पादक, संचालक, समाचारपत्र सभी को प्रभावित कर सकते हैं।

(7) कम होता है, परन्तु जब किसी समाचारपत्र, संवाददाता, सम्पादक का 'अनुचित आचरण' प्रकट हो जाता है, उसके विरुद्ध जनमत और जन-आन्दोलन नहीं बन पाता। समाचारपत्र जन-सामान्य के निकट इतना होते हैं, उनको इतना प्रभावित करते हैं कि उनके द्वारा अनौचित्य पाठकों को स्वयं अपनी क्षति और पीड़ा माननी चाहिए और उसका परिमार्जन उतनी ही तत्परता से करना चाहिए।

(8) न्यायालय समानान्तर संस्था होते हैं, उसी प्रकार से न्यायिक और जनहित साधक। उन्हें भी समाचारपत्रों को उतना महत्त्व तो देना ही चाहिए जितना अब ऊँचे-से-ऊँचे न्यायाधीश [illegible] को देने लगे हैं अगर कोई

अनाचार अथवा अनौचित्य समाचारपत्रों से सम्बन्धित किसी व्यक्ति द्वारा होता है और उसकी खबर उठती है तो न्यायालय उसके जन-पक्ष का ध्यान करके अपना अभिमत प्रकट कर सकते हैं।

(९) यह काम जितना प्रेस कौंसिल करती है उतना पर्याप्त नहीं हो रहा। प्रेस कौंसिल को अधिक अधिकारसम्पन्न और दण्डकारी बनाए जाने से काम चल सके तो इसमें जल्दी की जानी चाहिए। इससे समाचारपत्र अपने को उन प्रतिकूल परिस्थितियों से बचा लेंगे, जो उनकी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण अथवा उनके द्वारा अपर्याप्त दायित्व-निर्वहन के कारण अवश्य 'बाहर से' उन्हें सहनी होंगी।

प्रामाणिकता और विश्वसनीयता बढ़ाने के ये सब उपाय अपना पता नहीं कितना और कब प्रभाव डालेंगे। समाचारपत्र स्वयं में 'शक्ति' होते जा रहे हैं। कम-से-कम बर्रों के छत्ते तो जरूर, जिनमें ज्यादा लोग हाथ नहीं डालना चाहते। अजब-सी स्थिति है, समाचारपत्र सबकी आलोचना करना चाहते हैं, परन्तु अपनी आलोचना नहीं सुनना चाहते। ऐसी स्थिति मे वांछित परिवर्तन और उपाय नहीं कहा जा सकता, कब, कितने होंगे।

उनके बिना और उनके आने पर भी जो स्थिति में से अपने आप निकली विश्वसनीयता की सुरक्षा है, वह यह है, और यह निरन्तर बढ़ रही है कि समाचारपत्र, विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ संख्या में बढ़ती जा रही हैं। जितनी अधिक संख्या समाचार-साधनों की होगी, उतनी ही सम्भावना 'सत्य' के उजागर होने की बढ़ेगी। किसी-न-किसी पक्ष या पत्र-पत्रिका से तो वह आएगा ही, जो कोई कहीं छिपाना चाहता है। स्वामित्व में, स्वरूप में, सम्पादन में जितनी विविधता होगी, उतनी ही सम्भावना बढ़ेगी 'सत्य' को प्राप्त करने की। 'सत्य' व्यक्ति के पाश में नहीं आ पाता, परन्तु हर व्यक्ति के लिए समाचारपत्रों को सम्भव करना चाहिए कि वह 'सत्य' से साक्षात् करे।

❑

प्रभाव और प्रतिष्ठा के प्रश्न

जिस समय मुझे राजस्थान पत्रकार संघ की ओर से नेशनल यूनियन ऑफ जर्नेलिस्ट इण्डिया के जयपुर में हो रहे दसवें महाधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित होने वाली स्मारिका के लिए 'अपनी रुचि के पत्रकारिता से जुड़े किसी विषय पर अपना आलेख' भेजने का आमन्त्रण मिला, मेरे मन में सन्तोष से अधिक विषाद हो आया। सन्तोष इसका कि पत्रकारो को शासन की ओर से मिलने वाली सुविधाओं के मानदण्ड-निर्धारण का जो अनुरोध लगभग चालीस साल पहले मैंने किया था, उसने अब अधिकृत सन्दर्भ प्राप्त किया है। विषाद इसका है कि ऐसा अवसर आया है।

पत्रकारिता उसमें सक्रिय तत्त्वों तक सीमित नहीं है। उसकी स्थिति, स्वास्थ्य और सम्मान उनके लिए भी महत्त्व के विषय हैं, जो उससे लाभान्वित होते हैं। इनकी संख्या उन तक सीमित नहीं है जो समाचारपत्रों तथा विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के पाठक हैं। जो कुछ मुद्रित, प्रकाशित और प्रसारित होता है, उसके प्रभाव में मौखिक रूप से भी, उससे वातावरण और विचार बनते हैं, जिनकी प्रतिक्रिया में समय, शासन, समाज को दिशा देने वाली घटनाएँ निर्मित और उद्वेलित होती हैं। यह प्रक्रिया समाचारपत्रों के प्रभाव तक सीमित नहीं है, परन्तु आधुनिक युग में ये सब संचार के साधन अधिकाधिक प्रभावों का प्रसारण करने लगे हैं।

प्रभाव और उनका प्रसारण क्या, कोई भी प्रक्रिया हो, अन्तत: उसका मूल्यांकन उसके परिणाम से होता है। विभिन्न सर्वेक्षणों से सिद्ध हुआ है कि जिस अनुपात में समाचारपत्रों आदि की प्रसार संख्या बढ़ी है, उस अनुपात में उनसे होने वाला परिणाम कम हुआ है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में समाचारपत्रों का, विभिन्न पत्रिकाओं का, स्मरणीय एवं सम्माननीय योगदान रहा है। स्वतन्त्रता के बाद जो शासन आया, समाज का स्वरूप बना, देश की स्थितियाँ होती गईं और अब भविष्य के विषय में आशंकाएँ बनती जा रही हैं, वे सब जैसे पत्रकारिता के हाथों से निकल गईं हैं। कुछ भी रोकने लायक, पत्रकारों, सम्पादकों, समाचारपत्रों के रोके रुक नहीं रहा। जो बहाव आए हैं, उनमें पत्रकार भी बहते चले जा रहे हैं, यद्यपि उनके पूर्वजों ने उस सत्ता का सामना किया था, जिसके शासन में सूरज नहीं डूबा करता था। पाठक संख्या बढ़ी है, समाचारपत्रों की संख्या बढ़ी है, साप्ताहिकों से दैनिकों का युग आ गया है, जिनके भी कई-कई संस्करण निकलने लगे हैं। समाचारपत्रों से सम्बद्ध जितने भी हित और तत्त्व हैं, मालिकों से लेकर मजदूरों तक और बीच के पत्रकारों समेत, सबकी आर्थिक स्थिति समुन्नत और सुरक्षित हुई है। अट्टालिकाएँ उठी हैं और उपकरण आधुनिकतम हुए हैं, फिर भी कुछ है जो खो गया है। अंग्रेजी से उधार लेकर कहूँ तो 'वेल्यू' घटी है 'न्यूसेंस वेल्यू' बढ़ी है।

जिस घटना के उल्लेख से मैंने आरम्भ किया था, वह इस प्रकार थी। उस समय भी एक विशेष प्रकार की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला अंग्रेजी साप्ताहिक 'ओरगेनाइजर' दिल्ली से निकलता था। उसके उस समय के सम्पादक मलकानी साहब अब अधिक उच्च पदस्थ हो गए हैं। उन्होंने अपने एक विशेष समाचार में कुछ पत्रकारों और सम्पादकों की आलोचना की, जिनमें स्वर्गीय मनकेकर साहब भी थे। दोनों—मनकेकर और मलकानी, अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन की स्थायी समिति के सदस्य थे। मैं बीच में आ गया, क्योंकि उस समय राजस्थान राज्य के जन-सम्पर्क निदेशक का दायित्व मेरे पास था। साथ-साथ यह था कि सम्पादकों के, उस समय, इस अत्यन्त सक्रिय तथा प्रभावी संगठन से मेरे सम्पर्क अच्छे थे और उसके पदाधिकारियों तथा प्रमुख सदस्यों से मुझे स्नेह और सम्मान प्राप्त था। जो आयोजन सम्पादक सम्मेलन की ओर से होते थे, उनमें बहुधा मैं भी आमन्त्रित रहता था। यह सब मेरी सराहना में नहीं, सन्दर्भ को समझने के लिए आवश्यक है।

उक्त समाचार में निन्दा मनकेकर साहब की की गई थी कि जो पुत्री उनकी जयपुर के महारानी गायत्री देवी स्कूल में पढ़ती है, उसकी फीस राजस्थान सरकार देती है। कुछ पत्रकारों पर भी राजस्थान सरकार से अनुचित लाभ प्राप्त करने के आरोप थे, जिनमें 'स्टेट्समैन' के वरिष्ठ संवाददाता और श्रमजीवी पत्रकारों में अत्यन्त आदर प्राप्त स्वर्गीय देवदत्त भारद्वाज साहब भी थे। स्वभावतः मेरी प्रतिष्ठा और राजस्थान सरकार का सम्मान संकट में था, लेकिन मैंने बात को इस तरह सामने रखा कि मलकानी साहब और मनकेकर साहब, दोनों अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन की स्थायी समिति के प्रमुख सदस्य हैं। यह स्थायी समिति निर्णय करे, इन दोनों में से एक उसकी सदस्यता के योग्य नहीं है। अगर मनकेकर साहब ने अपनी बेटी की फीस लेने जैसा नीचे स्तर का काम किया है तो उनकी निन्दा की जानी चाहिए। अगर मलकानी साहब ने अनुचित और असत्य आलोचना की है तो उन्हें दण्डित किया जाना चाहिए। मैंने कहा कि इन दोनों में से किसी भी कार्रवाई से राजस्थान सरकार को न्याय मिल जाएगा। हमारे हित परोक्ष हैं, प्राथमिक महत्त्व दो सम्पादकों की प्रतिष्ठा का है।

मैंने यह बात व्यक्तिशः कही, लिखकर कही और उक्त सम्पादक सम्मेलन की ओर से लखनऊ में किये गए विशेष आयोजन में स्वयं उपस्थित होकर कही। मैंने कहा कि समस्त संगठन की प्रतिष्ठा संकट में है, क्योंकि तब भी मनकेकर साहब की विशिष्ट महत्ता थी। अगर मलकानी साहब के आरोप तनिक भी सत्य होते तो ऐसा सार्वजनिक दुस्साहस मेरी ओर से नहीं हो सकता था। मनकेकर साहब ने महारानी गायत्री देवी पब्लिक स्कूल को अपनी पुत्री की पढ़ाई के लिए सब भुगतान अपने बैंक के निजी खाते के चैकों से किए थे। साल बीते हैं लेकिन राज्य सरकार और गायत्री देवी स्कूल के कागजात खत्म नहीं हुए हैं। जो मैंने तब कहा था, उसकी जाँच अब भी की जा सकती है।

ऐसा अब इसलिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि मलकानी साहब ने मनकेकर साहब को सन्तुष्ट करने लायक प्रतिवाद प्रकाशित कर दिया और दोनों सम्पादक सम्मेलन में सम्मान पाते रहे। यह बुरा हुआ, क्योंकि अनुचित और असत्य चाहे जो कुछ हो, उसके लिए दण्ड मिलना चाहिए। मामला सम्पादक सम्मेलन की स्थायी समिति में ही नहीं लखनऊ में हुए

उसके विशेष आयोजन के सामने भी पहुँचाया गया था। दूसरी गलती या कमी यह रही कि दोनों सम्पादकों ने आपस में लीपा-पोती कर ली लेकिन भारद्वाज साहब जैसे पत्रकार की प्रतिष्ठा की उपेक्षा रही। इस एक घटना की बात नहीं है, अखिल भारतीय समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन इसलिए अपना देश की स्वतन्त्रता के पहले का सम्मान नहीं निभा पा रहा, क्योंकि वह वास्तविक समस्याओं से भागता रहा है।

मैं बात को और आगे ले गया। दूसरे प्रेस कमीशन के सामने भी मैंने कहा कि विभिन्न पत्रकार क्या सुविधाएँ शासन से प्राप्त कर सकते हैं, इसका निर्धारण हो जाना चाहिए और यह प्रबन्ध भी होना चाहिए कि जो इस मानदण्ड का उल्लंघन करे, उसे प्रताड़ित किया जाए। इसमें समानता और न्याय था, यह शामिल था कि जो अनुचित है, उसके प्राप्तकर्त्ता को दण्डित किया जाए और जो ऐसा अनुचित प्रदान करता है, उसे भी दण्डित किया जाए।

यह तब हो जाता तो पत्रकारिता में वह सब नहीं बहता, जिसकी रोक के लिए अब प्रेस कौंसिल कार्रवाई कर रही है। जो नुकसान था, वह हो गया। अगर अनुचित आदान-प्रदान हुए हैं तो उनसे प्रदूषित लेखन एवं प्रकाशन के कुप्रभाव हम भुगत चुके हैं। यह जो स्थिति आई है, पढ़ा जाता है, असर नहीं होता, वह एक दिन में नहीं बनी है। इसे भी मैंने बहुत खतरा उठाकर कहा था। 'ब्लिट्ज' से सब डरते थे, हम राजस्थान सरकार में भी। परन्तु 'सम्पर्क' में इस कारण उसे दूर नहीं रखा जा सकता था और धीरे-धीरे इस (बिलट्ज) उस समय के भयभीत करने वाले साप्ताहिक के प्रधान सम्पादक करंजिया साहब से (वे दीर्घायु हों। हाल की उनकी बुरी बीमारी से मैंने निजी आघात अनुभव किया था।) ऐसी निकटता प्राप्त हुई कि वे मेरे कार्यालय भी आए और एक बार अपनी पुत्री और पत्नी के साथ मेरे घर भी। मेरा घर उनके महल के आगे कुटिया है लेकिन उनसे स्नेह और सन्निकटता मुझे जयपुर में और बम्बई में बहुत मिली। एक बार अपने कार्यालय के बाहर, राजस्थान सचिवालय के सामने के खुले मैदान में साथ-साथ चहलकदमी करते हुए उनसे मैंने कहा—'करंजिया साहब, यू आर रेड, बट नोट रेस्पेक्टेड।' कहने को मैं कह गया लेकिन तत्काल लगा कि ऐसी बात से तो गम्भीर से गम्भीर आघात हो जाता है और एक जनसम्पर्क अधिकारी को तो कतई ऐसी धृष्टता नहीं करनी चाहिए। लेकिन करंजिया साहब उससे महान हैं जितने वे माने जाते रहे हैं। इसके बाद उनसे और भी अधिक आत्मीयता प्राप्त हुई और उन्होंने विस्तार से अपनी जीवन-गाथा सुनाते हुए कहा कि एक सामान्य उप-सम्पादक से प्रभावी सम्पादक बनने के लिए उन्हें ऐसे काम करने पड़े हैं, जिनको वे स्वयं स्तरीय अथवा आदर्श नहीं मानते।

जो पाठक हैं, और प्रभावित हैं, वे अपने भरसक जो उचित है, उसके अधिकतम निकट भर रह सकते हैं। एक और, और भी अधिक प्रभावी और बलशाली व्यक्तित्व से साबिका पड़ा था। 'इण्डियन एक्सप्रेस' के स्वामी और दिशा-निदेशक श्री रामनाथ गोयनका और उनके पुत्र, अब दोनों नहीं हैं, मुझ पर कृपा करने लगे थे। कई बार उनसे दिल्ली और बम्बई में मुलाकात हुई। एक बार प्रस्ताव यह बना कि 'इण्डियन एक्सप्रेस' को जयपुर में रियायती दर पर भूमि दी जाए और उसका संस्करण यहाँ से निकले। तब भी अब की तरह जयपुर का अपना कोई अंग्रेजी दैनिक नहीं था और हम सब राजस्थान सरकार में इस प्रस्ताव

के प्रति उत्साहित थे। यह पूरा इसलिए नहीं पड़ा कि रियायती मूल्य पर दी गई भूमि पर बने भवन के हिस्सों को किराये पर उठाकर व्यापाराना लाभ उठाना उचित नहीं माना गया।

अब उत्तर प्रदेश के प्रमाणित प्रकरण से पत्रकारों द्वारा शासन से बड़ी-बड़ी नकद राशि प्राप्त करने की बातें सामने आई हैं और हो सकता है कि अनुचित आदान-प्रदान के ये कीर्तिमान हों, परन्तु कुछ-कुछ देना-लेना, कई-कई प्रकार से, पत्रकारों और शासन-संचालकों के बीच जब से स्वतन्त्र भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारें बनीं तब से शुरू हो गया था। इसका मानवीय, परन्तु अत्यन्त अनुचित आधार था, स्वतन्त्रता संग्राम में लगे कुछ लोग जब शासन के सुख भोगने लगे हैं तो जो उनके साथ पत्रकारिता के माध्यम से विदेशी सत्ता से जूझते रहे, उन्हें पत्रकारिता में ही लाभ प्राप्त होने चाहिए। पत्रकारिता को स्वार्थ का साधन मानने और पत्रकारों को प्रसन्न करने की प्रक्रिया यहाँ से आरम्भ हुई। सबको देखना और समझना चाहिए कि यहीं से गिरावट भी शुरू हुई, जो उस समय शासन में थे, वे सब भी गिरे और जो पत्रकारिता में थे, उनसे हमारे समाचारपत्र आदि भी गिरे। स्वार्थ न शासन में सहा जा सकता है, न पत्रकारिता में।

पत्रकारिता पर दायित्व अधिक होता है। समाज के दर्पण के अतिरिक्त समाचारपत्र मार्गदर्शक भी होते हैं। दर्पण के धुँधले होने पर आकृति अबूझ दिखेगी और मार्ग अनिश्चय तथा अँधकार की ओर ले जाएगा।

क्या हम ऐसा होने देंगे? यही इस समय पत्रकारों के सामने सबसे प्रमुख विचारणीय प्रश्न है। हमारे यहाँ सामाजिक ह्रास यह भी हुआ है कि विभिन्न समुदायों की आन्तरिक नियमन एवं नियन्त्रक संस्थाएँ समाप्त हो गई हैं। समुदाय का, समाज का, पंचायतों का पहले बहुत प्रभाव था। 'हमारे यहाँ ऐसा नहीं होता', इसका आतंक था। पंचायतें थीं, जिनसे बड़े-छोटे सब डरते थे। पत्रकारों को अपने संगठनों को इतना सबल करना होगा कि जो भी सदस्य अनौचित्य से अपने को लाभान्वित करे, उसे पहले पत्रकारों के बीच दण्ड प्राप्त हो। यह आदर्श की नहीं, व्यवहार की बातें हैं, क्योंकि जो चहुँमुखी गिरावट आई है, उसकी जड़ में जाकर कुछ-न-कुछ सुधार के, और उठाने के उपाय तो करने होंगे। भारतीय लोकतन्त्र अपनी पत्रकारिता का पतन अपनी क्षति करके ही सह सकता है।

❑

स्वतन्त्रता संग्राम के परिणाम और पत्रकारिता

अगस्त आन्दोलन के आदर में जो आयोजन देश व प्रदेशों की राजधानियों, नगरो और कस्बों में हुए, उनसे तीन प्रकार की एकता आभासित हुई।

जो आदर और अभिमान स्वतन्त्रता सेनानियों के प्रति है, उसका अच्छा प्रसार सारे देश में है।

इसी में यह आता है कि जो स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, उसे सम्भव उसी एकता ने बनाया जो इस सुदीर्घकालीन प्रयत्न में निरन्तर सारे देश में बनी रही। अगस्त क्रान्ति के लिए स्पष्ट निर्देश नहीं थे, फिर भी सारा देश इस प्रकार जागा और उठा कि अंग्रेज हतप्रभ हो गए। वेग को एक बार बस में करने पर भी उनके मन में जम गया कि वे भारत में अपना राज अपनी ताकत से कायम नहीं रख सकेंगे। जिस साम्राज्य का यह दंभ था कि उसकी सीमा में सूरज नहीं डूबता, वह उन किरणों के आगे नहीं ठहर सका जो स्वतन्त्रता संग्राम की व्यापकता और सुनिश्चितता में से उत्पन्न हुई। एक हथियारहीन समाज का अहिंसा के आधार पर किया गया ऐसा प्रयत्न इसके पहले कहीं इतना सफल नहीं हुआ था। अगस्त आन्दोलन में हिंसाकारी घटनाएँ जहाँ-तहाँ हुईं लेकिन उन्हें उन ज्यादतियों की प्रतिक्रिया भर माना गया, जो अनावश्यक क्रूरता से उस समय के शासकों ने भारतीयों के विरुद्ध आजमाई थीं। महात्मा गाँधी ने तो अपने इस आन्दोलन को भी अहिंसक बनाए रखने का निश्चय अपनी गिरफ्तारी तक दोहरा रखा था। नेतृत्व से उन्हें जबरन हटाना अंग्रेजों के विरुद्ध भारत के दृढ़ निश्चय का ऐसा उफान हो गया, जो फिर कभी काबू में नहीं किया जा सका। भारत की एकता की ही यह विजय थी।

जो आदर जगह-जगह स्वतन्त्रता सेनानियों का हुआ, उनमें सब जगह सम्पादक और पत्रकार भी थे। स्वतन्त्रता संग्राम में पत्रकारिता का योगदान अंग्रेजों के विरुद्ध हुए आन्दोलन के शुरू से साथ हो गया था और जितने भी जाग्रत स्थल थे, हर प्रदेश और हर भाषा के, उन सबमें एक-सी स्थिति थी कि जो स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन कर रहे थे, उन्होंने ही अपने प्रयत्नों के लिए पत्रकारिता को समर्थ शस्त्र बना रखा था। इनमें भी रचनाकारों, पत्रकारों और सम्पादकों का स्मरण यथास्थान हो लेता है, परन्तु संवाददाताओं और पत्र-विक्रेताओं के रूप मे और अधिक योगदान था, क्योंकि वर्जना कई क्षेत्रों में छापेखानों और टाइपराइटरों पर भी थी और जितनो देख-रेख अखबारों के छापे जाने और आने पर रखी जाती थी, उतनी ही खबरें भेजे जाने पर।

इसे क्रमबद्ध रूप से लिपिबद्ध किया गया है कि 1857 का जो विद्रोह हुआ, उसे प्रबलता प्रदान करने में उर्दू-हिन्दी के 'पयाम-ए-आजादी' तथा 'मालवा अखबार' और हिन्दी बंगला के समाचार सुधावर्षण ने जो योग दिया उसकी परम्परा का निर्वहन भारतीय

पत्रकारिता ने स्वतन्त्रता संग्राम के सब आयामों में किया। भारतीय पत्रों और पत्रकारों को सजाएँ, तंगियाँ, जब्तियाँ, यातनाएँ और सचमुच बलिदान बरदाश्त करने पड़े, उनकी भीषणता उन उक्तियों से आँकी जानी चाहिए, जो स्वयं अंग्रेज अधिकारियों द्वारा उन्हीं दिनों में अंकित की गई थीं—"भारतीयों के समाचारपत्रों में कहीं भी इतना अनुत्तरदायित्व नहीं दिखाया जाता जितना कि देश के उस भाग में है, जहाँ मैं नौकर रहा हूँ। वहाँ के पत्रों के एक भाग ने अपनी पूरी ताकत वर्तमान सरकार के विरुद्ध घृणा और अविश्वास फैलाने और जातीय तथा वर्ग-भेदभाव बढ़ाने में लगाई है। जो लोग लिख-पढ़ सकते हैं, उनकी संख्या उत्तर-पश्चिम प्रान्त मे बहुत कम है, परन्तु वहाँ पर देशी पत्रों का प्रभाव अवश्य पड़ेगा।"... "सबसे दुस्साहसी राजद्रोह उत्तर भारत के देशी भाषाओं के पत्रों में लिखा जाता है—देशी भाषायी प्रेस वर्तमान काल में दुष्कर्म को प्रोत्साहन देने की राजद्रोही कला में निष्णात है, चाहे वह राय के द्वारा हो या तथ्य को प्रकट करके।" ये उद्धरण सन् 1878 के हैं जब पहली बार भारतीय समाचारपत्रों के विरुद्ध विधेयक पारित हुआ था। 1886 के दो उद्धरण और हैं—"आए दिन ब्रिटिश शासकों के खिलाफ इन सैकड़ों तेज-तर्रार बाबुओं का हमला बढ़ता जा रहा है। ये लोग रोज-बरोज अंग्रेजों के खिलाफ रोष, निन्दा और कटु आलोचना की बातें लिख रहे हैं।" "इसमें कोई शक नहीं कि अखबार पढ़ने वाले लोगों के दिमाग में यह बात घर करती जा रही है कि हम (अंग्रेज) आम तौर से पूरी मानव जाति के और विशेषकर भारत के दुश्मन हैं।"

एनीबीसेन्ट, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी—यह एक सिलसिला है भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का, अखिल भारतीय स्तर पर, और ये तीनों पत्रकारिता को पुरजोर साधन बनाये हुए थे और प्रत्येक प्रान्त में उनके सहयोगी और समर्थक थे जो समाचारपत्रों के माध्यम से परतन्त्रता की बेड़ियाँ काटने में लगे हुए थे। महात्मा गाँधी ने तो अपने पत्र को 'स्वराज्य' नाम ही दिया, जिसे उन्होंने आगे चलकर 'हरिजन' नाम से निकाला। इनके उद्धरण समस्त समाचारपत्रों के स्तम्भों में गूँजते थे, जो देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे, उनके मार्गदर्शक बनते थे और जो उस लड़ाई को कुचलने में लगे थे, उनको कँपाते रहते थे। जब देश स्वतन्त्र हुआ, मौलाना अबुल कलाम आजाद उस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, जो इस स्वतन्त्रता की प्रमुख प्रणेता हो गई थी और मौलाना आजाद के अखबार भी इसी प्रकार हृदयों को झंकृत करते रहते थे। परन्तु, जैसा कहा गया, देश के हर जाग्रत क्षेत्र में अपने-अपने, अपनी-अपनी भाषा के अखबार थे, जो स्वतन्त्रता के संकल्पों को अपनी वाणी और बलिदानों से सुदृढ़ किये हुए थे। इनमें से ही वाराणसी के 'आज' के बारे में कहा जाने लगा था—जो इसमें आज लिखा जाता है, वही कल राजनीति में लगे लोगों का मानस बनता है। खण्डवा का 'कर्मवीर' था, जिसने सचमुच लाखों को कर्मवीर बनाया। पत्रकारिता और परतन्त्रता की समाप्ति के प्रयत्नों में इतना तादात्म्य था कि उसके बारे में उचित रूप से लिखा गया है—"पत्रकारिता ने आन्दोलन की स्नायु-प्रणाली का कार्य किया। जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का निर्माण और संचार किया। राष्ट्र की उसके 'स्व' से पहचान कराई। उसे स्वाधीनता का अर्थबोध कराया। उसे उठ खड़े होने और लक्ष्य की ओर चल पड़ने का आह्वान किया। पत्रकारिता ने स्वयं इस क्रम का निर्देशन भी किया और उसके पदचापों की ध्वनि को विजय अभियान की अभिव्यक्ति देते हुए शासकों के दिलों को प्रकम्पित भी किया। शायद ही किसी

अन्य देश की पत्रकारिता का उसकी आजादी में वैसा अवदान रहा हो जैसा भारतीय पत्रकारिता का और पत्रकारों का रहा है। वास्तव में स्वतन्त्रता-पूर्व की भारतीय पत्रकारिता और राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसे परस्पर अनुपूरक थे कि एक को दूसरे से अलग करके न देखा, न समझा जा सकता है। देश की आजादी प्रेस का मिशन हो गया था तो प्रेस की आजादी का सवाल देश की आजादी का आवश्यक अंग बन गया था।''

आजादी और आजादी की कोशिश उन दिनों भी और हमेशा हर जगह काँटों का रास्ता हुआ करती है और भारतीय पत्रकारों और पत्रों को उन दिनों कम कष्ट नहीं उठाने पडे। उनमें से वह अनुभूति और प्रकृति विकसित हुई, जिसने 'प्रताप' में जैसा लिखा जाता था, उसी प्रकार का बलिदान उसके सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी से कराया। 'कथनी' और 'करनी' का यह एक स्वतन्त्रता संग्राम के समय में पत्रकारिता और पत्रकारों का विशिष्ट चरित्र था, जिससे उसने जितनी चैतन्यता प्राप्त कर रखी थी उतनी ही प्रतिष्ठा। कथन और व्यवहार की सामंजस्यता का जो उत्कृष्ट चरित्र भारतीय पत्रकारिता ने विकसित किया, उसके लिए उसे अनगिनत और अपूर्व त्याग और बलिदान करने पड़े।

ऐसे में यह नितान्त स्वाभाविक, अनिवार्य और उचित था कि अगस्त आन्दोलन की स्वर्ण जयन्ती के आरम्भ के साथ-साथ, राष्ट्रीय आन्दोलन में पत्रकारिता की भूमिका की अभ्यर्थना भी आरम्भ हुई, परन्तु इसके लिए जो आयोजन हुए, उनमें अतीत के आदर के अतिरिक्त ये प्रश्न भी उठाए गए कि पत्रकारिता का जो योगदान स्वतन्त्रता संग्राम के साथ था, उसका सिलसिला स्वतन्त्रता के बाद क्यों नहीं चलता रहा और आगे के लिए पत्रों और पत्रकारों का दृष्टिकोण, व्यवहार और चरित्र क्या होना चाहिए।

जीवन की एक नियमितता होती है, जो कभी निपुणता, कभी निर्ममता के रूप में सामने आती है और तदनुसार परिणाम निर्मित होते रहते हैं, जिसे ही कहा गया है—जैसा करोगे वैसा भरोगे। यह जितना व्यक्तियों पर लागू होता है उतना ही राष्ट्रों पर, उतना ही राजनीति पर और उतना ही पत्रकारिता पर।

महात्मा गाँधी जितने स्वतन्त्रता संग्राम के प्रतीक थे, उतने ही उस सहयोग के जो स्वतन्त्रता संग्राम और पत्रकारिता में रहा। स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही उन दोनों से उन्होंने अपने को विमुख कर लिया, जिन्होंने स्वतन्त्रता का, उसके लिए किए गए सौदे का और बाद में उस सौदे और स्वतन्त्रता का संचालन अपने हाथ में लिया। सब कुछ जो एक साथ होता है, उसके परिणाम तभी उसी के अनुरूप प्राप्त होते हैं जब उस सब कुछ को साथ रखा जाता है। स्वतन्त्रता के सौदे और सरंजाम ने जो रूप लिया, उसका पहला परिणाम तो भारत-विभाजन हुआ, दूसरा उस तरह के शासन का आरम्भ जो अपना अस्तित्व पूरी तरह चार दशक भी नहीं निभा सका और जिसके परिणामस्वरूप एक ओर वह कांग्रेस खण्ड-खण्ड हो गई जिसे देश की स्वतन्त्र करने की कीर्ति प्राप्त थी, दूसरी ओर उनमें से अधिकांश सपने पूरे नहीं हो पाए जो स्वतन्त्रता संग्राम में संजोए गए थे और जिनकी आशा समस्त देशवासियों को दिलाई गई थी। जो देश में अभाव, दुराव, कटाव, अविश्वास, अँधकार स्वतन्त्रता के पचास वर्ष पूरे होने के पहले व्याप्त हो गया था, उसका उल्लेख बहुत ज्यादा अगस्त आन्दोलन की स्वर्ण जयन्ती के उत्सवों और उद्बोधनों में हुआ यह हिसाब किताब तो और के

परिणामों का था ही, इसमें से इसे भी ढूँढा जा सकता है कि आगे के लिए क्या मार्ग और दायित्व बनते हैं।

अगस्त आन्दोलन के पहले महात्मा गाँधी से कांग्रेस ने अपने को बहुत कुछ अलग कर लिया था, उनके और कांग्रेसजनों के बीच बहुत मतभेद थे उस दृष्टिकोण के बारे मे जो क्रमशः अंग्रेज सत्ता और उसकी ओर से द्वितीय विश्व युद्ध के संचालन के विषय में बनता गया। अगस्त आन्दोलन की जब अग्नि-परीक्षा आई, फिर से कांग्रेस ने महात्मा गाँधी को आमन्त्रित करके उन्हें अपना नेतृत्व सम्पूर्णतः सौंप दिया। उसमें जो व्याघात अंग्रेजों की ओर से डाला गया, उन्हें और उनके सभी साथियों और सहयोगियों को अचानक और एक साथ गिरफ्तार करके, उसके कारण अगस्त आन्दोलन दिग्भ्रम हो गया। उसका परिणाम तो प्राप्त हुआ, परन्तु पूरा नहीं। अब इसका विश्लेषण अनावश्यक है कि महात्मा गाँधी के हाथो मे अगस्त आन्दोलन का नेतृत्व सक्रिय रूप से बना रहता तो उसका स्वरूप और परिणाम कैसा होता, परन्तु चूँकि उसके और बाद के परिणामों का पूरा प्रभाव भारत की भावी गतिविधि पर पड़ा, पड़ रहा है और आगे भी पड़ेगा, इसलिए उस पर विचार आवश्यक है।

कांग्रेस के तत्कालीन नेता अगर महात्मा गाँधी को स्वतन्त्रता संग्राम के संचालन के लिए आमन्त्रित और विवश कर सकते थे, उन्हें उसमें अपना सम्पूर्ण समर्पण और सहयोग दे सकते थे, तो वे वैसा-का-वैसा स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर उसके संचालन के लिए क्यों नहीं कर सकते थे! यह उनकी कमी थी, अपने को गाँधीजी से अधिक चतुर और सक्षम मानने की अमर्यादा और कृतघ्नता थी जो जब वे दिल्ली में सत्ता के सिंहासन पर सज रहे थे, महात्मा गाँधी उस स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए जातीय सद्भाव और सहयोग की तलाश में, और स्थापना में, गाँव-गाँव भटक रहे थे।

गाँधीजी का भी उतना ही दायित्व था कि जो स्वतन्त्रता उनके नेतृत्व में प्राप्त हुई, उसका संचालन वे अपने हाथों में रखते। वे बनना चाहते तो कांग्रेस के अध्यक्ष बन सकते थे, चाहते तो देश के पहले प्रधानमन्त्री बन सकते थे। उस समय की तरह यह सदा सर्वोपरि रहेगा कि जैसा नेतृत्व होगा वैसे ही परिणाम प्राप्त होंगे। स्वतन्त्रता के बाद जो लोकतन्त्र विकसित हुआ, उसने अवश्य परिणाम पर्याप्त और वांछित प्रदान नहीं कर सकने वाले नेतृत्व को पदच्युत और परिवर्तित करने की क्षमता और शक्ति विकसित कर ली, परन्तु प्रारम्भ में स्वतन्त्रता संग्राम से प्राप्त देश की स्वतन्त्र सत्ता का संचालन उन्होंने हस्तगत कर लिया था जो स्वतन्त्रता संग्राम में और उसके बाद हुई सत्ता-प्राप्ति की सौदेबाजी में अपने को आगे बनाए रख सके थे। यहीं से छटाव और दुराव आरम्भ हो गया था, कांग्रेस में एक वर्ग सत्ता का स्वामी बनता गया, दूसरा उससे वंचित।

जो वंचित रहे, उनमें अग्रगण्य रहे महात्मा गाँधी, उनके सिद्धान्तों, उपदेशों और व्यवहारों के अधिक समर्पित साथी और अधिकांश देशवासी, क्योंकि जिन्होंने सत्ता सम्भाली उन्होंने जितना स्वतन्त्रता संग्राम के आदर्शों और मूल्यों से अपने को काटा उतनी ही अधिक उनके शासन-कार्य में ऐसी विकृति आती गई कि वे देशवासी उनसे कटे-कटे रहने लगे, जिन्होंने अपौरुषेय संलग्नता, साहस और समर्पण से स्वतन्त्रता संग्राम में उनका साथ दिया था इसका एक और परिणाम हुआ महात्मा गाँधी का बलिदान। दूसरी ओर यह प्राय

स्थायी-सी स्थिति कि स्वतन्त्र भारत का शासन प्राय: निरन्तर अल्पसंख्यक मतों से संचालित रहा।

संदर्भान्तर्गत क्रम को बनाये रखते हुए यह देखना होगा कि कांग्रेस ने और देश ने महात्मा गाँधी से ही अपने को विमुख और वंचित नहीं किया, उनके सिद्धान्तों को पत्रकारिता भी उनके साथ समाप्त हो गई। जो पत्रकारिता स्वतन्त्रता संग्राम की 'स्नायु प्रणाली' थी, उसके स्नायु तन्तुओं के संकुचित होने पर, उस समय की पत्रकारिता के सिद्धान्तों से स्वतन्त्रता के बाद की पत्रकारिता के अपने को विमुख और विपरीत करने पर, उसमें यह स्थिति आई कि उसमें नेतृत्व के तत्त्व समाप्त होते गए और पक्षपात, स्वार्थ, सुख के तत्त्व प्रविष्ट और पोषित होते गए। महात्मा गाँधी के बाद उनके 'हरिजन' को नहीं निभाया जा सका और उसके साथ-साथ एक के बाद एक करके वे पत्र-पत्रिकाएँ सिमटती गईं, जिन्होने स्वतन्त्रता संग्राम में शंख बजाए थे और उसके लिए बलिदान किए थे। चूँकि ये नाम ऊपर आए हैं : कहाँ हैं 'प्रताप' और 'कर्मवीर'! हर राज्य में यही हुआ कि जो स्वतन्त्रता संग्राम के समाचारपत्र थे, वे समाप्त हो गए, तथा उनमें से जो बचे, उनके साथ स्वतन्त्रता संग्राम के सिद्धान्त नहीं रहे थे। यही गति उन पत्रकारों और सम्पादकों की हुई, जो स्वतन्त्रता संग्राम मे अग्रगण्य और उसके स्तम्भ थे—वे या तो शासन सत्ता में सिमट गए या इस धोखे में उसका समर्थन करने लगे कि उनके ही साथी शासन में हैं। शासन में जो होता है, वह केवल शासक होता है, अतएव जो स्वतन्त्रता संग्राम के समय के पत्रकार और सम्पादक थे, वे शीघ्र विपन्नता और निराशा अनुभव करने लगे; जिसे कुछ ने अमर्यादित धन-संकलन से भुलाने का यत्न किया, कुछ और धंधों में लग गए या अपने घर बैठकर अपने दिन गिनने लगे। यह हुआ कि स्वतन्त्रता के समय कठोर यातनाएँ सहने वाले, 'अपने' शासन से सुविधाएँ लेने के लिए असत्य प्रमाणपत्र देने लगे।

इसे एकांगी विवरण नहीं बनने दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार भारत देश ने पुनर्निर्माण, विकास और सम्पन्नता की प्राप्ति बहुत की, उसी प्रकार पत्रकारिता ने भी वृद्धि और समृद्धि प्राप्त की। अब जितना न पहले मशीनों पर खर्च किया जाता था, न पत्रकारों पर। लेकिन मशीनें तो नहीं बोल सकतीं, पत्रकारों को इसका उत्तर देना होगा कि जितनी उनकी आर्थिक अभिवृद्धि हुई उतना उचित और आवश्यक उनका प्रभाव देश की गतिविधियों पर क्यों नहीं है? पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार बढ़ा है, प्रभाव घटा है, वैसा-का-वैसा जैसा हाल कांग्रेस का हुआ है और देश के प्रयत्नों का रहा है।

एक, इनमें अपवाद हैं। दूसरे, जितनी चिन्ता पत्रकारों में अपनी परिस्थिति की है उतनी अन्य वर्गों में नहीं है। इन दोनों स्थितियों का लाभ हुआ है, लेकिन इसके लिए भरपूर बलिदान पत्रों और पत्रकारों को करने पड़ रहे हैं। ऊपर उन दिनों के समाचारपत्रों के समाप्त होने की बात आई। यह भी उतना ध्यान में नहीं आ पाता कि जिस तरह उन दिनों पत्रकारिता ने गणेश शंकर विद्यार्थी का बलिदान दिया, उसी तरह के बलिदान उसकी ओर से, संख्या में उससे कहीं ज्यादा अब भी हो रहे हैं। जो भी कष्ट, कंटक, संकट पत्र-पत्रकार उन दिनों सहते थे, उनसे ज्यादा आज के पत्रों और पत्रकारों को सहने पड़ रहे हैं। जो समृद्ध समाचारपत्रों में हैं उनमें त्याग भिन्न प्रकार का है उनमें लगे लोगों में से भिन्न व्यवसायों में कहीं अधिक अर्जन की क्षमता रखते हैं उनमें से ही विधायक सासद, मन्त्री

मुख्यमन्त्री, राजनेता, राजदूत बनते हैं। इस तरह पत्र-पत्रकारों की दो प्रकार की जातियाँ हो गई हैं—सुविधा भोगियों का साथ देकर स्वयं लाभान्वित होने वाले और उन मर्यादाओं और मूल्यों के लिए मरने वाले, खपने वाले, जिन्हें वे श्रेष्ठ और देश के लिए आवश्यक और कल्याणकारी मानते हैं।

परन्तु अर्थनीति का यह सिद्धान्त राजनीति और पत्रकारिता पर भी लागू होता है कि खोटे सिक्के ज्यादा होने पर अच्छे सिक्के छिप जाते हैं; वही हाल 'अच्छे' पत्रों और पत्रकारो का है। अब जो समाज और समय है, उसे तय करना है कि किस प्रकार की पत्रकारिता को उसे अपनाना है, किस प्रकार के पत्रकारों को उसे प्रोत्साहन देना है।

भारत भूमि बाँझ नहीं हुई है, परम प्रमुख पत्रकार और राष्ट्र के कर्णधार लोकमान्य तिलक का यह उद्घोष अभी भी उतना ही सच है। सच तो वास्तव में यह है कि इस भूमि से जो कुछ माँगा गया है, वही उसने दिया है। समाज स्वयं सिद्धान्तविहीन, अमर्यादित, अशोभनीय, निरंकुश, निन्दनीय होकर, उससे भिन्न प्रकार की पत्रकारिता की अपेक्षा नहीं कर सकता, न उसे भिन्न प्रकार की राजनीति प्राप्त हो सकती है।

परन्तु पत्रकारिता नकल करने के लिए नहीं, नकेल अपने हाथ में रखने के लिए होती है। वह औषधि तभी होती है जब बुराई और बीमारी ज्यादा होती है। ऐसे में उपचारक और औषधि को बुराई और बीमारी से भिन्न, उसका शमन करने में समर्थ होना होता है। बहुत समय से चला आ रहा है कि जहर जहर से मरता है और आजकल भी उसी रोग से उसकी औषधियाँ निकाली जा रही हैं, जिसका उन्हें दमन करना होता है, परन्तु कितना तपन, शोधन और परिवर्तन ऐसे विष और औषध को इसके लिए अपने में करना होता है!

पत्रों और पत्रकारों में इस बात की स्पष्टता का अभाव नहीं है कि देश तथा देशवासियों में क्या दूषण और दुर्गुण हैं, उनका दिन-रात उल्लेख ही तो उन्होंने अपना करतब बना रखा है। उन्हें सोचना यह है कि इसके उपरान्त भी वे दूषण और दुर्गुण दूर क्यों नहीं हो रहे। अगर उन दिनों के पत्रकारों को इस बात का श्रेय था कि उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम को वेग दिया तो आजकल के पत्रकारों को अपनी इस आलोचना और निन्दा को स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके होते हुए वे उद्देश्य सफलीभूत नहीं हो रहे, जिनके लिए स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा गया था और जिन्हें बाद में संविधान में अंगीकृत किया गया।

परिणाम दृष्टिकोण, व्यवहार और चरित्र से निर्मित होते हैं; सुविधाओं, सुखों, संरक्षणों से उनको दुगुना-तिगुना नहीं किया जा सकता, सिवा सट्टे के बाजार में। बाकी सब जगह, राष्ट्रकार्य में, राजनीति में, पत्रकारिता में तो त्याग और तपस्या के बिना उचित और पर्याप्त परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते, यही भारत का अतीतकालीन उपदेश और स्वतन्त्रता संग्राम का अनुभव है।

❑

पत्रकारिता के प्रभाव का प्रश्न

मेरे मन में कुलदीप नैयर के लिए बहुत स्नेह और सम्मान है और कप्तान दुर्गा प्रसाद चौधरी पुरस्कार और व्याख्यान के दिन तो वे आदरणीय अतिथि थे, अतएव उनसे असहमति व्यक्त करना अभीष्ट नहीं हो सकता। लेकिन मुख्यमन्त्री भैरोंसिंह शेखावत ने उनसे पहले बोलते हुए पत्रकारिता के प्रभाव का जो प्रश्न उठाया, उसके उत्तर में राजनेताओं की, विशेषत: उनकी जो शासकीय पदों को सुशोभित (?) करते रहे हैं, आलोचना करना पर्याप्त नहीं हो सकता। जो कुछ उनकी आलोचना क्या, उनकी निन्दा में कहा गया, वह सब उस स्वीकृति में सम्मिलित था जो राजनेताओं की ओर से उस दिन विवाद में भैरोंसिंह जी अपना प्रश्न उठाने के पहले उपस्थित कर चुके थे। उनके प्रश्न का आधार यह था कि राजनीतिक जीवन और प्रबन्ध में, और सामाजिक व्यवस्था में, और मूल्यों में जो भयावह गिरावट हुई है, उसे इस देश की पत्रकारिता रोकने में सक्रिय और सफल क्यों नहीं हुई?

श्री कुलदीप नैयर ने पत्रकारिता को दर्पण के रूप में प्रस्तुत किया, जैसा समाज और नेतृत्व है, वैसे समाचारपत्र और पत्रकार हो गए हैं। यह शामिल और कर लें कि राजनेताओ, और विशेषत: उनमें से जो शासनारूढ़ रहे हैं, उन्होंने जान-बूझकर अपने हित और स्वार्थ के लिए, अपनी प्रसिद्धि और उसके सहारे चुनाव जीतने के लिए, पत्रकारिता और पत्रकारों का अनुचित उपयोग किया है, और इसके लिए उन्हें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनेकानेक प्रकार के प्रलोभन दिए हैं। यह उस दिन नहीं कहा गया, यह भी बात है कि पत्रकारिता स्वयं देश की स्वतन्त्रता के बाद अच्छी, ऊँची आय का साधन बन गई है। सेवा और साधनों से, त्याग और परिश्रम के युग से निकलकर सुविधा और सुख के समय में आ गई है और उसमें जो-जो हैं, चाहे वे संचालक हों, सम्पादक हों, पत्रकार हों, परिश्रम और तकनीक प्रदान करने वाले हो, सबको वेतन और भत्ते इतने-इतने मिलने लगे हैं कि यह समृद्धि का व्यवसाय और व्यापार बनती जा रही है, बहुत कुछ बन गई है। ऊँचा पद जो पा जाते हैं, उनके लिए जितना कठिन उसी तरह का अन्य पद प्राप्त करना हो गया है, उतना ही कठिन जो पद प्राप्त है उसे छोड़ना होता जा रहा है और पत्रकारिता की प्रतिभा की समुन्नति के लिए दोनों बातें आवश्यक हैं, जो पद पर हैं, उन्हें जब आवश्यक और उचित हो, हटाने का अधिकार, और जो पद उपलब्ध हैं, उन तक उनके लिए सबसे उपयुक्त पत्रकारों की पहुँच। इस समय ये दोनों द्वार अवरुद्ध हैं, पत्रकार जितना अपने लिए संरक्षण पर जोर देने लगे हैं, उतने ही पद श्रेष्ठताविहीन व्यक्तियों के लिए आरक्षित होते जा रहे हैं, जैसे—जातिगत दृष्टि से, समूह में पूर्व-सेवा की दृष्टि से, स्वामित्व की दृष्टि से, अन्यत्र प्रभाव प्राप्त करने की दृष्टि से और अमुक-अमुक को नियुक्त करके जिसका अन्य-अन्य क्षेत्रों में बहुत नाम हो, जैसे

और प्रशासनिक सेवा लेकिन न पत्रकारिता का अभ्यास हो न उसकी परम्परा से सम्बन्ध हो

पत्रकारिता मात्र दर्पण नहीं है यद्यपि अपने इस रूप में उसकी ओर से भारत मे जो स्वत्व, स्वायत्तता और स्वतन्त्रता के लिए संग्राम हुआ, उसमें उसका अतिविशिष्ट, परिणामकारी और त्याग एवं तपस्या के यश से गौरवान्वित योगदान रहा। समुचित समाचार देना कठिनतम संकट को आमन्त्रण देना हो जाता था, और इसी के लिए समाचारपत्र, पत्रकार, सम्पादक और संचालक सभी को कठोरतम दण्ड और यातनाएँ दी जाती थीं। इसमे से पत्रकारिता ने प्रतिष्ठा अर्जित की, और जो विवाद उठा हुआ है, उसमें भी सबसे पहली यही बात है कि समुचित समाचार देना आज भी जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन है। इस दायित्व से अपने को विमुख करके समाचारपत्रों ने दर्पण के रूप में अपने कर्त्तव्य के निर्वहन में भी बहुत कोताही कर रखी है। इसका सबसे मुख्य प्रभाव यह है कि विभिन्न क्षेत्रो मे जो अनैतिक, अनुचित, भ्रष्ट और अन्यायी व्यवहार है, उनके वे समाचारदाता मात्र रह गए हैं, उन्हें उजागर करने का दायित्व वे बहुत ही कम निभा रहे हैं। संसद और विधानसभाओ मे, न्यायालयों में, जाँच कमीशनों में, संसदीय समितियों में, लेखा जाँच रिपोर्टों में, विशेषज्ञो के विवरणों में जो आता है, उसी की गूँज करके समाचारापत्र अपना गौरव नहीं बढा सकते—ये सब संस्थान अपनी सम्मिलित शक्ति और सुविधा से जो कर लेते हैं, वह सब उनसे पहले करके समाचारपत्र सुधार प्रक्रिया में जब नेतृत्व और सामग्री दें तब उनकी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो—जैसा वे स्वतन्त्रता के पहले करते थे, चूँकि इनमें से कई संस्थाएँ तब नहीं थीं और जो थीं, वे सब विदेशी सत्ता की सेवा और हितसाधना में लगी हुई थी। इनवेस्टीगेटिव जर्नलिज्म का दौर आया था लेकिन उसे एक्सप्लेनेटरी जर्नलिज्म में बदल दिया गया है, जो भी प्रयत्न और प्रतिभा बहुत चाहता है, और इसके भी अपने कष्ट और संकट हैं, परन्तु उस तरह की बात नहीं है जब हाथ में कलम के साथ-साथ अपना सिर भी हुआ करता था। जो सत्ता में हैं, उनके निरन्तर विरोधी बने रहने की बात की जाती है और भारत में समाचारपत्र और पत्रकार अधिकांश में अपना यह स्वरूप बनाये हुए हैं और प्रश्नोत्तर में उलझे दोनों—कुलदीप नैयर और भैरोंसिंह शेखावत—ने इस पर अभिमान भी प्रकट किया, परन्तु मुख्यमन्त्री का प्रश्न इससे भी आगे था। सब कुछ पत्रकारिता में वह है, जिसे पत्रकारिता चाहती और अपने लिए आवश्यक मानती है और भारत में पत्रकार अपना सम्मान और अधिकार सुरक्षित रखने में समर्थ रहे हैं और अब भी हैं, परन्तु जैसा समय, समाज और शासन, व्यक्तिगत चरित्र और नैतिक व्यवहार, अभाव और असमानता की समाप्ति, परस्पर मनोमालिन्य का और विभाजक वृत्तियों का अन्त हम सब चाहते हैं, उसे उपलब्ध करने मे, उसका सुख, संरक्षण और विश्वास बनाने में, पत्रकारिता सफल क्यों नहीं हुई? सब ओर गिरावट है, और कुलदीप नैयर ने इसकी भर्त्सना की और भैरोंसिंह शेखावत ने इससे इन्कार नहीं किया, लेकिन विचारवान व्यक्तियों के बीच, जो देश की समुन्नति, सुरक्षा और द्रुतगामी प्रगति चाहते हैं उनके बीच, उस गिरावट की निन्दा करने से काम नहीं चल सकता। इस गिरावट के रोकने के वास्ते क्या पत्रकारिता की ओर से किया जा रहा है? कुलदीप नैयर ने कहा कि सम्पादकों के बीच इस पर चर्चा हुई है कि पत्रकारिता को हो क्या गया है, लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि पत्रकारिता के लिए क्या किया जाए कि देश के समुचित और वांछित भविष्य के निर्माण में उसका निर्णायक और परिवर्तनकारी योगदान हो।

यह विचार का नहीं, योजना का विषय है। जो व्यवस्थाएँ पत्रकारिता में विकसित हो गई हैं, उनसे भिन्न स्थितियाँ निर्मित करना तत्काल सम्भव नहीं लगता। समस्त पत्रकारिता समुचित मार्ग ले, इसके लिए कुछ प्रकाश-स्तम्भ निर्मित करने होंगे। सहकारिता की पद्धति से ———— निकालकर कुछ प्रयत्न हुए, लेकिन वे चले नहीं। भारत की पत्रकारिता पूँजीपतियों के हाथों में जाती जा रही है और स्वयं पूँजीवादी बनती जा रही है

जिसे उस शाम के अध्यक्ष न्यायमूर्ति भगवती प्रसाद बेरी ने 'बैंक पास बुक प्रेमी पत्रकारिता' कहा। पूँजी से परिवर्तन नहीं हो सकता—व्यवस्था का साथ देना उसके लिए अनिवार्यता होती है, जिसमें पत्रकारिता का विरोधक्रम जितना निभ जाता है उतना चला लिया जाता है। राजनेता बहुत चतुर होते हैं, जिन पत्रकारों को कुछ देकर खरीद नहीं सकते, उन्हें मित्रता, प्रेम, पद और सम्मान देकर जितनी कम हो सके, उनकी कटुता कम करने की कोशिश में लगे रहते हैं। पत्रकारिता ऐसे में भी अपनी गरिमा निभाये हुए है, परन्तु यह न सन्तोष की बात है और न उस चुनौती का उत्तर है, जिसे बहुत ही दर्द भरे भाव से—देश की दुर्दशा हो रही है और पत्रकारिता क्या कर रही है—अपने सशक्त सम्बोधन में श्री भैरोंसिंह शेखावत ने प्रस्तुत किया।

दानशीलता का अभी भी भारत में आदर है और इसकी अपार सम्भावनाएँ हैं। एक विचार इन पंक्तियों के विकास के साथ-साथ उभर रहा है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो देश के सुधार, जागरण और नवनिर्माण में योगदान के लिए उत्सुक और उत्साही हैं, वे मिलकर ऐसे संस्थान का निर्माण करें जो कुछ समाचारपत्रों का, फिलहाल एक दैनिक, एक साप्ताहिक, एक मासिक का, और हो सके तो एक त्रैमासिक का भी, संचालन करे, उसके लिए पूँजी जुटाए लेकिन उससे कुछ लाभ प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं करे। एक बार विश्वसनीय व्यक्ति यह काम हाथ में ले लें तो पत्र-संचालन के लिए प्रतिभा और पूँजी की कमी नहीं रहेगी।

इन समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के समुचित विकास और निर्माण में चारों स्तर की—दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक पत्रकारिता की आवश्यकता है। जो भी काम करें, वे सब वेतन बिना काम करें, चाहे प्रबन्ध शाखा में हों, चाहे सम्पादकीय शाखा में। सुयोग्यता और सक्षमता के श्रेष्ठतम स्तर से चयन हो, द्वितीय श्रेणी की कतई स्वीकृति नहीं हो, परन्तु सब अपनी प्रतिभा, योग्यता, श्रम और समय का 'दान' करें। यह दान ही इस संस्थान का प्राण बन जाएगा। जो पत्रकारिता से प्रभाव चाहते हैं, उन्हें उसके लिए अपनी ओर से योगदान करना होगा। यह पत्रकारिता को समस्त कुप्रभावों से निकालना होगा। पत्रकारिता में सेवा का उत्कृष्ट उदाहरण होगा।

ऐसी पत्रकारिता के लिए समुचित प्रतिभा की कमी नहीं रहेगी। कुछ अनुभव और अवकाश प्राप्त व्यक्ति आएँगे, कुछ अनुभव और उन्नति प्राप्त करने के लिए आएँगे। कल्पना यह है कि स्वयं समृद्ध सज्जन भी आएँगे, समृद्ध परिवारों से आएँगे और ऐसे लोग भी आएँगे, जिनके जीविका-निर्वाह का प्रबन्ध दूसरे करेंगे। आरम्भ में कड़ी शर्त नितान्त दान और सेवा की रखनी होगी। आगे चलकर सेवाभावी संस्था बन सकती है, जिसमें जीवन-निर्वाह के लिए न्यूनतम लेकर लोग अपना जीवन दें। स्वतन्त्रता के पहले भारत में ऐसी संस्थाएँ थीं, पूना और लाहौर की बहुत प्रसिद्ध थीं; मद्रास, वाराणसी तथा कुछ अन्य नगरों में भी। और स्वतन्त्रता की सुरक्षा और उससे सुपरिणाम प्राप्त करने के लिए भी ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएँ चूँकि भारत की सेवा कर चुकी हैं, इसलिए इन्हें भारत मे असम्भव नहीं बताया जा सकता। आवश्यकता आयोजन और संकल्प की है।

एक-दो संस्थाएँ ऐसी सफल हो जाएँ तो ऐसी संस्थाओं की शृंखला बन सकती है। वीरविहीन यह भूमि कभी नहीं रही और अब भी नहीं है।

ऐसी व्यवस्था से संचालित पत्रकारिता का लक्ष्य एक ही होगा—देश की समुन्नति और उसके लिए वांछित शुद्धता और किसी भी प्रकार के समझौते करना इसके लिए आवश्यक नहीं होगा। पत्रकारिता में प्रतिभा के साथ परित्याग, कष्टभोग और संकटशीलता जुड़ी हुई है, उससे परे यह सेवाभावी पत्रकारिता नहीं रहेगी, उसमें अपने विशिष्ट प्राण और प्रण होंगे। इसके लिए अपार सम्भावनाएँ हैं।

☐

समाचारपत्रों का सामाजिक और सामयिक दायित्व

भारत की तत्कालीन प्रधानमन्त्री जो कुछ कहती रही थीं, वही-की-वही बातें ब्रिटेन की उस समय की प्रधानमन्त्री ने भी कही थीं। इसे श्रीमती गाँधी का श्रीमती थैचर पर जादू नही माना जा सकता। दोनों प्रधानमन्त्रियों को अलग-अलग देशों और सर्वथा विपरीत वातावरण में जो कुछ अनुभव होता रहा, उसमें आधारभूत समानता थी। भारत की तरह वही की वही स्थिति ब्रिटेन में थी, तभी श्रीमती थैचर को भारत के लिए सर्वथा परिचित उल्लेख करना पड़ा।

'भारत महोत्सव' के अवसर पर आयोजित हमारे देश की वैज्ञानिक परम्पराओं और उपलब्धियों की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन करते हुए श्रीमती थैचर ने दो बातों का विशेषतः उल्लेख किया था—तकनीक और विज्ञान के क्षेत्र में भारत में प्रशिक्षित विशेषज्ञों की संख्या को संसार में तीसरा स्थान प्राप्त हो गया है। दूसरे, कृषि के क्षेत्र में भारत में अत्यन्त असाधारण विकास हुआ है।

इन दोनों तथ्यों की ओर ध्यान दिलाकर श्रीमती थैचर ने कहा कि इस प्रकार की उपलब्धियों के विषय में जानकारी कम लोगों को मालूम हो पाती है। "इस प्रकार के अच्छे समाचार समाचारपत्रों में प्रमुख शीर्षक नहीं प्राप्त कर पाते। मैं कई बार सोचती हूँ कि लोग तो यही सिद्धान्त मानकर चलते हैं कि जो कुछ बुरा और खराब है, वही समाचार है। वैज्ञानिक प्रयत्न का यह संदेश नहीं है। हमें सफलताओं की दुंदभी बजानी चाहिए।"

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की ओर अभिमुख होकर श्रीमती थैचर ने कहा—"कदाचित् इस समस्या से आप भी अवगत हैं।" यह तो जैसे सचमुच कोयला-खान को कोयला ले जाना हो गया। भारतीय समाचारपत्रों से यही अनुरोध तो श्रीमती गाँधी करती रही थीं।

एक बार स्वर्गीय जवाहर लाल नेहरू से भाखड़ा-नाँगल बाँध में भ्रष्टाचार की बहुत शिकायत की गई। उन्होंने कहा कि जिन्होंने अनुचित पैसा लिया है, वह तो जल्दी ही बह जाएगा, यह विशालकाय बाँध सदा रहेगा। यह जो बुराई है उसकी उपेक्षा करने की बात नहीं है, बात जो उपलब्धि हुई उसके, और उसके लाभ के आकलन की है, उसकी ओर ध्यान दिलाने की है, जिससे नकारात्मक की जगह निर्माणकारी वातावरण बने। उपलब्धि प्राप्त करने का सबसे कारगर तरीका प्राप्त उपलब्धि की प्रशंसा ही हुआ करता है, इसे श्री नेहरू जानते थे। इसकी ओर ही श्रीमती गाँधी ध्यान दिलाती रहीं और यही बात श्रीमती थैचर ने कही थी।

इसे एक और तरह भी देखा जाना चाहिए। स्वतन्त्रता के बाद बहुत त्याग करके, कष्ट सहकर जाने कहाँ कहाँ से बचत करके और धन प्राप्त करके भारत ने बहुत बडी रकम निर्माण और विकास कार्यों पर लगाई है हमारी वैज्ञानिक एव तकनीकी अनुसधान और

प्रयोगशालाओं पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये व्यय हो रहे हैं। इनकी उपलब्धियों की जानकारी सर्वसाधारण को निरन्तर मिलनी ही चाहिए, चूँकि उनसे प्राप्त कर को ही इन पर व्यय किया जा रहा है। इन 'आधुनिक मन्दिरों' के समाचार तभी प्रकाशित होते हैं जब इनमें कोई असाधारण विस्फोट होता है या अत्यन्त असाधारण व्यक्तित्व का आगमन होता है।

जिसे निजी क्षेत्र कहा जाता है, उसके समाचार प्रकाशित करना तो अपराध अथवा आर्थिक क्षति माना जाता है। यह भुला दिया जाता है कि राजकीय एवं निजी वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से ज्यादा अंश में इनमें भी धन जनसाधारण का ही लगा हुआ है।

लोकप्रिय समाचारपत्रों में आधे से अधिक स्थान विज्ञापनों को दे दिया जाता है। जो बचता है, उसका बड़ा भाग सामयिक घटनाएँ और राजनीतिक गतिविधियाँ ले लेती है। अनुपात इस प्रकार का बैठाना होगा कि राष्ट्रीय बजट में धन का विनियोजन जिस अनुपात मे हो, उसी अनुपात में समाचारों का संकलन और प्रकाशन किया जाए। राज्य स्तरीय समाचारपत्रों को साथ-साथ अपने-अपने राज्य के आय-व्यय का ध्यान रखना होगा।

समस्याएँ आय में भी हैं, व्यय में भी हैं, दोनों और व्यतिक्रम और भ्रष्टाचार होते रहते हैं। यदि ये 'बुरे' समाचार भी बजट के सन्तुलन को स्वीकार कर लें तो उन्हीं विषयो को स्थान प्राप्त होगा जिन पर राष्ट्र की ज्यादा लागत लग रही है। यह भी एक सेवा होगी। लेकिन सामान्यतः होता यह है कि जो मामला सामने आ गया, उसी को प्रमुखता प्रदान कर दी।

समाचारपत्रों में जिस सामग्री को प्रमुखता प्राप्त होती है, उसमें राष्ट्रीय प्राथमिकताओं का प्रतिबिम्बन नहीं होता, एक शिकायत तो यह है। दूसरी यह कि समाचारों का संकलन और प्रकाशन व्यवस्थित और रचनात्मक दृष्टिकोण से नहीं होता। प्रतिदिन तो यह सम्भव नहीं है लेकिन सालभर के अंकों के पढ़ने वाले को यह मालूम होना ही चाहिए कि सारे राष्ट्र ने मिलकर कितना व्यय किस कार्यक्रम पर किया, उससे क्या लाभ हुआ और किन गलतियों से वांछित लाभ नहीं हो सका।

आदमी का सामान्य जीवन अभी भी रोटी-धोती से बँधा है, निवास और प्रवास ने भी प्राथमिकता प्राप्त कर ली है, स्वास्थ्य और शिक्षा भी जीवन के अनिवार्य अंग बन गए है। राष्ट्रीय दृष्टि से सुरक्षा और आयात-निर्यात का विशेष महत्त्व है। विदेशों में केवल मन्त्रिमण्डल नहीं उलटते-पलटते। वहाँ अनेक अनुकरणीय आयोजन होते रहते हैं, जैसे—कर्मचारी बिना उत्पादन को क्षति पहुँचाए विरोध-प्रदर्शन कर लेते हैं अथवा वैकल्पिक ऊर्जा के अनेक उपाय विकसित कर लिए गए हैं। इनके समाचार न प्राप्त होते हैं, न प्रकाशित होते हैं।

जो कुछ प्रकाशित होता है, वह राष्ट्रीय एकता के अनुरूप नहीं है, यह भारत की अपनी समस्या है। देश बड़ा है, बहुत विविधता है, और संचार एवं यातायात साधनों की ही कमी नहीं है, भावात्मक एकता में भी बहुत कमी है। तीर्थस्थल सीमेंट की तरह हमें जोड़े हुए हैं लेकिन धार्मिक भावना के ह्रास के साथ-साथ यह सुयोग भी मंदा पड़ रहा है। परन्तु बिजली, सिंचाई, संचार, यातायात, तकनीक, सुरक्षा, अनेकानेक ऐसे क्षेत्र और साधन हैं जो हमें नई तरह जोड़ने में लगे हैं राष्ट्रीय एकता के इन साधनों को भी विपरीत परिस्थितियों में ही प्रस्तुत किया जाता है। चूँकि विकसित [illegible] में भी ' [illegible] तभी बनते हैं जब

इनके विषय में विवाद उठते हैं। इनके विचार, संकल्प और निर्माण की हर एक अवस्था, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, आवश्यक समाचार होती है।

यहाँ दृष्टिकोण का प्रश्न आता है। हमें अनुकूलता प्राप्त करनी है या प्रतिकूलता? समाज के सम्बन्ध में एक सुस्थापित सिद्धान्त है कि उससे वही मिलेगा, जो उससे माँगोगे। भारत का अतीत, दूर का भी और स्वतन्त्रता संग्राम का भी, ऐसे उदाहरणों से ओत-प्रोत है जिन पर हम वास्तविक गर्व करते हैं। इन उदाहरणों को साक्षात् करने के लिए किसी दूसरे देश से लोग नहीं आए थे। उन दिनों जहाँ समाचार छप सकते थे, उनके ही छपते थे, कोई 'अच्छा' अखबार सरकार के सहायकों और पिट्ठुओं की खबरें नहीं छापा करता था। आज लोग 'बुराई' को ही ज्यादा छापना चाहते हैं तो चारों ओर अवश्य बुराई ही दिखाई देगी।

भारत के वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ विदेशों में जाकर जो सफलताएँ प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें यदा-कदा समाचारपत्रों में स्थान मिल जाता है, लेकिन कितने जानते हैं कि भारत के वैज्ञानिकों ने उन प्रयोजनाओं में प्रसिद्धि प्राप्त की है जहाँ विदेशी विशेषज्ञ विफल हो गए थे। कई खानों पर ऐसा काम हुआ है, लेकिन सफल भारतीयों के नाम ढूँढना चाहें तो उतनी ही खोज करनी पड़ेगी जितनी इन विशेषज्ञों को मूल्यवान धातुओं की करनी पड़ रही है।

समस्या कठिन है। प्रश्न समाचारपत्रों का स्वरूप बदलने का ही नहीं, पाठकों का मानस बदलने का, उनकी अपेक्षा में सुधार करने का भी है। ऐसी पत्रकारिता विकसित करने का भी है जो रूखे-से-रूखे विषय को भी रुचिकर बनाकर प्रस्तुत करे। सामान्य से अधिक लागत इस प्रकार के समाचार संकलित करने और लिखने पर पड़ेगी, इसका भी प्रश्न है ही।

परन्तु ऐसे सब प्रश्न राष्ट्र-निर्माण से आबद्ध हैं। मूल प्रश्न यह है कि समाचारपत्र इसके प्रति कितना समर्पण-भाव रखते हैं। यह तात्कालिक और राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न है, क्योंकि समाचारपत्रों से ही निर्माणकारी अथवा नकारात्मक वातावरण बना करता है, और हम विकास की ऐसी अवस्था में हैं कि मार्ग की किसी बाधा को बरदाश्त नहीं किया जा सकता। जिस चेतना और चिन्ता से श्रीमती गाँधी प्रकाशित समाचारों पर विचार प्रकट करती रही थीं, और जिस व्यथा और वेग से श्रीमती थैचर ने इसी विषय पर कहा, उसे समय रहते समझा जाना चाहिए। भारत और ब्रिटेन दोनों देश ऐसे हैं जिनमें समाचारपत्रों का और उनकी स्वतन्त्रता का भरपूर सम्मान है, परन्तु हर एक सम्मान समुचित आधार पर ही टिक सकता है।

समाचारपत्रों का स्वामित्व और सम्पादन जिनके हाथ में है, उन्हें अपने स्वामित्व और अधिकार के बीच यह तथ्य भी अंगीकार करना होगा कि हो सकता है अनेक निजी उद्योगो की तरह उनके समाचारपत्रों में भी अधिकांश पूँजी जनसाधारण की ही लगी हो और यह तो सत्य है ही कि जिस स्वतन्त्रता की सम्पादक दुंदभी बजाते हैं, वह उन्हें उस संविधान से प्राप्त है, जिसे भारतीय जनता ने बड़े त्याग-बलिदान के बाद प्राप्त किया है, और जिसके संरक्षण के लिए उसे ही समय आने पर सर्वोत्कृष्ट बलिदान करने होंगे। समाचारपत्रों के स्वामी और सम्पादक सर्वसाधारण के प्रति अवश्य पूरी तरह उत्तरदायी हैं और इसी को उनका सामाजिक दायित्व कहा गया है। यहाँ उल्लेख सामयिक दायित्व का भी है।

❑

पत्रकारिता : परिक्रमा या प्रदक्षिणा

एक ही प्रक्रिया के लिए दो शब्द हैं—परिक्रमा और प्रदक्षिणा। परिक्रमा के साथ केवल क्रम है—चारों ओर घूमना। प्रदक्षिणा, जिसके चारों ओर घूमा जाता है, उसके लिए पहले अपार आदर निर्धारित करती है—"किसी को दाहिनी ओर करके आदर और भक्ति से उसके चारों ओर घूमना।" 'शुभ, अनुकूल, समर्थ, योग्य' उसे होना चाहिए, जिसका प्रदक्षिणा से समादर किया जाता है। 'दाहिनी ओर स्थित' जब उसे कहा जाता है, अपने आप अपने से अधिक सम्मान उसके लिए निर्धारित हो जाता है।

यहाँ यह 'आदर' ही मापदण्ड है। जो आदर के योग्य नहीं हो, उसके चारों ओर घूमा ही नहीं जा सकता। जो ऐसा हो, उसकी प्रदक्षिणा नहीं की जानी चाहिए।

पत्रकारिता को प्रतिच्छाया कहा गया है। जैसी स्थिति है, उसका सांगोपांग वर्णन। आरोप यह है कि भारतीय पत्रकारिता ने देश की स्वतन्त्रता के पहले पचास वर्षों में इतना भी परिपूर्णता से नहीं किया, और वह ऐसों को 'शुभ, अनुकूल, समर्थ, योग्य' सिद्ध और प्रतिष्ठित करने में जुटी रही, जिन्हें लोकतन्त्र के परिणामस्वरूप बने इस देश के स्वामियो ने, देशवासियों और मतदाताओं ने, इस सबके विपरीत निर्धारित किया।

ऐसे राज्य में ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, जिसमें लगातार आठ साल जिस दल का शासन रहा और उसे प्रसिद्ध, प्रभावी, प्रतिष्ठित स्वीकार कराये जाने के प्रयत्न इस अवधि मे निरन्तर निपुणता के साथ होते रहे, उसमें उस दल के ज्यादातर उम्मीदवार 1998 में हुए लोकसभा निर्वाचनों में मतदाताओं द्वारा परास्त कर दिए गए। इस शासन के, उसके चतुर मुख्यमन्त्री के, उनकी जी-हुजूरी में लगे शासनाधिकारियों के और इनकी हथेलियों से दाना चुगने वाले सभी पत्रकारों और समाचारपत्रों के पराक्रम एक निर्वाचन ने निष्फल कर दिए।

और अधिक उपयुक्त उदाहरण, और जो कहा जा रहा है, उसके लिए प्रबलतम तर्क यह है कि जिस दल के हाथों में देश का शासन स्वतन्त्रता के 50 में से प्राय: 45 वर्ष रहा, उसका पूर्ण परित्याग मतदाताओं ने इस बार के निर्वाचनों में कर दिया है—जो परोक्ष प्रभाव उसका 1996 के मतदान से बना था, उसे भी छोड़ने को उसे विवश किया गया है। चक्रवर्ती राज्य से चारों खाने चित्त यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पचास वर्षों की परिक्रमा का परिणाम रहा है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से भारतीय पत्रकारिता का सहवास भारतीय स्वतन्त्रता के पहले का है। सच यह है कि भारत में पत्रकारिता उभरी ही देशवासियों की सुधार, स्वायत्तता और स्वतन्त्रता की अभिलाषाओं और प्रयत्नों की अभिव्यक्ति और समर्थन-सहयोग की तरंगों में से। तरंग इसलिए कि आरम्भ से ऐसे पत्र-पत्रकार थे, जो इन वृत्तियों के प्रतिरोधी थे और सदा साथ उन्होंने उनका दिया जो ग्रेट ब्रिटेन से आकर इस देश पर आधिपत्य किए हुए

थे, इसके सभी लोगों और साधनों का शोषण कर रहे थे। स्वतन्त्रता के बाद चूक यह हो गई कि उसके बाद आधिपत्य जिनका हुआ, उनका प्रायः 'सदा साथ' भारत की अधिकाश, सम्पन्न, सम्पुष्ट और इन अर्थों में सफल पत्रकारिता देती रही। लोकतन्त्र के कारण आधारिक भेद जो आया कि देशवासी इस देश के स्वामी हो गए, उनकी पहचान, परिचर्या और प्रतिष्ठा भारत के पत्रकारों ने नहीं की। पत्रकारों से यहाँ अभिप्राय उन्हीं से अधिक है, जिनके हाथों में पत्र-पत्रिकाओं का स्वामित्व और संचालन आया—सक्रिय पत्रकार उनसे अधिकतम लाभार्जन में और उसके अनुरूप अपने को निर्मित और सिद्ध करने में लगे रहे। उन्होंने अपने लिए श्रमजीवी अलंकरण ग्रहण कर लिया। इसमें वह तत्त्व आता ही नहीं, जो पत्रकारिता को प्राण, अनुसरण कराने की क्षमता और 'शुभ, अनुकूल, समर्थ, योग्य' बनाने की शक्ति देता है।

इसे यों देखें! प्रेस कौंसिल के अध्यक्ष न्यायमूर्ति पी.बी. सामन्त ने अपनी प्रकाशित होते ही प्रसिद्ध हो गई पुस्तक 'मास मीडिया इन कनटेम्पोररी सोसाइटी' में कहा है कि "देश के समाचारपत्रों का बड़ा और महत्त्वपूर्ण भाग, निर्णायक और संकटशील मोर्चों पर, समाज के लिए विफल ही नहीं रहा है, वह स्वयं उससे की गई अपेक्षाओं के विपरीत व्यवहार करता रहा है और उसने अपने उद्देश्यों के साथ विश्वासघात किया है।" इस पुस्तक के विमोचन के तीन दिन पहले दिल्ली में पत्रकारिता के विशेषज्ञों ने यह अभिमत प्रकट किया कि राजनीतिज्ञों के बढ़ते हुए असर और शक्तिशाली उद्योगपतियों की चालबाजियो से मीडिया की विश्वसनीयता तेजी से क्षरित हो रही है और उसकी ओर से नकारात्मक घटनाओं पर केन्द्रीकरण के कारण पंगु होता जा रहा लोकतान्त्रिक ढाँचा और भी निर्बल हो रहा है।

जो पत्र-पत्रकार स्वतन्त्रता संग्राम के समय में उस समय की सत्ता के साथ थे, वे तो उसके साथ समाप्त हो गए, जो बचे उन्हें स्वतन्त्रता के संस्कार अपनाते देरी नहीं लगी। जो उद्घोषित रूप से स्वतन्त्रता संग्राम के समर्थक और सहायक थे, उनका 'बड़ा और महत्त्वपूर्ण भाग' इसकी ईर्ष्या में आ गया कि उसके साथ-साथ स्वतन्त्रता संग्राम के संकट सहने वालों में से कुछ स्वतन्त्रता की सत्ता भोगने लगे और वे दोयम दर्जे के भोग-उपभोगकर्त्ता रह गए। इस झिड़क और झटके ने 'सेवाभावी' और त्यागी-बलिदानी पत्रकारों-पत्रों को जिनके हाथों में सत्ता आई, उनका पिछलग्गू बना दिया और उन्हीं की तरह वे भी उचित-अनुचित की चिन्ताएँ किए बिना स्वार्थ-साधना में जुट गए। देश की राजनीति में अपराधीकरण आया तो देश की पत्रकारिता में भी अपराधीकरण आया। देश की राजनीति पथभ्रष्ट हुई, उसकी विश्वसनीयता भंग हुई तो यही दशा देश की पत्रकारिता की भी हुई। जड़ की बात यह है कि जिसका साथ दोगे, उसके दोषों से बचा नहीं जा सकता।

कहा जा रहा है—राजनीति कहाँ जा रही है! राजनीति पर अतिशय विश्वास, निर्भरता और उसका पूरा साथ ही दोषकारी और विनाशकारी सिद्ध हुआ है। भारत की स्वतन्त्रता के बाद भारत की राजनीति ने वही रूप लिया जो भारत के शास्त्रकारों ने शताब्दियों पहले उसका वर्णित किया था—वारांगना, अपने हित और लाभ के लिए दूसरों के इशारों पर नाचने वाली। इसी से कमाई करने वाली।

पत्रकारिता की आधुनिकता में यह आया है कि पढ़ना-लिखना निष्प्रयोजन है, कम-से-कम भारतीय ज्ञान निरर्थक है भारत की बौद्धिकता पर आधिपत्य जो अंग्रेजों के शासन

का लक्ष्य था, उसकी अधिक प्राप्ति भारतीय पत्र-पत्रकारों पर ही परिलक्षित होती है। भारत से पत्रकार पर्यटन और प्रशिक्षण के लिए गए तो पश्चिम की ओर, भारत की पत्र-पत्रिकाओ मे उद्घोष और उद्धरण प्रकाशित होते हैं तो पश्चिम के विशेषज्ञों और समाचारपत्रों के। यही नहीं, जब लेखन को सबल बनाना होता है, उदाहरण और उपयोग पश्चिम के ही दर्शाए जाते हैं। पश्चिमीकरण भारत की पत्रकारिता का प्रारब्ध बना लिया गया है।

स्वतन्त्रता से देश का स्वामित्व ही देशवासियों के हाथों में नहीं आया है, जिसे वे बार-बार निर्वाचनों के माध्यम से सुप्रकट कर चुके हैं, उनके हित ही सर्वोपरि हो गए हैं। देशवासी सबल, सुखी, सन्तुष्ट और अपने प्रयत्नों में सफल हों, इसके लिए ही देश की समस्त शक्तियों और साधनों का उपयोग हो, यही स्वतन्त्रता की वांछित परिणति होती है, होनी चाहिए।

पचास साल बाद देश-देशवासियों की दुर्दशा पर अधिक अंकन आवश्यक नहीं है, परन्तु जब यह अभिमान किया जाता है, फिर न्यायमूर्ति सावन्त के अनुसार कि पत्र-पत्रकार ही राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य-निर्धारण करते हैं और निर्णय-प्रक्रिया को वे ही प्रभावित करते हैं, तो उसके परिणामों से वे अपने को पृथक् नहीं कर सकते। स्वतन्त्रता के पहले पचास सालों में देश-देशवासियों की जो दशा हुई है, उसके लिए पत्र-पत्रकार भी दोषी हैं। इतना ही नहीं, जो दुर्दशा सबसे प्रमुख राजनीतिक दल की इन वर्षों में हुई है, उसके दायित्व से भी पत्र-पत्रकार अपने को नहीं बचा सकते। कैसा उन्होंने उसका साथ दिया, कैसी उसकी गतिविधियाँ प्रकाशित कीं, कैसी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई! किसी ने भी नारा बुलन्द किया हो—'इन्दिरा इज इण्डिया!', इसे प्रचलित और प्रतिष्ठित तो पत्रकारों-पत्रों ने ही किया।

पत्रकारिता से इस तरह दोहरा नुकसान हुआ। सत्ताधारी उसके समर्थन के उपरान्त भी सत्ताच्युत हुए, उसके प्रयत्नों और प्रचार से उन्हें पुनर्निर्वाचन का लाभ प्राप्त नहीं हुआ। उनके शासन संचालन को ऐसी दोष-दृष्टि, आलोचना और निन्दा, नहीं मिलती रही कि ऐसी सत्ता-हानि नहीं होती। सत्ताधारियों की स्वच्छन्दता, क्षमताहीनता, व्यवहारहीनता, चरित्रहीनता, भ्रष्टवृत्ति इतनी बढ़ती गई कि वह उन्हें ले डूबी और देशवासियों के स्वतन्त्रता संग्राम के सपने और संविधान के आश्वासन अधूरे ही बने रहे।

हम सब कुछ गँवा बैठे हैं, तभी दूसरे स्वतन्त्रता संग्राम के आह्वान उठ रहे हैं। भारत के पत्र-पत्रकारों के लिए फिर से अवसर आया है। दुर्भाग्य यह है कि पत्र-पत्रकारों पर न 'राजनीतिज्ञों का बढ़ता असर' कम हो रहा है, न वे 'शक्तिशाली उद्योगपतियों की चालबाजियों' से अपने को मुक्त कर पा रहे हैं। अपनी विश्वसनीयता की ही नहीं, अपनी गिरती छवि और प्रतिष्ठा की भी उन्हें चिन्ता नहीं है। प्रेस कौंसिल की ओर से इन्हीं दिनो में दो आवाज़ें उठी हैं—(1) समाचारपत्रों के सम्बन्ध में जो उसका अभिमत बनता है, उसे सम्बन्धित समाचारपत्र में प्रकाशित कराने का उसे अधिकार होना चाहिए। (2) पत्र-पत्रकार अनुचित सुविधाएँ हस्तगत नहीं कर सकें, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए। इसके समर्थन में जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे अधिक कलंककारी कुछ भी भारतीय पत्रकारिता के लिए नहीं हो सकता

इसकी चिन्ता से भी अधिक आवश्यक यह हो गया है कि भारतीय पत्रकारिता राजनीति से अपने को मुक्त करके प्रजानीति अपनाए और यह अलग से आवश्यक है कि उसमें स्वामित्व की बढ़ती भयंकर धौंस की जगह प्रजातन्त्र का प्रादुर्भाव हो। सीधी-सी बात है—प्रजातन्त्र से विमुख तत्त्व प्रजातन्त्र की रक्षा नहीं कर सकता।

यह कहने में जितना आसान है, व्यवहार में उससे कहीं ज्यादा कठिन है। समाचारपत्रों के स्वामित्व पर नियन्त्रण और परिवर्तन के जो प्रयत्न अब तक हुए हैं, निष्फल ही रहे हैं। उद्योगों में खुलावट के माहौल में समाचारपत्रों के स्वामित्व को परिसीमित करना कठिनतम होता जा रहा है। इस बारे में सक्रियता से पुनर्विचार हो, यही यहाँ कहा जा सकता है।

परन्तु यह पत्रकारों के साथ-साथ पत्र-स्वामियों, संचालकों के भी हित में है कि पत्रकारिता राजनीति की जगह प्रजानीति अपनाए। इसका एक खण्डनात्मक पहलू है—जो कुछ सर्वसाधारण के हित के विरुद्ध है, उसे होने ही नहीं दे। जिस तरह अँधकार को सूर्य दूर करता है, समाचारों के प्रकाश से अनाचार-दुराचार की समाप्ति होनी चाहिए। ऐसा संरक्षण समाचारपत्र देंगे तभी उनका सम्मान बढ़ेगा।

परन्तु कोरे सम्मान की बात नहीं है। भारत की स्वतन्त्रता का यह रचनात्मक और उत्साहकारक पहलू है कि कम-से-कम पन्द्रह करोड़ भारतवासी शिक्षित भी हुए हैं और सम्पन्न भी हुए हैं। इनका भी अल्पांश ही समाचारपत्र अपना रहा है और करोड़ों जो अभाव, आतंक, अभिशाप और अँधकार में जीवन-यापन को विवश हैं, उनसे तो पत्र-पत्रकार सब दूर ही हैं।

पत्रकारों-पत्रों ने जो उपर्युक्त करोड़पति हैं, उनकी देखभाल आरम्भ कर दी है। इससे निरा उपभोक्तावाद पत्रकारिता में भी प्रतिष्ठित होने लगा है। फिर कहने की बात है, यह 'शुभ, अनुकूल, समर्थ, योग्य' नहीं है। यह लाभ देश के अधिकांश भाग को मिले, इसके लिए रचनात्मक पत्रकारिता का प्रारम्भ करना होगा। विशेषज्ञों द्वारा 'नकारात्मक घटनाओं पर केन्द्रीकरण' पर तो आपत्ति की गई है लेकिन सकारात्मक पत्रकारिता का अभ्यास और आदर अतिकठिन बना दिया गया है। प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित पत्रकार पत्रकारिता में सृजनशीलता की धारा का प्रादुर्भाव अव्यवहारिक मानते हैं। पत्रकारिता समालोचना और असाधारण की प्रस्तुति से मनोरंजन के लिए ही है, ऐसी धारणा हो गई है। इस समय पत्रकारिता के लिए नई विधा, नई परम्परा नहीं, निपुणता की आवश्यकता है। जो नहीं होना चाहिए उसके लिए दुत्कार से अधिक जो होता है, उस उपलब्धि की समालोचना और सराहना जरूरी है, जिससे देश का वातावरण और देशवासियों का स्वभाव ऐसा सृजनशील और रचनात्मक बने कि भारत को 21वीं शताब्दी के राष्ट्रों में प्रथम पंक्ति प्राप्त हो। यह भारत की नियति ही नहीं है, इसी के अनुरूप भारत में और भारतवासियों में शक्तियाँ हैं। उनके प्रकाशन और प्रोत्साहन से पत्रकारिता अपने को प्रतिष्ठित कर सकती है और उन आरोपों से अपने को मुक्त कर सकती है, जिन्हें विगत पचास वर्षों के विश्लेषणों के रूप में न्यायमूर्ति सावन्त ने प्रस्तुत किया है।

❑

विफलताएँ जो बलवती हो गईं

जो युद्ध शस्त्रों से लड़ा जा रहा था, उसके समाचारों से सभी प्रसार साधन भरे रहते थे और उसके परिणाम भी प्रतिदिन सामने आ रहे थे, परन्तु इस महाआक्रमण और महाविनाश के बीच में भी जो संघर्ष अलग से हो रहे थे, वे कम ध्यान देने योग्य नहीं थे—एक तरह से तो उन्हीं का सारे संसार पर ज्यादा असर होगा।

जितना महत्त्व प्रसार के साधनों का और सूचना के अधिकार का पिछले वर्षों मे प्रतिपादित हुआ है उतने ही सबल, आधुनिक उपकरणों से समर्थ और प्रसार में सर्वव्यापक ये साधन हुए, जिनका मूर्धन्य स्वरूप यह है कि जो इराक में होता था, वह साथ-साथ सब कहीं सुना और देखा जा सकता था, दिल्ली और देश के अनेक नगरों में भी। प्रसार साधनों की सचेष्टता और सामर्थ्य की यह ऐसी सफलता थी, जिससे सचमुच सभी चमत्कृत हुए।

परन्तु ये सब साधन, उनको संचालित करने वाले, वास्तव में अपनी असामर्थ्य, अपनी विफलता पर रो रहे थे। खाड़ी युद्ध में पाँच सौ से अधिक संवाददाता मौजूद थे, उनके पास जानकारियाँ प्राप्त करने और उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र पहुँचाने के अपूर्व साधन थे और सब अपनी जान खतरे में डालकर अपना धर्म निभाने के लिए कृत-संकल्प थे। उनके जो संगठन है—समाचारपत्र, रेडियो केन्द्र, टेलीविजन प्रतिष्ठान आदि—उन्होंने अपनी ओर से व्यय करने में कोई कोताही नहीं की थी, परन्तु इन सबको, इस सबको, मिलकर एक शब्द भी अपना देखा, अपनी समझ से भेजने में सफलता नहीं मिली। युद्ध के जो दोनों पक्ष थे—इराक और अमेरिका तथा उसके साथ लड़ने वाले, वे जितनी अनुमति देते थे, उतने ही समाचार, जिस रूप में वे निर्देशित करते थे, युद्ध क्षेत्र के बाहर जाने दिए गए। आधुनिक तकनीक से लड़ी जा रही लड़ाई में आधुनिक तकनीक से की जा रही पत्रकारिता परास्त हो गई।

पत्रकारिता की पराजय वैसे तो इराक युद्ध के आरम्भ से पहले हो चुकी थी। हमारे देश के जो दो पत्रकार इराक पर आक्रमण के दिन बगदाद में मौजूद थे, और दोनों का बड़ा नाम भारतीय पत्रकारों में है, इन तक ने स्वीकार किया है कि उन्हें उस समय युद्ध आरम्भ होने की आशंका नहीं थी। अपने रात के सोने के कपड़ों में उन्हें अपने होटल के कमरों से भागना पड़ा। यही नहीं जो विज्ञ, विद्वान, ज्यादा पहुँच वाले पत्रकार, विश्लेषक और सम्पादक हैं, सब समझते थे कि किसी-न-किसी तरह इराक की लड़ाई टल जाएगी। यह आशा युद्ध की विभीषिका से बचाव की अभिलाषा में अधिक मानी जाए तो भी यह पत्रकारिता के तराजू को बेकार करती है। इराक का दृढ़-निश्चय, अपने को मिटाने का इरादा, अपने को बचाने की तैयारी, और सबसे ज्यादा अमेरिका जैसे देश को धमकी देने का साहस और उसे आक्रमण और स्वरक्षा के संकल्प और प्रबन्ध से सत्य सिद्ध करने की शक्ति पूरी तरह कहाँ पहुँचने वाले पत्रकारों के भी आभास में नहीं आई थी इराक का युद्ध हुआ यह जहाँ संसार

की कूटनीति की पराजय थी, वहीं पत्रकारिता की क्षमता और उसके उद्देश्य की भी यह पराजय थी।

पत्रकारिता, वह किसी देश की हो, चाहे इस संदर्भ में इराक और अमेरिका की, कभी यह अपना यत्न और लक्ष्य नहीं छोड़ सकती कि किसी के बीच युद्ध हो, और जो युद्ध पर आमादा होते हैं, उन्हें उसके अवश्यम्भावी विनाश से अवगत और भयाक्रान्त करना भी पत्रकारिता का कर्त्तव्य होता है। संसार का नाश जिस प्रक्रिया से हो, उसे रोकने के लिए ही पत्रकारिता होती है। इस समय तो युद्ध-शक्ति ऐसी विनाश-शक्ति बन गई है, जो हत्या से भी भयावह परिणाम मनुष्य जाति को दे सकती है। ऐसे युद्ध को पत्रकारिता नहीं रोक सकी।

यह विफलता ऐसे समय में हुई जब संसार में युद्ध से बचाव का वातावरण बना हुआ था, शीत युद्ध समाप्त हो चुका था, संहारक शस्त्रों के परिसीमन की संधियाँ हो चुकी थीं, बर्लिन की दीवार टूट चुकी थी और राष्ट्रों के बीच ऐसे ऐके हो रहे थे, जिनकी कल्पना भी दो-एक वर्षों पहले नहीं की जा सकती थी। औरों की विफलता की बात अलग से करने की है, पत्रकारिता को अपनी भी विफलता माननी होगी कि उसकी ओर से इराक का युद्ध नहीं रोका जा सका और उसके किए यह हुआ कि संसार एक बार फिर शीत युद्ध के निकट आ गया।

यह मानकर नहीं चला जा सकता कि पत्र, पत्रकार क्या होते हैं, निश्चय भिन्न प्रकार के कक्षों में किए जाते हैं। सरकारों को बनाने और गिराने का जो दंभ भरते हैं, अमेरिका और ब्रिटेन तक के बारे में, उन्हें इन दोनों देशों द्वारा युद्ध में सबसे ज्यादा पहल करने की जिम्मेदारी अपने पर भी लेनी होगी।

पत्रकारिता की विफलता वास्तव में उससे लाभान्वित होने वालों की असमर्थता और नगण्यता है—पाठक, श्रोता, दर्शक जो व्यवहार में समाचारपत्रों, टेलीविजन केन्द्रों और रेडियो केन्द्रों की प्रगति के प्रेरक और पोषक हैं। अन्य जो प्रसार साधन हैं—फिल्में जिनमें ही आ जाती हैं, वे सब भी इनमें शामिल हैं। 'कालमनिस्ट' और विश्वविद्यालयों के विद्वान कुछ देशों में बड़ी शक्ति बन गए हैं। पुस्तक लेखक अपने को अलग से हस्ती मानते हैं। अमेरिका जैसे देशों में 'थिंक टैंक' का बड़ा दबदबा है, जिनमें अपनी विधा के सर्वश्रेष्ठ विद्वान एकत्रित होते हैं और निर्धारित प्रश्न पर परामर्श देते हैं। जिनके हाथ में नेतृत्व है, किसी-न-किसी तरह हस्तगत और निर्वाचित, और इनमें विरोधी दलों का यहाँ अधिक सन्दर्भ है, और सबसे ऊपर स्वयं राष्ट्रसंघ को रखा जाना होगा, इन सबकी विफलता का प्रतिबिम्ब ही पत्रकारिता की विफलता में हुआ है। यद्यपि इन सबसे पृथक् और इन सबके मार्गदर्शक के रूप में, पत्रकारिता के दायित्व माने जाते हैं।

जो तत्त्व अपनी विफलता से उपर्युक्त सभी से कहीं अधिक विचलित और आन्दोलित है और युद्ध लड़ने का समर्थन करने वालों के मुकाबले समानान्तर शक्ति बनता जा रहा है, वह है आम आदमी। यह सही है कि आम आदमी ही है, जिसे युद्ध की विभीषिका से उत्पीड़न सबसे अधिक होता है, लेकिन इस समय उसकी पीड़ा में समान मनुष्य समाज के प्रति करुणा की आत्मानुभूति है। जहाँ बच्चे, महिलाएँ, वृद्ध, विद्वान, अपने-से लगने वाले आदमी उनके किए और बनाए स्कूल सामन और पूजनीय स्थान गिरते और मिटते हों उस ओर मानवीय सहानुभूति का प्रवाह अपने आप होने लगता है।

दो बातें और हैं। इराक छोटा है और अकेला पड़ गया था, इसलिए भी उसके प्रति सहानुभूति हुई। दूसरे, बड़े अंश में उसके प्रति सचेष्टा धार्मिक स्वभाव के कारण भी विकसित हुई है—संसार के अधिकतर मुसलमान इराक के साथ जुड़ गए हैं।

आश्चर्य और अधिक ध्यान देने की बात यह है कि जो देश अमेरिकी आधिपत्य वाली आक्रामक संवाहिनी के साथ हो लिए थे, उनमें भी इराक के पक्ष में वातावरण बनने लगा था, जिनमें पाकिस्तान हमारे सबसे पड़ौस में है। पाकिस्तान की सेना अमेरिका के साथ थी और अमेरिका के खिलाफ लड़ने के लिए पाकिस्तान में स्वयंसेवकों की सूचियाँ बन रही थीं। वहाँ के प्रधानमन्त्री की यह स्थिति हो गई थी कि वे अपनी बात कहने इराक जाने की सोच भी नहीं सकते थे। जोर्डन और ईरान होकर अपने संदेश पहुँचाने का प्रयत्न उन्होंने किया जबकि इराक को भी सुनाई दे रहा होगा कि लाखों-लाखों की संख्या में पाकिस्तानी अपने सद्दाम के साथ होने की दुहाई दे रहे थे। सारी पाकिस्तानी नीति इस जनमत के प्रवाह से बदलने लगी।

हमारे यहाँ भी सरकार थपेड़ों में आ गई। अमेरिकी युद्धकारी वायुयानों को भारत मे उस समय दुर्लभ पेट्रोल और उन्हें मार्ग एवं विश्राम के अवसर देकर चन्द्रशेखर सरकार ने ऐसी गलती की कि जिनके सहारे वह बनी, और खड़ी थी, वे भी उसका समर्थन नहीं कर पाए। जनाक्रोश बढ़ता गया, इराक के समर्थन में जबरदस्त प्रदर्शन हुए।

पत्रकारिता पर, हमारे देश की भी और सारे संसार की, यह और भी गम्भीर आरोप है कि जितना उसकी ओर से 'दूसरों द्वारा दिये हुए', 'धोखे में रखने वाले', 'सरासर झूठ से भरे' समाचार युद्ध-घटनाओं के बारे में भेजे गए उतना महत्त्व उसकी ओर से युद्ध-विरोध और शान्ति-समर्थन के जनान्दोलनों को नहीं दिया गया। इस ओर भी, राजनेताओं और कूटनीतिज्ञों का आवागमन समाचारों में आता रहा, परन्तु आम आदमी मिलकर के युद्ध-विरोधी शक्ति बनते जा रहे हैं, उससे अवगत नहीं किया गया, जो अन्ततः युद्ध का अन्त कराने में बहुत बड़ा बल सिद्ध हुआ।

पत्रकारिता ने अपने को शक्ति और सत्ता में अवस्थित राजनेताओं की पिछलग्गू, प्रवक्ता और उन पर निर्भर बना लिया है। इसका आक्रोश स्वयं पत्रकारों में बढ़ता जा रहा है और खाड़ी युद्ध क्षेत्र में भी पत्रकारों और सैनिक प्रवक्ताओं में झड़पें हुई थीं। परिणाम में दोनों के बीच अनहोना युद्ध हो सकता था। सबसे पहले इसकी ओर इराक ने ध्यान दिया। अपनी बंदिशें ढ़ीली करके, उसके अधिकारी अधिक पत्रकारों को अपने यहाँ हुए विनाश को प्रत्यक्षतः देखने के लिए ले गए। धीरे-धीरे प्रचार में इराक का पलड़ा भारी होता गया, जो पत्रकारों के प्रति खुली नीति के सिद्धान्त को नई तरह से बल देने लगा।

परन्तु जो आम लोगों और उनकी सरकारों के बीच संघर्ष था, उसके ज्यादा बलशाली होते जाने की बात सर्वोपरि मानी जानी चाहिए। इस तरह के आन्दोलन अमेरिका में हुए जो युद्ध लड़ रहा था, यूरोप में हुए जो युद्ध के समर्थन में जुटा था और एशिया में हुए जहाँ युद्ध से सबसे ज्यादा नुक़सान होने को था। इन देशों की सरकारें युद्ध चला रही थीं या उसमें आक्रामक अमेरिका के साथ थीं और इन देशों का जनमत इस कारण ही अपनी सरकारों का विरोध कर रहा था

इसको सहायता और क्षोभ—दो अलग-अलग कारणों से मिल रहा था। अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी जैसे देश जो युद्ध लड़ रहे थे या उसमें अमेरिका की सहायता कर रहे थे, उनके बारे में यह प्रकट होने लगा कि इराक की संहारक और सुरक्षात्मक शक्ति बनाने और बढ़ाने में सबसे अधिक इन्हीं देशों का योगदान रहा है। जर्मनी इसराइल बड़ी थैली लेकर इसलिए पहुँचा, क्योंकि उसकी मदद से बने मिसाइल वहाँ संहार कर रहे थे। दूसरे, जो सरकारों के विरोधी थे, राजनेता और संगठन, उन्हें सरकारों को बदनाम करने का बना बनाया मौका मिल गया। अमेरिका में तो राष्ट्रपति ने अपनी युद्ध नीति के लिए संसद का समर्थन प्राप्त कर लिया था, परन्तु वहाँ भी युद्ध विरोधी प्रदर्शन बहुत ही प्रभावी रहे। अन्य देशों में भी सरकारें अपनी-अपनी जनता से अलग-थलग पड़ गईं।

ये जो भीतरी संघर्ष थे, वे कितना प्रभाव युद्ध की प्रक्रिया, परिणाम और अवधि पर डाल पाए, इसका प्रकटीकरण और विश्लेषण धीरे-धीरे हुआ, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इनका प्रभाव नगण्य नहीं रहा था।

❑

भारत के पत्रकारों की बड़ी भूल

शनिवार और रविवार सुबह-सुबह कड़वे हो गए। दिल्ली से आए दैनिकों मे से पहले अंग्रेजी में 'पत्रकारों को घूस' नाम से लखनऊ से आया पत्र सम्पादकीय पृष्ठ पर छपा मिला। अगले दिन हिन्दी के दैनिक ने पूरे पृष्ठ पर पत्रकारिता के जुझारूपन से जी-हुजूरी तक की दुर्दशा राजस्थान, हरियाणा, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश से प्राप्त विशेष विवरणो से बताई थी, और स्वयं सम्पादक जी ने अमेरिकी उदाहरणों से पत्रकारों की आचार संहिता का सवाल उठाया था।

ऐसा नहीं है कि पत्रकारिता की 'राज्याश्रयी उपधारा' जिसे कहा जा रहा है, वह नई-नई शुरू हुई है। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में जिस तरह देश के लिए लड़ने वाले और अंग्रेजो का साथ देने वाले थे, उसी प्रकार से सर्वस्व का बलिदान करने के लिए उद्यत पत्र और पत्रकार थे, और ऐसे भी थे जो तब भी जी-हुजूरी करते थे, अंग्रेजों की भी और रियासती शासकों की भी। दोनों की अलग-अलग तरह की शान और पहचान थी और जो दैनिक अब पत्रकारिता की प्रतिष्ठा के लिए ज्यादा परेशान हैं, उनमें से कई उन दिनों अंग्रेजी राज के समर्थन के लिए ही ज्यादा जाने जाते थे। इनमें से कई के लिए यह स्वेच्छा से स्वीकृत आस्था का प्रश्न था, क्योंकि उनका स्वामित्व और सम्पादकत्व, दोनों अंग्रेजों के हाथों में था, लेकिन उन्हीं दिनों ऐसे अंग्रेज सम्पादक भी हुए, जैसे अंग्रेजों में भारत-स्वतन्त्रता के समर्थक भी थे, जिन्होंने इस देश में निर्भीक, स्वतन्त्र और भारत-भक्त पत्रकारिता को अपने व्यक्तित्व से चमत्कारिक प्रभावशीलता प्रदान की।

देश जब स्वतन्त्र हुआ, स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़े पत्रकारों, सम्पादकों और समाचारपत्र-संचालकों के सामने एकाएक दुविधा आ गई, और उस समय, और उस समय से जो गलत निर्णय कांग्रेस के अधिकांश राजनेताओं से हुए, वे की वे गलतियाँ समाचारपत्रों से जुड़े अधिकांश तत्त्वों ने भी अपना लीं। स्वतन्त्रता संग्राम में राजनेताओं और पत्रकारो के बीच इतनी साझेदारी थी कि दोनों विधाओं का साथ-साथ उपयोग करने वाले राजनेता भी थे और पत्रकार भी। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी से यह सिलसिला शुरू होता है, यद्यपि उनके पहले जो कांग्रेस के प्रारम्भकर्त्ता और पुरोधा थे, उनका भी पत्रकारिता में यशस्वी योगदान था। स्वतन्त्रता आने पर जब पद, यश, लाभ, सुविधाएँ राजनेताओं ने हथिया लीं, उनके साथी सम्पादक और पत्रकार उनमें अपनी साझेदारी जताकर उनसे जो बन सके, प्राप्त करना अपना अधिकार-सा मानने लगे। रातोंरात अनेक अंग्रेजी शासन के समर्थक समाचारपत्र, नए भारतीय शासन के समर्थक हो गए और अपनी पूर्व प्रतिष्ठा के कारण उनकी ओर 'ध्यान' भी अधिक दिया जाने लगा। इनके अलावा क्या, इनके खिलाफ एक तीसरा वर्ग भी संचालकों, सम्पादकों-पत्रकारों का था जिसने सत्ता और सुविधाओं की चकाचौंध मे भी माना कि पत्रकारिता मर सेवा के लिए होती है और इस सेवा के अधिक अधिकारी भारत के

नागरिक हैं, जिनके कष्टों और अधिकारों के हनन को उजागर करना ही देश की स्वतन्त्रता के बाद भी प्राथमिक दायित्व है। परन्तु इस यशस्वी परम्परा को यह देश अधिक समय तक प्रोत्साहित और जीवित नहीं रख सका। महात्मा गाँधी के 'हरिजन' के अतिरिक्त देश के हर भाग और हर भाषा में और हिन्दी में ऐसे अनेक साप्ताहिक थे, जो देश की स्वतन्त्रता के बाद कठिनाइयों में पड़े और अन्ततः समाप्त हो गए।

जो उनके बलिदान का कारण बना, वही आज भी मुख्य मुद्दा है। इसका पहला रूप यह है कि पत्रकारिता पर-सेवा के लिए होती है। अन्य व्यवसायों से पत्रकारों में अन्तर यही है कि वे किसी भी प्रकार की स्वार्थ-साधना नहीं कर सकते, जिसके बहुत अच्छे उदाहरण उपर्युक्त हिन्दी दैनिक के सम्पादक ने आजकल की अमेरिकी पत्रकारिता से दिए थे—"अमेरिकी समाचारपत्रों के सम्पादकों की प्रभावशाली सोसाइटी (ए.एस.एन.ई.) का कहना है कि सत्ता प्रतिष्ठानों से पत्रकारों को एक हाथ की दूरी रखना आवश्यक है।" इसके स्पष्टीकरण में जो अनेक तर्क और तथ्य दिये गए, वे भारतीय पत्रकारिता के लिए प्रश्न भी हैं और चुनौती भी। जब अमेरिकी पत्रकारिता इस 'दूरी' को निभाकर इतनी प्रबल, प्रभावी और प्रतिष्ठित और सम्पन्न हो सकती है तो भारतीय पत्रकारों के लिए 'जी-हजूरी' क्यों जरूरी है!

जो दूसरा रूप है, वह इसलिए इससे जुड़ा है, क्योंकि इस प्रकार की पात्रता और विश्वसनीयता निभाए, और उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त किए बिना इसका ध्यान नहीं रखा जा सकता कि पत्रकारिता की प्राण पर-सेवा के अधिक अधिकारी भारत के नागरिक हैं, जिनके कष्टों और अधिकारों के हनन को उजागर करना आज भी प्राथमिक दायित्व बना हुआ है। इसे इस तरह ज्यादा समझा जा सकता है कि दुराचार, दुर्व्यवहार, दुष्टता और दुरावस्था के जो प्रकरण प्रकाशित होते हैं, उनमें से अधिकांश आरम्भ में उजागर पत्रकारिता के बाहर होते हैं; और यहीं उन सब 'सुविधाओं' का सवाल आता है, जिनके विवरणों से उपर्युक्त हिन्दी दैनिक का पूरा पृष्ठ भरा था। जो अधिकांश राज्य इस देश के बच गए, उनके 'किस्से' भी एकत्रित किए जाते तो उस दिन का पूरा अंक भी कम हो जाता।

यह सब भी पत्रकारों में होड़-होड़ में, और सरकारों में अपनी हिफाजत में हो रहा है। पत्रकार समाज के प्रमुख लोगों के अधिक निकट रहते हैं और चाहे इसे 'बहती गंगा में नहाने का काम' कहा जाए, गंगा के निकट पहुँचकर कितने उसमें डुबकी लगाने से अपने को रोक सकते हैं, और जिस तरह गंगा कलुषित की जा रही है, उसी तरह पत्रकारिता कलुषित की जा रही है —और पाठक, देशवासी विवश हैं, उसी का आचमन करने के लिए।

जो स्वतः कलुषित है, उस पर सूचना, विचार और प्रेरणा के लिए आश्रित रहना आज के समाचारपत्र पाठकों की जो विवशता है, उसे भी उपर्युक्त हिन्दी दैनिक में अच्छी तरह उजागर किया गया था—"प्रजातन्त्र के चौथे स्तम्भ की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगने तथा उसके खोखले होने के खतरे को देखते हुए चिन्ता स्वाभाविक है। सारी दुनिया को नीतियों, आदर्शों और नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाले यदि स्वयं आशंकाओं के कटघरे मे खड़े होंगे तो उनकी बातों का मूल्य क्या रहेगा? सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रगति और जागरूकता के साथ जहाँ पत्रकार सूचना पाने के संवैधानिक अधिकार, सरकारी गोपनीयता कानूनों में संशोधन और अधिक सम्पादकीय स्वतन्त्रता की आवाज उठा रहे हैं

वह तभी सशक्त हो सकती है जब पत्रकार समुदाय आत्मानुशासन, ईमानदारी और विश्वसनीयता के मानदण्डों पर खरा उतरेगा। पत्रकारों के बड़े-बड़े संगठन विदेशी प्रेस के खतरे, पेशेवर (प्रोफेशनल) चुनौतियों, 'हल्ला बोल' जैसे दबावों, वेतन-भत्तों, सुविधाओ इत्यादि की बात बहुत जोर-शोर से करते हैं लेकिन अपने घर की झाड़ू-बुहारू के मुद्दे पर शिथिल पड़ जाते हैं।''

इन संगठनों के शिथिल पड़ने के एक दर्शनीय उदाहरण के पहले ऊपर दिये गए उद्धरण की दो बातें उल्लेखनीय हैं। समाचारपत्रों की बातों के मूल्य का ह्रास ही स्वतन्त्रता के पहले और स्वतन्त्रता के बाद की पत्रकारिता का सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर हो गया है। जिस अत्यन्त प्रचलित साप्ताहिक को प्रभावित करने की बात की गई है, उसके सम्पादक से इन पंक्तियों के लेखक ने (जब वह राजस्थान के जनसम्पर्क विभाग का निदेशक था) अपने कार्यालय के बाहर कहा था—''यू आर रैड, बट नोट रेस्पेक्टेड''—आपका पत्र पढ़ा जाता है लेकिन उसका सम्मान नहीं है। यही-की-यही स्थिति आजकल के पत्रकार समुदाय ने समस्त भारतीय पत्रकारिता की कर डाली है। दूसरी बात 'प्रजातन्त्र के चौथे स्तम्भ' की है, जो खतरे बताए जा रहे हैं, उनसे दुर्बल पत्रकारिता तो होती ही रही है, देश की स्वतन्त्रता और देश का लोकतन्त्र अधिक खतरे में आ गया है। माना कि एक पत्रकार एक संस्था के लिए 'दान' लेता है, परन्तु उसके हाथों के माध्यम से दान के आने-जाने से, उसके हाथ हिल जाते हैं और जब वह समाचारपत्र में नहीं, समाचार समिति में बैठता है, ढुलमुल हाथों से निकले समाचार अपनी चमक क्या, अपनी विश्वसनीयता भी नहीं निभा सकते। मनुष्य स्वभाव की दुर्बलताएँ सब जानते हैं, इसीलिए इस समय जब शताब्दियों बाद स्वयं देशवासियों के हाथों देश का निर्माण हो रहा है, उसके हर स्तम्भ की सुदृढ़ता की सर्वोपरि आवश्यकता है, जो इस सन्दर्भ मे पत्रकारों की पारदर्शक पवित्रता के बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

संस्था में नाम 'ऑल इण्डिया न्यूज पेपर एडीटर्स कांफ्रेंस' का है, जो उस समय सचमुच 'भारत के सम्पादकों का प्रभावशाली संगठन' थी। उसकी स्थायी समिति के एक सदस्य ने एक अन्य साथी सदस्य पर अपने साप्ताहिक में आरोप लगाया कि उसकी जयपुर में पढ़ रही बेटी की फीस राजस्थान सरकार का जनसम्पर्क विभाग दे रहा है, जिसका मैं उस समय निदेशक था। यह फीस क्या, बीस बरस बीत जाने पर भी मेरे मन में यह चुनौती है कि हमारे विभाग से एक रुपया भी किसी पत्रकार को कभी ऐसा नहीं दिया गया, जिस पर कोई आज भी आपत्ति कर सके अथवा जिस पर मुझे कोई शर्म हो। पच्चीस बरस जिसके पास यह काम रहा हो, उसके इस दावे की आज का 'दलदल में फँसा प्रेस और मजा लेते राजनीतिज्ञ' उपेक्षा नहीं करें, इसलिए कह रहा हूँ कि राजस्थान के जनसम्पर्क विभाग का इसके बावजूद पत्रकार समुदाय में अन्य किसी भी राज्य के इस प्रकार के संगठन से अधिक सम्मान था। इसी का यह प्रमाण था कि उपर्युक्त सम्पादकों का संगठन मेरे जनसम्पर्क विभाग का निदेशक होते हुए भी, कई बार अपने आयोजनों में मुझे बुलाता रहता था। मैंने लिख तो रखा ही था, लखनऊ में ए.आई.एन.ई.सी. की ओर से जो संगोष्ठी हुई, उसमें मैंने खुला-खुला कहा—''आपके एक सदस्य पर एक अन्य सदस्य ने आरोप लगाया है। आप इसकी जाँच करें। बेटी की पढ़ाई की फीस लेना गलत है (जो हर बार उक्त सदस्य ने अपने चैक से दी थी) तो आप उस सदस्य को निकाल दें अगर आरोप गलत है तो आप आरोप लगाने वाले

सदस्य को निकालें। ऐसी स्पष्ट और आवश्यक समस्या पर भी जो संगठन आपसी लीपापोती पर शान्त हो गया, उसका पराभव और पतन तो होना ही था।

इसके पहले के एक और संगठन की बात है, आजकल का पी.टी.आई. जो उन दिनों ए.पी.आई. (एसोसियेटेड प्रेस ऑफ इण्डिया) कहलाता था। मैं जयपुर से उसका सार राजस्थान के लिए संवाददाता था, उस समय तक मैं सरकारी सेवा में नहीं आया था। बीकानेर से निर्वासित वहाँ के प्रजा परिषद के नेता श्री रघुवर दयाल गोयल से मिली शिकायतों के बारे में स्वयं जानकारी लेने मैं बीकानेर पहुँचा। मुझे मालूम था कि उन दिनों के ए.पी.आई के भारत में प्रमुख सर ऊषा नाथ सेन के बीकानेर रियासत से अत्यन्त अनुकूल सम्बन्ध हैं और मैं स्वयं वहाँ के जनसम्पर्क विभाग के अधिकारियों से परिचित था, फिर भी बीकानेर पहुँचने पर मैं एक निजी होटल में ठहरा। बीकानेर का राज उन दिनों अत्यन्त कुशलता से चलता था। ए.पी.आई. के प्रतिनिधि के आगमन की बात हर अधिकारी को मालूम थी। मुझे ऊँचे-से-ऊँचे मन्त्री और अधिकारी से, मुख्य न्यायाधीश से भी, मिलाया गया। इस तरह से मुझे सन्तुष्ट करके कहा गया, अब आप दो दिन राजकीय अतिथि गृह में भी रहें। शिष्टाचारवश मैंने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। लेकिन मेरे आतिथ्य स्वीकार करते ही प्रतिबन्ध आरम्भ हो गये—जो राजकीय अतिथि होता है, वह ऐसे-ऐसे स्थानों पर नहीं जाता। मुझसे यह सहन नहीं हुआ और मैं उसी रात बीकानेर छोड़कर रवाना हो गया। होशियारी मैंने यह की कि मै जयपुर लौटने की जगह दिल्ली चला गया और सारी बात उस समय के सम्पादक श्री एस ए शास्त्री को बता दी, जिन्होंने सर उषा नाथ सेन को भी पूरी तरह अवगत कर दिया। मेरी सराहना भी की गई और मुझे समर्थन भी दिया गया, मुझसे सारी स्थिति समझाने के लिए अपने नाम से वक्तव्य बनाने को कहा गया, जिसमें बीकानेर की आलोचना में कहा गया था, जरूर जो छिपाया जा रहा था, वह इतना भयावह था कि उसके प्रकट होने से बीकानेर सरकार डर रही थी। ए.पी.आई. ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया और अंग्रेजी दैनिकों में भी खूब छपा।

बात यहाँ खत्म नहीं हुई, बीकानेर के प्राइम मिनिस्टर दिल्ली आए, सर उषा नाथ सेन से मिले। उनकी शिकायत का कोई असर नहीं हुआ, उल्टे कदाचित् किसी अन्य प्रकरण की सराहना में मुझे फिर से दिल्ली बुलाकर मेरा 'मानदेय' एक बार में तिगुना कर दिया गया, जो 150 रु. मासिक हुआ। उन दिनों कई पूर्णकालिक पत्रकारों को भी ए.पी.आई. में इतना नहीं मिलता था।

पत्रकारिता में ही अपने लिए पारिश्रमिक और पुरस्कार प्राप्त करने की प्रतिबद्धता पत्रकारों की प्रतिष्ठा और पत्रकारिता के भावी विकास और विश्वास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, कोई अन्तर नहीं आया है, पहले भी यही बात थी, अब भी यही बात है, क्योंकि पत्रकारिता के दायित्व अभी भी उसी प्रकार से भारत के भाग्यविधाताओं से जुड़े हुए हैं। कुछ पत्रकार भूल गए हैं कि इस देश के असली भाग्यविधाता कौन हैं।

❑

समाचारपत्र सर्वसाधारण के समीप

पत्र और पत्रकार कहाँ तक जनमत का प्रतिबिम्बन और प्रतिनिधित्व करते हैं, यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। स्वयं समाचारपत्र जगत में भी यह विचार और चिन्तन का विषय रहा है।

अमेरिका, जहाँ सर्वाधिक मतों से निर्वाचित राष्ट्रपति जनमत (इसे किसने बनाया? पत्रकारों ने, वकीलों ने, जजों ने या खुद की करतूतों की जानकारी ने, पर यह जानकारी सबको जताई किसने?) के प्रचण्ड प्रभाव के कारण पदत्याग के लिए विवश हुआ था, (यद्यपि प्रश्न यह भी उठाया गया है कि क्या मतदाताओं के निर्णय को मिटाने का समाचारपत्रों को अधिकार है? क्या पत्रकारों से स्वीकृति लेकर जनता देश का राष्ट्रपति चुने?), पिछले वर्षों में बहुत इस विवाद से व्याप्त रहा है। निवर्तमान राष्ट्रपति श्री निक्सन और उनके उपराष्ट्रपति श्री एगन्यू समाचारपत्रों और समाचार विश्लेषकों की तीखी आलोचना यह कहकर किया करते थे कि वे जनमानस से बहुत दूर रहते हैं। वे दोनों अपने पदों से हट गए, लेकिन लगता नहीं है कि जो आलोचना वे किया करते थे, उसे शान्त किया जा सकता है। स्वयं पत्रकार और सम्पादक मानने लगे हैं कि जो जनता जानती, मानती और सोचती है, उसे समाचारपत्रों में समुचित स्थान नहीं मिलता, इसका इलाज होना चाहिए।

अमेरिका के बहुपठित और प्रभावशाली साप्ताहिक 'टाइम' के प्रकाशक ने स्वयं अपने स्तम्भ में कहा है—"बहुत से अमेरिकी अनुभव करते हैं कि जो वे कहते हैं, उसे समाचारपत्र ध्यानपूर्वक नहीं सुनते और उन्हें कहने का अथवा उत्तर देने का अवसर देने मे विफल रहते हैं।"

'टाइम' के प्रकाशक इस आलोचना को स्वीकार करते हैं, यह इसी से स्पष्ट है कि इसके 'आंशिक प्रतिउत्तर' में उन्होंने जिस अंक में यह कहा था (26 अगस्त, 1974) उसी से दो नए स्तम्भ आरम्भ किये गए थे।

एक तो 'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भ को 'मंच ' का रूप देकर, जिसे प्रमुख और सामान्य पाठकों के विचारयुक्त और विवादोत्तेजक अभिमत के लिए सदा खुला रखा जाएगा, उसे हर अंक में बीच के दो पेजों में प्रमुख रूप से स्थान देने का निश्चय किया गया है।

दूसरे, विस्तृत और वैज्ञानिक ढंग से एक स्वतन्त्र संगठन द्वारा संकलित प्रमुख सार्वजनिक समस्याओं पर जनमत के विश्लेषण को वर्ष में चार बार प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। सदा परिवर्तनशील सामाजिक-राजनीतिक वातावरण का अध्ययन उससे सम्भव होगा, ऐसी आशा की गई। इस प्रकार के प्रश्नों के प्रति यह विश्लेषण अतिशय रहेगा, यह विश्वास दिलाया गया था

इस अंक में प्रकाशित पहले विश्लेषण में प्रकाशित तथ्य हवा में तो थे लेकिन उनकी व्यापकता के सम्बन्ध में अंदाज पूरा नहीं था। आर्थिक स्थिति और मुद्रा-बाहुल्य के कारण एक चौथाई प्रौढ़ अमेरिकी मानने लगे थे कि उनका जीवनयापन का स्तर संकट में पड़ गया है। एक तिहाई अमेरिकी उनका समाज जो नया स्वरूप लेता जा रहा है, उससे उद्विग्न थे, ये अपने को कुछ भी कर सकने में असमर्थ मानते थे और उन्हें शिकायत थी कि सुविधाएँ अनुचित प्रक्रियाएँ अपनाने वालों को अधिक मिलती जा रही हैं। इन समस्याओं से लगभग तीन चौथाई अमेरिकी चिन्तित थे और इन्हें वाटरगेट से भी भयंकर मान रहे थे। आर्थिक दुर्दशा, सामाजिक असन्तोष, अनुदारता और राजनीतिक चेतना के सम्बन्ध में आँकड़े देकर उस समय की स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया गया था। इसी के आधार पर कहा जा सका कि 'अमेरिका अति विस्तृत आर्थिक पीड़ा से उद्विग्न है', 'तरह-तरह के दर्द और कष्ट ने अमेरिकियों की आय, बचत तथा जीवन-क्रम को संकट में डाल रखा है', 'जो भी खरीदता है, बेचता है, उधार लेता है, पूँजी लगाता है, इन पेचीदगियों में घुस गया, और इनसे निस्तार की आशा सामने कहीं नहीं दीखती।'

एक पत्र जिसे अपने संवाददाताओं, विश्लेषकों, परीक्षकों और सम्पादकों की संख्या, क्षमता और योग्यता तथा अपने संगठन की जागरूकता, सम्मान और सदा आगे रहने की व्यग्रता के लिए सारे संसार में आदर प्राप्त रहा है, जब इतने अतिरिक्त, व्ययसाध्य तथा विशेष योग्यता-जन्य प्रयत्न के लिए विवश हुआ तब जो पत्र इस तरह की सामग्री प्रकाशित ही नहीं करते अथवा इसका महत्त्व ही नहीं मानते, कैसे अपने को जनमत का प्रतिनिधि स्वीकार किए जाने की अपेक्षा करते हैं?

पूर्वाग्रह, पक्षपात और अल्प एवं विकृत दृष्टि के आरोपों से निरुत्तर होकर अनेक अन्य समाचारपत्रों ने अपने पृष्ठ जनमत के लिए खोल दिए। 'सम्पादक के नाम पत्र' स्तम्भ प्रायः सभी समाचारपत्रों में सम्पादक की उपेक्षा का शिकार रहा करता था। इसके बाद एक समाचारपत्र ने विवाह-सूचनाएँ कम करके इस स्तम्भ को पहले से चौथाई अधिक स्थान देना आरम्भ किया, दो समाचारपत्र प्रायः सभी प्राप्त पत्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करने लगे, एक पत्र अपने एक दिन में निकलने वाले सब संस्करणों में अलग-अलग पत्र प्रकाशित करने लगा, जिससे अधिक पत्र-प्रेषकों को अपना मत प्रस्तुत करने का अवसर मिला।

कुछ पत्रों ने अपने सम्पादकीय पृष्ठ के सामने के ही पृष्ठ को जनमत के लिए सुरक्षित कर दिया। जनमत का सर्वश्रेष्ठ पृष्ठ 'न्यूयार्क टाइम्स' ने शुरू किया। अन्य अनेक समाचारपत्रों के पृष्ठ भी इनमें संकलित अभिमत की विविधता, स्पष्टवादिता और प्रतिनिधित्व के कारण आकर्षक होने लगे। एक सम्पादक ने लिखा—"सड़कों से उफान उठ रहा है। हम उसे रास्ता देने की कोशिश में हैं।"

इन कोशिशों ने सम्पादकों की एक नई श्रेणी को जन्म दिया, जो कहीं 'पाठक सम्पर्क सम्पादक', कहीं 'जनता सम्पादक' कहा जाने लगा। एक पत्र ने प्राप्त पत्रों में स्वयं अपने प्रति उठाई गई आपत्तियों के परीक्षण के लिए एक वरिष्ठ सम्पादक को मनोनीत किया। एक पत्र प्राप्त शिकायतों का जवाब देने को अपने संवाददाताओं और लेखकों को विवश करने लगा एक पत्र ने स्वय अपनी आलोचना के लिए प्रतिदिन प्रकाशित एक नया स्तम्भ स्थापित किया यह स्तम्भ कई बार प्रथम पृष्ठ पर दिया जाता है

समाचारपत्र अपनी गलतियों को मंजूर करने की पहले से ज्यादा कोशिश में हो गये। 'वाल स्ट्रीट जनरल' और 'न्यूयार्क टाइम्स' जैसे परम प्रतिष्ठित पत्र अब इसके लिए अधिक स्थान देते हैं। एक पत्र ने तो नया स्तम्भ 'गलती जो हमने की थी' स्थापित कर दिया है और वह इसे बहुधा प्रथम पृष्ठ पर दिया करता है। 'टाइम' जैसा साप्ताहिक अपने यहाँ अपनी यह आलोचना प्रकाशित करता है—''आपने निन्दनीय असत्य प्रकाशित किया है। आप ऐसे वक्तव्यों को बहुधा स्थान देते रहते हैं, जो कभी कहे ही नहीं गए। समाचारपत्रों के दुराचार का भंडाफोड़ करने के प्रयत्न को इससे प्रामाणिकता प्राप्त हुई है। आपके गन्दे तरीके अवश्य जनता को आपके खिलाफ खड़ा करेंगे।''

यद्यपि जनसाधारण को प्रकाशन की सुविधा और स्वतन्त्रता पर कई क्षेत्रों में आशका प्रकट की गई है, परन्तु समाचारपत्रों की यह 'अपने को दूसरों की दृष्टि से देखने की' प्रवृत्ति अवश्य और बढ़ेगी, ''क्योंकि जो कुछ जनता सोचती है, वह समाचार हो जाता है, समाचारपत्र उसे जानकर और स्थान देकर कुछ खोएँगे नहीं।''

जनमत के विश्लेषण पर अमेरिका में पुस्तकें भी कई निकली हैं। समाचारपत्र उनके बारे में विवरण भी विस्तार से दे रहे हैं। 'टाइम' ने एक (2 सितम्बर) अंक में 'मंच' को प्रमुख रूप से देने के साथ-साथ दो विश्लेषणात्मक पुस्तकों के सम्बन्ध में विशेष लेख प्रकाशित किए, एक बौद्धिकों के विशेष वर्ग के बारे में, दूसरा सर्वसाधारण के बारे में—दोनो के यह अध्ययन कई नई बातें सामने लाए।

बौद्धिक कौन है, यहाँ से प्रश्न को उठाकर 'आधुनिक अमेरिका के अन्दर सबसे सम्मानित बौद्धिक' की सूची चार समूहों में प्रस्तुत की गई। इनमें मुख्यतः लेखक हैं, परन्तु बद्धिकों द्वारा बौद्धिकों तक पहुँचने का साधन जिस पत्रिका को सबसे ज्यादा बनाया जाता है—'न्यूयार्क रिव्यू ऑफ बुक्स', उसके सम्पादक भी सबसे ऊँची सूची में हैं, जो स्वयं बहुत कम लिखते हैं। अध्ययन-अध्यापन-लेखन का क्षेत्र छोड़कर जो सरकारी अथवा गैर-सरकारी सेवा स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें इस चुने हुए अमेरिकनों की पंक्ति से हटा दिया जाता है। नोबल पुरस्कार विजेता, अमेरिका के तत्कालीन विदेश मन्त्री श्री हेनरी किसिंगर को इस सूची में से हटा दिया गया था, यद्यपि उनका उल्लेख अमेरिका के चोटी के बौद्धिक की तरह किया गया था। सूची में सम्मिलित बौद्धिकों में से आधे यहूदी थे और आधे ही न्यूयार्क के 50 मील के घेरे में रहते थे। अधिकांश की आयु 50 से अधिक थी। इनकी वार्षिक आय औसतन 35,000 डालर थी। इनकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि यह एक-दूसरे की प्रतिष्ठा को गिरा या उठा सकते हैं। अपनी शक्ति का उपयोग ये लोग कई बार बहुत ओछी तरह और मनमाने ढंग से करते पाये गए थे। बौद्धिक राष्ट्र का साधारणतः नेतृत्व नहीं करते, दूसरों के उठाए आन्दोलनों में अनुगामी बन जाते हैं।

'दि रॉयल अमेरिका' अमेरिकी राष्ट्र के स्वास्थ्य और सम्पन्नता का अध्ययन था। अपने प्रकाशन से पूर्व यह पुस्तक विज्ञ वर्ग में चर्चा का विषय बन गई थी, राष्ट्रपति फोर्ड ने सार्वजनिक रूप से इसकी सराहना की, 'टाइम' जैसे साप्ताहिक ने एक पूरा पेज इसके लिए दिया।

''अमेरिका में इन दिनों चारों तरफ [illegible] सुनाई देती हैं विफलता की अपराध की संकट की [illegible] और आंकड़े सिद्ध करते हैं प्रगति विकास और [illegible]'' इस

अध्ययन का यह निष्कर्ष है। आन्दोलनकारी अमेरिकी महिलाओं द्वारा प्रचारित वातावरण को यह सिद्ध करके शुद्ध किया गया कि अमेरिका की महिलाएँ नहीं मानतीं कि वे सड़े-गले, भ्रष्ट, यौनाचारी समाज में रह रही हैं, जिसने उन्हें दबा-कुचल रखा है, वे मानती हैं कि वे पुरुषों से अधिक सुखी और सन्तुष्ट हैं।

इस अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि अमेरिका के इतिहास मे पहली बार वहाँ मध्यवर्गी लोगों का बहुमत (74 प्रतिशत) हुआ है; और इनकी संख्या तथा समृद्धि निरन्तर बढ़ रही है। अधिकांश अमेरिकी मध्यवर्गी इसलिए हैं कि वे अपने को मध्यवर्गी मानते हैं और मध्यवर्गी होने की स्वयं अपने द्वारा निर्धारित परिभाषा पूरी करते हैं—उनके अपने मकान हैं, वे अपने बच्चों को पढ़ाई बीच में नहीं छोड़ने देते, कपड़े धोने और सुखाने की मशीनें उनके घरों में हैं, वे टेनिस खेलते हैं, तलाक उनके यहाँ होते हैं।

परिवर्तन के कारण जो परिस्थिति बनती जा रही है, वह अपनी पूर्वगामिनी से ज्यादा अच्छी है, यह इस अध्ययन ने अच्छी तरह सिद्ध किया। अध्ययन के प्रस्तुतकर्त्ता ने अगाध विश्वास साधारण अमेरिकी की क्षमता और शक्ति में प्रकट किया, "वह हर परिस्थिति का सामना कर सकता है।" "उसके हाथ में वह अपने राष्ट्र का भविष्य सुरक्षित मानता है।" "अमेरिकी सफलता उसके शृंगार का सबसे बहुमूल्य रत्न है।"

अशुद्ध अध्ययन अनुचित प्रभाव किस प्रकार डालते हैं, इसका भी एक उदाहरण 'टाइम' ने दिया है। एक प्रमुख व्यापारिक संस्था में महिलाओं को ऊँचे पद इसलिए नहीं दिए जा रहे थे, क्योंकि उन्होंने अपना कार्य बदलने की अनिच्छा स्वयं प्रकट की थी। यह एक कम्प्यूटर से किया गया अध्ययन था। विशेष विश्लेषकों को आश्चर्य हुआ कि कैसे सबकी सब महिलाओं ने एक जैसी असहमति प्रकट की है? यह आश्चर्य उनको नहीं हुआ जो उस संस्थान को चलाते थे। विधिवत् विश्लेषण से मालूम हुआ कि महिलाओं से कभी पूछा ही नहीं गया था। एक 'मर्द' ने महिलाओं की ओर से उसकी मर्जी का उत्तर निकलने का पुर्जा मशीन में घुमा दिया था। सब ऊँचे अधिकारियों ने इसे मान लिया था, वे सब भी 'मर्द' जो थे।

इस प्रकार की सामग्री समाचारपत्रों में स्थान प्राप्त कर रही है, यह एक जानने योग्य समाचार हो गया। यह उनकी 'वाटरगेट' जैसी सर्वग्राही व्यस्तता से मुक्ति का प्रतीक था। अब साधारण, समाचारपत्रों में स्थान पाने लगे हैं, साधारण लोगों का मन लुभाने वाले समाचार प्रथम पृष्ठों पर आने लगे हैं। एक सात कालम के शीर्षक से उद्घोषणा की गई थी—'हिरण के शिकार की अनुमति अब कम मिलेगी।' "निरे आकर्षक, नितान्त सामान्य समाचारों और नए युग के आगमन की सूचनाओं को अब प्रमुख स्थान प्राप्त होने लगा है।"

❑

स्वतन्त्रता : समाचारपत्रों के संदर्भ में

समाचारपत्रों के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता पर विचार करने के पहले उन समानधर्मी पूर्वजों के प्रति समादर प्रकट करना आवश्यक है, जिन्होंने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के राष्ट्रीय संग्राम में सम्माननीय योगदान प्रदान किया। वैसे भी जिस जाति और समुदाय में अपने पूर्वजों के विषय मे ज्ञान तथा आदर का अभाव रहता है, उसमें परिपूर्ण वेग विकसित हो नहीं पाता। वेग के लिए व्यक्तिगत शक्तियाँ, सामयिक परिस्थितियाँ तथा जो प्रलोभन तथा प्रोत्साहन यथासमय समुपस्थित होते रहते हैं, वे पर्याप्त नहीं होते। भविष्य-निर्माण के लिए जो अभिलाषा रहती है, उससे कीर्ति मिलने की जो सम्भावना रहती है, उसके कारण जो प्रेरणा-शक्ति विकसित होती है, उससे वेग को बल मिलता है। इसे थोड़ा उलट कर देखें। हमारे मन में अपने पूर्वजो के प्रति ऐसी श्रद्धा कितनी है, जो उनकी कीर्ति का कारण हो। यदि यह श्रद्धा नहीं है तो पूर्वजों की यह अभिलाषा पूरी नहीं हो रही कि उनके किए हुए के लिए उन्हें कीर्ति प्राप्त हो। यह परम्परा और शृंखला बन जाती है, जो जैसे-जैसे टूटती जाती है, वैसे-वैसे व्यक्ति और समुदाय अशक्त होते हैं। ऐसी संस्कृतियाँ हमारे देश में हैं, जिनमें पूजा के सर्वोपरि पात्र उनके पूर्वज ही हैं।

यह अतिरिक्त स्थिति है कि पत्रकार और समाचारपत्र भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रयत्नों में इतनी सकारात्मक तथा परिणामकारी मात्रा में लगे रहे कि उनको इस प्रक्रिया मे किसी वर्ग से कम कष्ट नहीं हुए और न जो अन्तत: स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, उसकी प्राप्ति मे उनका योगदान किसी भी वर्ग से कम यशस्वी रहा। वास्तविकता तो यह है कि जो सर्वोच्च स्वतन्त्रता सेनानी थे, उनके प्रयत्न का साधन पत्रकारिता भी थी, उनमें से कई अपने समय के सबसे सक्रिय तथा सफल संवाददाता, सम्पादक अथवा समाचारपत्र-संचालक थे। किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण आकलन के लिए उसके प्रयत्न की सभी गतिविधियों का मूल्यांकन करना होता है और यह संसार की पत्रकारिता के लिए सदा गौरव का विषय रहेगा कि भारतीय स्वतन्त्रता के प्रात:स्मरणीय प्रेरक तथा प्रणेता—बाल गंगाधर तिलक और मोहनदास कर्मचन्द गाँधी—दोनों अपने समय के सक्रिय तथा प्रभावी पत्रकार थे।

यह सब इतिहास का विषय है। इसे बिना विशेष विवाद के स्वीकार किया जाएगा कि इस दृष्टि से पत्रकारों की वर्तमान तथा उठती पीढ़ी को भारतीय इतिहास का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। स्वतन्त्रता संग्राम में पत्रकारों के योगदान पर अध्ययन कम हुए हैं, पुस्तकें कम सामने आई हैं। जो लिखा गया है, उसे भी कम पढ़ा जाता है। जब तक हम उस कीर्ति से अनुप्राणित नहीं होंगे, जो हमारे पूर्वजों ने स्वतन्त्रता संग्राम से जुड़कर प्राप्त की, तब तक स्वतन्त्रता की सुरक्षा में अपने को लगाने के लिए पर्याप्त रूप से प्रेरित नहीं होंगे। उनको हम सम्मान और कीर्ति देंगे, तभी तो इस तरह का सम्मान तथा कीर्ति हमारे लिए प्रेरणा बनेगी और इस प्रकार की प्रेरणा की [illegible] निरन्तर बनी रहेगी क्योंकि [illegible] तभी

सुरक्षित रहती है जब उसके लिए सर्वांगीण प्रयत्न निरन्तर होता रहता है। यह एक आयाम है, समाचारपत्रों के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता को समझने का।

स्वतन्त्रता में स्वतन्त्रता की सुरक्षा की चेष्टा, भावना तथा प्रेरणा समाविष्ठ है, एक के बिना दूसरी रह नहीं सकती। इसे स्वतन्त्रता के वैभव में, उसके विलास में और उससे प्राप्त व्यक्तिगत सुख-सम्पन्नता में, हम भूलते जा रहे हैं। ऐसा बहुत बार हमारे यहाँ, और बहुत से अन्य राष्ट्रों तथा जातियों में हुआ है। उन सबको स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा है।

स्थिति तो यह है कि समर्थ, सपुष्ट तथा स्वतंत्र समाचारपत्रों के बिना लोकतांत्रिक तथा लोककल्याणकारी स्वतन्त्रता अधूरी, अपंग और अबल है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्वतन्त्रता का अंतरंग, अविभाज्य, अंग अकारण नहीं बनाया गया है। जो देश का संचालन करते हैं वे देश की स्वतन्त्रता का संचालन करते हैं। अब विस्तार से विचार करें कि देश-संचालन में कितनी कमियाँ और कमजोरियाँ हैं—वे सबकी स्वतन्त्रता की भी दुर्बलताएँ हो जाती हैं। इस पारस्परिक रिश्ते की ओर उतना ध्यान नहीं रखा जाता जब हम कोई न करने लायक काम करते हैं। इसका ध्यान दिलाने का, ऐसे कुकृत्य सबके सामने लाने का, और इन्हें रोकने के पक्ष में वातावरण बनाने का काम, सिवा पत्रकारों के किसी और का उतना है ही नहीं। क्योंकि सब दूसरे सक्रिय रूप से, संस्था के रूप से अथवा व्यक्ति के रूप से, देश-संचालन में लगे हैं, उनके अच्छे-बुरे कृत्य स्वतः स्वतन्त्रता को सबल या दुर्बल करते रहते हैं। पत्रकार हैं जो किसी ऐसे काम को न करते हुए भी, राष्ट्र के चौथे स्तम्भ माने जाते हैं। क्यो? इसलिए कि शेष तीनों स्तम्भों को सुपथगामी रखने का प्रमुख दायित्व उनका है।

समस्या तब आती है जब पत्रकार शेष तीनों स्तम्भों से अथवा उनमें से किसी से ज्यादा जुड़ जाते हैं, इतना कि उनके अस्तित्व से अपनी स्वार्थ-साधना करने लगते हैं। इसके भी अनेकानेक स्वरूप हैं। मूलतः यहाँ विचार यह करना होगा कि समाचारपत्र और पत्रकार शेष तीन स्तम्भों से स्वतन्त्र रहते हुए कितनी दूर तक अपना दायित्व निभाते हैं। यह प्रश्न प्रत्येक समाचारपत्र और पत्रकार को अपने से करना होगा, परन्तु इस प्रश्न का व्यापक, सामयिक तथा सर्वप्रभावी स्वरूप भी है। इस पर समाचारपत्रों में कितना विचार होता है? बहुत कम। क्योंकि इससे बहुत से समाचारपत्रों तथा पत्रकारों की कलई खुलने का डर है। समाचारपत्र और पत्रकार ऐसा स्वयं क्यों करने लगे!

इसके सबसे भयानक स्वरूप की ओर ध्यान दिलाकर इस प्रश्न का एक पहलू समझाया जा सकता है। जब स्वतन्त्रता आई ही आई थी, कुछ प्रतिष्ठित पत्रकार कुछ विदेशी दूतावासों के परामर्शदाता बन गए। वे बिना झिझक के इस बात को स्वीकार करते थे। स्वतन्त्रता जैसे-जैसे आगे बढ़ी, हमारे देश की गतिविधि में कुछ देशों की 'रुचि' बढ़ने लगी, जिनमें प्रमुख थे—ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और रूस। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन तीनों देशो के अनेक व्यक्तियों का समर्थन तथा सहयोग हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में प्राप्त रहा है और इन देशों के तत्कालीन शासक भी भारतीय स्वतन्त्रता की स्थापना में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से योगकारक हो गए थे।

बिना इसके प्रति अपनी कृतज्ञता कम किए, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इन देशों के, इनमें से कुछ देशों के ज्यादा ही, कार्यकलाप भारतीय स्वतन्त्रता के अवरोधक तथा विध्वसक बन गए यह इतिहास की विडम्बना है परन्तु इस वास्तविकता का सामना हमारे समय के शासन सचालकों को बहुत ज्यादा करना पड़ा इसका परिणाम यह हुआ कि ये

तथा अनेक अन्य देश भारत की आन्तरिक गतिविधियों को इस तरह प्रभावित करने में लग गए, जिससे उनके हितों की साधना हो, वह चाहे भारत के तथा भारत की स्वतन्त्रता के जितना विपरीत पड़े। यह जो विदेशियों की विपरीत चेष्टाएँ थीं, उनको उन पत्रकारो से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहायता मिलती थी, जो इनमें से एक या अनेक देशों के 'प्रभाव' मे अपने को हो जाने देते थे।

ऐसे देशों के ऐसे प्रयत्न निरन्तर बढ़ रहे हैं और भारत में ऐसे पत्रकारों की संख्या कम नहीं हो रही है, जो इन देशों का प्रभाव अपने दायित्वों पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष पड़ जाने देते हैं। यह वास्तविकता है कि अनेक भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी सामग्री प्रकाशित होती रही है, जिसका सृजन तथा लेखन विदेशी दूतावासों में होता है। इसमें ऐसे लेख भी हैं जो भारतीय सम्पादकों के स्वयं अपने नाम से प्रकाशित हुए हैं। इसके सामने वह सब फीका पड़ जाता है जो स्पष्टत: विज्ञापन के रूप में प्रकाशित होता है, परन्तु यह भी विचारणीय है कि अगर एक समाचारपत्र में एक राष्ट्र की ओर से आर्थिक अनुदान-प्राप्त विज्ञापन अधिक प्रकाशित होते हैं, तो वह हितों का संघर्ष होने पर कैसे किसी अन्य विदेश के विषय मे सर्वथा स्वतन्त्र लेखन भारत के हित में कर सकता है, फिर इस प्रकार के विदेशी दूतावासों मे रचे अनेक लेखों में भारत के विषय में उल्लेख 'हमारे देश' के रूप में होता है। यह सही है कि ऐसा लेख कागज पर बिना सम्बन्धित दूतावास का नाम उल्लिखित किए प्रेषित किया जाता हैं और प्राप्त होता है, परन्तु कम-से-कम प्राप्तकर्त्ता और प्रकाशनकर्त्ता, भारत का सम्पादक पूरी तरह जानता है कि लेख कहाँ रचा गया है। अब कोई भी सोचे कि एक विदेशी दूतावास के लिए कैसे तो भारत की समस्या 'हमारी समस्या' हुई और कैसे भारत देश 'हमारा देश' हुआ और यह असम्भव है कि ऐसी रचनाओं में किसी भी विषय पर तटस्थ प्रतिपादन हो सकता है और ऐसी 'सामग्री' भारत के समाचारपत्रों में अति अधिक मात्रा में प्रकाशित होती रही है। कोई-न-कोई स्वार्थ हैं, जो ऐसी सामग्री प्रकाशित करने के लिए सम्बन्धित भारतीय सम्पादकों तथा समाचारपत्र संचालकों को प्रेरित करते हैं। वे 'स्वार्थ' यदि देशद्रोह में नहीं आते तो भी इसमें तो सन्देह हो ही नहीं सकता कि उनसे देश-हित-साधना नहीं हो सकती।

समस्या इस तरह शुरू हुई थी कि जो नहीं होना चाहिए, वही जब होता और किया जाता है तब उसकी आलोचना क्या, चर्चा भी समाचारपत्रों में हो नहीं पाती। कुप्रभाव डालने वाला दूसरा वर्ग हो सकता है—भारतीय पूँजीपति। भारत स्वतन्त्रता के उपरान्त समानता तथा समाजवाद के मार्ग पर सफलता से पर्याप्त प्रगति नहीं कर पाया है। इसका कारण यह है कि इसके पक्ष में संविधान में प्रावधान होते हुए भी वातावरण नहीं बन पाया है और इसके समानान्तर यह सत्य है कि भारतीय समाचारपत्रों के लगभग आधे पाठक उन पत्र-पत्रिकाओं के हैं, जिनका संचालन भारतीय पूँजीपतियों के हाथ में है। ऐसे में वांछित वातावरण बन कैसे सकता है, विशेषत: इस स्थिति में कि जो आधे पाठक बचते हैं, उनके द्वारा पढ़े जाने पत्र-पत्रिकाएँ संख्या में अधिक,अतएव प्रभाव में छितरी हुई हैं। उन पर भी विज्ञापनों के माध्यम से कितना पूँजीपतियों का प्रभाव है, यह अलग से खोजबीन की बात है।

तीसरा उल्लेख भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, अक्षमता, पक्षपात का करना होगा, जिसके कारण स्वतन्त्रता का भरपूर लाभ निम्न वर्ग को मिल नहीं पा रहा इस अनुपात में कमी हो ही नहीं रही कि देश के आधे निवासी निर्धनता की निर्धारित रेखा से भी नीचे

जीवन-यापन कर रहे हैं। दुराचार के निष्कृष्ट उदाहरणों के विषय में भारतीय पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशन मुख्यत: तभी होता है जब किसी-न-किसी अन्य स्रोत से प्रकटीकरण हो जाता है। उसे तो छिपाया ही नहीं जा सकता। उसके बाद जो अति-उत्साह संवाददाता और सम्पादक दिखा लेते हैं, उससे यह सामान्य लांछन कम नहीं होता कि भारतीय सम्पादक तथा संवाददाता स्वयं उपर्युक्त अनुचित आचार-व्यवहार पर से पर्दा उठाने में पहल कम करते हैं।

इसका भी कारण है। भ्रष्टाचार या पक्षपात करने वालों को लें। उनमें से कितनों का पत्र-पत्रकारों से ऐसा सम्बन्ध है, जो उनके चिन्तन तथा लेखन को प्रभावित करता रहता है? इतना हिसाब लगाया नहीं गया है, क्योंकि इसके अनेक रूप हैं। कौनसा पत्रकार या पत्र-पत्रिका है, जो समाज के सुस्थापित वर्ग से कुछ न कुछ लाभ नहीं उठाना चाहता, चाहे मासूम-सी लगने वाली इस सहूलियत को ही लें कि उन्हें समाचार ज्यादा और ज्यादा पहले मिलता रहे। इस प्रकार की स्वाभाविक लगने वाली सुविधा भी समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता पर व्याघातकारिणी बन जाती है।

नकारात्मकता का समाचारपत्रों के क्षेत्र में बहुत महत्त्व होता है। प्रकाशित करने से अधिक निर्णायक संवाददाता और सम्पादक का यह अधिकार होता है कि वह क्या प्रकाशित नहीं करे। यहाँ निवेदन और स्थापना यह है कि इस अधिकार का उपयोग देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत के पत्रकारों तथा समाचारपत्रों ने 'अपने' स्वार्थ के लिए किया है, जो सदा देश के हित के अनुकूल नहीं रहा है। इस बात को बहुत तरह से सामने लाया गया है कि भारत के समाचारपत्रों की संख्या और प्रसार संख्या बढ़ी है और उनका प्रभाव कम हुआ है। इसकी जड़ में कहीं यही तो नहीं है कि स्वतन्त्रता के पहले पत्रकारों के अपने स्वार्थ देशहित मे समाविष्ट थे और अब ऐसा नहीं है!

रचनात्मक दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार आवश्यक है। ऊपर उल्लेख आया है राष्ट्र के शेष तीन स्तम्भों का। कहा तो यही जाएगा कि समाचारपत्रों में शासन-संचालको के विषय में ही तो सर्वाधिक सामग्री रहती है और जब विधायिकाओं के अधिवेशन होते हैं, उनके विवरणों को भी स्थान दिया जाता है। न्यायपालिका भी यथोचित स्थान प्राप्त करती है, परन्तु दृष्टिकोण यह बना लिया गया है कि या तो इनको सन्तुष्ट करने के लिए समाचार प्रकाशित करके इनको प्रसन्न करो या इनकी आलोचना ऐसी करो कि अपनी बिक्री ज्यादा बढे और अपने से लोग ज्यादा डरें। जो वास्तव में जनसेवा, लोकहित और सर्वसाधारण का जीवन-स्तर उठाने के कार्य हुए हैं और हो रहे हैं, उनके विषय में परिपूर्ण विवरण कम प्रकाशित होते हैं। अनेक सफल सम्पादकों का भी प्रतिउत्तर में प्रश्न रहता है कि इन सबको कौन पढ़ेगा? पत्रकारिता ही यह है कि जो अपठनीय है, उसे पठनीय बनाया जाए। इसमें हार मानना अपना बौनापन सिद्ध करना है।

इसे दूसरी तरह इस प्रकार देखा जाना चाहिए। स्वतन्त्रता के बाद कर, उप-कर, अप्रत्यक्ष-कर के रूप में बहुत अधिक वसूली भारत की जनता से हुई है। इसका विवरण पंचवर्षीय योजनाओं में है और वार्षिक आय-व्यय विवरणी में। इन्हें सम्बन्धित विधायिकाओं के सामने तथा सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किया जाता है। आवश्यकताओं के अनुपात में व्यय के भाग बनते जाते हैं। इनमें से अधिकांश जनसाधारण के सीधे लाभ के लिए होते हैं। उनके विषय में उसी अनुपात में समाचारपत्रों में स्थान का निर्धारण क्या बहुत अनुचित अपेक्षा है? सिचाई कृषि बिजली शिक्षा चिकित्सा किसी को लें कम व्यय इन पर नहीं

हुआ है और इनमें से अनेक के विषय में हमने विश्व-कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इसका ज्ञान, आभास और उत्फुल्लता कितनी समाचारपत्रों के पाठकों को है।

स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि जो देशवासियों का जीवनस्तर उठाने के लिए किया जा रहा है, उसके प्रति आस्था और उत्फुल्लता हो। स्वतन्त्रता की रक्षा सर्वसाधारण में उसके प्रति मनोभाव से होगी और अगर यह भावना बढ़ती गई कि स्वतन्त्रता के बाद कुछ हुआ ही नहीं, तो स्वतन्त्रता संकट में पड़ जाएगी। इस प्रक्रिया का रचनात्मक पक्ष अधिक दुरूह है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह पत्रों-पत्रकारों का विशिष्ट दायित्व है। इसे बहुत विस्तार से समझाए जाने की आवश्यकता है, परन्तु मुख्य प्रश्न दृष्टिकोण का है। वह रचनात्मक लेखन के पक्ष में नहीं है, जो स्वतन्त्रता की सुरक्षा के विपक्ष में पड़ता है।

इसका एक पहलू यह भी है कि किस प्रकार का चरित्र देश में विकसित होना चाहिए, किस प्रकार का चरित्र विकसित हो रहा है। अत्यन्त निराशा और अति अधिक नाराजी इस बारे में पढ़ने को समाचारपत्रों में मिलती रहती है। दिन-प्रतिदिन के समाचारपत्र पढो तो मन पर यही असर पड़ेगा कि सारा देश भ्रष्टाचार में डूबा है, ऐसी बात नहीं है। भ्रष्टाचार और भ्रष्टचारियों की चर्चा अधिक होती है। अधिकांश देशवासी तथा अधिकाश प्रक्रिया समुचित साधनों से वांछनीय मार्ग पर ही कार्यरत हैं। लगभग आधे देशवासी खेती पर लगे हैं। वे क्या भ्रष्टाचार करेंगे! वे भ्रष्टाचार के सताए अवश्य हैं। फिर भी, यह उनके ही प्रयत्न का परिणाम है कि देश स्वतन्त्रता के बाद अन्न में प्राय: आत्मनिर्भर हो गया है—एक ऐसी स्थिति जो भारत देश को शताब्दियों के बाद देखने को मिली है और जिसने सारे संसार मे भारत का और भारत की स्वतन्त्रता का सम्मान बढ़ाया है।

चरित्र की गति ही यह है कि यह सद्चरित्र से अनुप्राणित होता है। अधिकांश धर्म-कथाएँ सद्चरित्र व्यक्तियों की जीवन-गाथाएँ हैं। ऐसे व्यक्ति और उनके कार्य समाचारपत्रो में कम स्थान प्राप्त करते हैं तब समाचारपत्र क्यों अपेक्षा करते हैं कि ऐसे व्यवहार को व्यापकता प्राप्त होगी। भ्रष्टाचार को अधिक स्थान देकर सदाचार की अभिलाषा करना निरी दुर्बुद्धि है। स्थिति यह है कि कम लोग समाचारपत्र पढ़ते हैं, ज्यादा लोग सदाचारी हैं। जैसे-जैसे इस अन्तर में कमी होगी, देश में चरित्र का संकट बढ़ेगा। यह तभी रुक सकता है जब पत्रकार और समाचारपत्र अपने लेखन को परिशुद्ध तथा सद्प्रेरित रखें।

भोग-विलास, कामोत्तेजन विषयक लेखन और पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़-सी आई हुई है। ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनमें भाई-बहन, पिता-पुत्री के अवैध सम्बन्ध का उत्तेजनाकारी विवरण विस्तार से होता है। ऐसी रचनाएँ, पत्रकारिता, पत्र-पत्रिकाएँ चल रही है, समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता के नाम पर और इस सिद्धान्त पर कि 'फ्री एन्टरप्राइज' का अबाध अधिकार समाचारपत्र-संचालकों को भी है। यह साथ में है कि ऐसा लेखन करना लेखक और सम्पादक भी अपना ज़न्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। राष्ट्र इस तरह नहीं बना करते। ऐसा भोगवाद सबल-से-सबल राष्ट्र के दुर्दिन, सम्मान-हानि और अस्तित्व-नाश का कारण हुआ है। 'फ्री एन्टरप्राइज' के लिए विदेशी भाषा का शब्द इसलिए काम में लाया जा रहा है, क्योंकि इस सिद्धान्त का ऐसा रूप भारत की परम्परा तथा भारतीयता की भावना के विपरीत है। इसे इस देश ने कभी श्रेयस्कर नहीं माना, और भविष्य के लिए भी यह भारत के वास्ते श्रेयस्कर नहीं हो सकता। यदि यह भारत के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता तो यह भारत की स्वतन्त्रता के लिए भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ऐसा ही अन्योन्याश्रिय सम्बन्ध दोनों का आपस में है।

❑

'हस्तक्षेप' से बचाव का रास्ता

समाचारपत्रों ने अपने आचार के विषय में कम ध्यान नहीं दिया है। जब से देश स्वतन्त्र हुआ है और उसके भी पहले सम्पादकों के संगठन आचार संहिताएँ बनाते रहे हैं। यह क्रम संसार के अन्य देशों में भी चलता रहा है और पत्रकारों तथा सम्पादकों के जो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं, उन्होंने भी अपनी-अपनी ओर से आचार संहिताएँ प्रस्तुत की हैं। भारत के पहले प्रेस कमीशन ने एक आदर्श आचार संहिता प्रस्तुत की थी।

सरकारें जो देश में बनती रही हैं, उनकी ओर से अप्रत्यक्ष, और युद्ध अथवा आपातकाल जैसी विशेष स्थितियाँ होने पर प्रत्यक्षत: सम्पादकों और समाचारपत्र-स्वामियो पर जोर डाला जाता रहा है कि समाचारपत्रों को अपना व्यवहार सुचारु, मर्यादित, राष्ट्रहितकारी और पत्रकारिता की परम्पराओं के अनुरूप रखने के लिए, अपनी ओर से अपने लिए आचार संहिता बनाकर उसका अनुपालन कराना चाहिए। इसे कभी 'हस्तक्षेप', कभी 'सुझाव' और कभी 'स्वाभाविक और समुचित परामर्श' माना गया है, परन्तु इसको कभी इस तरह स्वीकार नहीं किया गया कि देश की सरकारों को सन्तोष तथा निश्चिन्तता हो सके। आज भी स्थिति यह है कि जो सरकारें हैं—केन्द्र की और राज्यों की—उनके प्रतिनिधि और प्रवक्ता जब उन्हें अवसर मिलता है समाचारपत्र चलाने वालों को उपदेश देते रहते हैं। इस क्रम की निरन्तरता से यह प्रकट होता है कि जिन स्थितियों में आचार संहिता की आवश्यकता अनुभव और प्रतिपादित होती रही है, उनमें अन्तर नहीं आया है अर्थात् चाहे इसे स्वच्छन्दता कहें, चाहे अराजकता, यह भारतीय समाचारपत्रों में बनी हुई है।

उपचार इसका कुछ होना चाहिए, इसका सरकारों के प्रतिनिधियों की ओर से प्रतिपादन तो हो रहा है। जो पत्रकारों और सम्पादकों के संगठन हैं, वे भी समय-समय पर अपने आचार-व्यवहार के विषय में विचार और निश्चय करते रहते हैं। अधिक और उचित मन्तव्य यही बना है कि अपने व्यवहार और आचार के विषय में समाचारपत्रों को किसी बाहरी सत्ता को न हस्तक्षेप करने का, न निर्देश देने का अधिकार देना चाहिए; न किसी के इस अधिकार को स्वीकार करना चाहिए। साथ-साथ व्यक्तिश: पत्रकार और सम्पादक, और उनके सभी संगठन यह स्वीकार करते रहे हैं कि उनकी स्वतन्त्रता की सुरक्षा तभी बनी रह सकेगी जब उनमें आन्तरिक निरीक्षण, नियन्त्रण और आवश्यक होने पर दण्ड की भी विश्वसनीय व्यवस्था होगी।

इसके दो पहलू ज्यादा सामने आए हैं।

समाचारपत्रों ने अपने दो वर्ग बना लिए हैं। कुछ अपने को 'बड़े', 'अंग्रेजी के' अधिक शालीन और आदरणीय मानते हैं और यह समझते और कहते हैं कि उन्हें न पर उपदेश की [illegible] है, न किसी ओर से हस्तक्षेप की [illegible] वे जितने अपनी स्वतन्त्रता के प्रति

सचेष्ट हैं, उतने ही अपने आचार-व्यवहार के प्रति आश्वस्त भी हैं। दूसरे वर्ग में 'छोटे पत्र' आते हैं, विशेषतः हिन्दी और भारतीय भाषाओं के, जिनके अनुचित और असद् व्यवहार के उदाहरण दे-देकर जो उपर्युक्त प्रथम वर्ग के सम्पादक और पत्रकार हैं, वे ही उनके विषय मे अधिक मर्यादा, समुचित आचार संहिता और उसके अनुपालन तथा उसके उल्लंघन पर दण्ड का प्रतिपादन करते रहते हैं। इस प्रकार देश के समाचारपत्र-वर्ग में दो विभेद हो गए हैं, सम्पादकों और पत्रकारों के स्वयं किए, जिनमें से एक के लिए आचार संहिता की आवश्यकता मानी जाती है और दूसरे के लिए नहीं।

इस बीच प्रेस कौंसिल के प्रयत्न चल रहे हैं, जिसकी ओर से निश्चय यह हुआ है कि लिखित और सुनिश्चित आचार संहिता की आवश्यकता तो नहीं है लेकिन अलग-अलग मामलों में उसकी ओर से जो निश्चय किये जाते हैं, परामर्श दिए जाते हैं, निर्देश दिए जाते हैं, उनका सम्मिलित स्वरूप ही भारत के समाचारपत्रों के लिए काफी मार्गदर्शक बनता जाना चाहिए। इससे आचार संहिता की आवश्यकता का अभाव तो प्रतिपादित नहीं होता, परन्तु समाचारपत्र स्वविवेक, स्वनिश्चय और 'अपनी संस्था' प्रेस कौंसिल के परामर्श से लाभान्वित होकर अपना व्यवहार-आचार संयत, समुचित बनाए रहें, इसका आग्रह अवश्य बनता है।

आचार-व्यवहार में नियन्त्रण-निरीक्षण की, आचार-संहिताओं और उनके अनुपालन के इतने आग्रह की आवश्यकता क्यों हुई और क्यों बढ़ती जा रही है? स्वतन्त्रता के पहले और स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में जो सन्तोषकारी स्थिति अपने आप बनी हुई थी, उसे प्राप्त करने के अब, स्वतन्त्रता और उसके पाँच दशकों के बाद, इतने आग्रह और प्रयत्न क्यों हैं?

व्यक्ति हो चाहे संस्था, चाहे समाचारपत्र, उसका आचार-व्यवहार उसकी आवश्यकता से संचालित होता है। उसमें संस्कार, सभ्यता, परिवेश और परम्परा के अनुसार नियन्त्रण और परिसीमन रहता है, परन्तु आवश्यकता फिर-फिर अतिक्रमण के लिए उकसाती रहती है। स्वतन्त्रता के पहले सभी की आवश्यकता सर्वोपरि रूप में यही थी कि देश स्वतन्त्र हो, तदनुरूप सभी इस ओर सचेष्ट थे, इसके लिए पूरे प्रयत्न, त्याग और बलिदान के लिए उद्यत रहते थे। इस सिलसिले का हमारे यहाँ अत्यन्त आदरणीय और अवलोकनीय इतिहास है। स्वतन्त्रता के बाद उसने सभी क्षेत्रों में इस उद्देश्य से स्वच्छन्दता का, अमर्यादा का, राष्ट्र-अहित का, रूप लिया कि स्वार्थ-साधना हो, धन का अधिग्रहण और संकलन हो तथा 'अपनी' उन्नति हो, चाहे इसमें दूसरों की उपेक्षा हो, चाहे हानि। स्वतन्त्रता सबने मिलकर सबके हित में प्राप्त की थी, स्वतन्त्रता का उपभोग हर कोई अकेला-अकेला और केवल अपने हित में करना चाहता है और इस पर कोई बंधन नहीं चाहता, न ही मानता है कि 'उन्नति' कितनी हो, और यह किस प्रकार प्राप्त की जाए।

समाचारपत्र यदि समाज के दर्पण माने जाते हैं तो उनसे भिन्न व्यवहार-आचार की अपेक्षा क्यों की जाती है? परन्तु कोई पत्रकार या समाचारपत्र अपने को केवल मात्र 'दर्पण' मानकर नहीं चलता। वह नेतृत्व, मार्गदर्शन, सुधार, निन्दा और जितना बस चलता है, दण्ड देने का भी अपने लिए अधिकार चाहता है. और उसका बहुत मात्रा में उपयोग भी करता है। इसमें स्वत स्वाभाविक रूप से न्यायोचित, कुछ कर्त्तव्य और कुछ मर्यादाएँ बनती हैं इन्हीं को समय समय पर आचार संहिताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है

अब प्रश्न यह आ गया है कि अगर आचार संहिता के अनुरूप कार्य नहीं होता, चाहे वह स्वीकार की हुई हो चाहे केवल प्रतिपादित की हुई हो, तो समाचारपत्रों के लिए स्थिति क्या बनेगी? दुराचार, दुष्टाचार, भ्रष्टाचार यदि किसी का स्वीकार नहीं किया जा सकता तो वह समाचारपत्रों का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। विकल्प यही है कि इसका उपचार स्वयं समाचारपत्र करें अथवा कोई दूसरा उन्हें इसके लिए बाधित करे। समाचारपत्र ऊपर बताए अनुसार अपने दो वर्ग बनाकर अपने को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न में हैं, परन्तु समाचारपत्रों की स्थिति, स्वतन्त्रता और सम्मान अविभाज्य होता है। जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, समाचारपत्रों की एकता की दुहाई दी जाती है और बहुत बार उसका अच्छा प्रदर्शन भी कर लिया जाता है। परन्तु जो दिन-दिन का व्यवहार होता है, वह भी इसी प्रकार की एकता की परिधि के बाहर नहीं रखा जा सकता। जो समाचारपत्र सचमुच संयत, शुभ और स्वीकार्य हैं, उनको उन्हें अपने साथ रखने का प्रयत्न करना होगा जो उनके अनुसार पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

इसके लिए संगठित और सुनिश्चित प्रयत्न का अभाव रहा है। समाचारपत्रों में और उनके विभिन्न अवयवों में, आपसी वार्तालाप नहीं है, न ऐसे मंच हैं जहाँ मिलकर चर्चाएँ हो। एक-दूसरे का व्यवहार तो प्रतिफल प्रस्तुत नहीं कर पा रहा, परन्तु मिल-बैठकर सोच-विचार से अमर्यादा को अवश्य कम किया जा सकता है, शर्माया जा सकता है, दण्ड की धमकी दी जा सकती है और अन्ततः उसका उपयोग भी किया जा सकता है। समाचारपत्र यदि बिगड़ी हुई स्थिति को शीघ्र स्वयं नहीं सम्भालेंगे तो निश्चित रूप से निकट भविष्य मे उन्हें 'बाहरी' हस्तक्षेप का सामना करना पड़ेगा, चाहे वह विधायिका की ओर से हो, चाहे न्यायपालिका की ओर से, चाहे कार्यपालिका की ओर से। इनसे भिन्न समाचारपत्र अपने को 'चौथा स्तम्भ' मानते हैं, परन्तु समय ऐसा नहीं है जब इस चौथे स्तम्भ की किसी भी प्रकार की दुर्बलता को सहा जा सके। बाह्य संकटों के अतिरिक्त देश का आन्तरिक पुनर्निर्माण भी विसंगत और अलाभप्रद हो गया है। यह जितनी समाचारपत्रों के लिए चुनौती है, उतनी ही अपने विकास के लिए सुविधा भी, लेकिन उसके परिपूर्ण उपयोग और उपभोग के लिए समाचारपत्रों को अपनी पात्रता बनाये रखनी होगी।

समाचारपत्रों को इस भ्रम और चिढ़ से भी अपने को मुक्त करना होगा कि कोई दूसरा उन्हें परामर्श नहीं दे सकता, उनकी आलोचना या निन्दा नहीं कर सकता और उनके काम में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, उनके 'अधिकार' कम नहीं कर सकता। पहली बात यह है कि जो अधिकार कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायिका के हैं, उनसे इनमें से कोई अपने को समाचारपत्रों के सम्बन्ध में दायित्वमुक्त नहीं कर सकता, न इनके अपने-अपने अधिकार समाचारपत्रों के लिए विलुप्त अथवा विसुप्त हो जाते हैं। इस पर चाहे जितना जोर समाचारपत्र दें, इस बारे में चाहे जितनी अपनी परम्परा का प्रतिदिन करें, इसे वे मनवा नहीं सकते। वे इसके प्रतिकूल प्रभावों से उतना ही बच सकते हैं जितना स्वयं अपने निश्चय से, अपने सामूहिक एवं संगठित प्रयत्नों से, अपनी मर्यादाओं के स्व-निर्वहन से, इसकी आवश्यकता कम बनाए रख सकेंगे।

❑

समाचारपत्रों में सम्पूर्णता तथा स्पष्टता की आवश्यकता

जिन दिनों उदयपुर में एक ठेकेदार द्वारा एक बालक की बलि देने की समाचारपत्रो मे बहुत चर्चा थी और राजस्थान विधानसभा में भी बहुत हंगामा हो रहा था, दिल्ली से प्रकाशित एक प्रसिद्ध पाक्षिक में इस आशय का समाचार प्रकाशित हुआ कि गत वर्ष बस्तर के जगदलपुर इलाके में पाँच वर्षीय बालक की गला घोंटकर हत्या करने के अपराध में रामभरोसे शर्मा को आजन्म कारावास की सजा दी गई है। हत्यारा स्वयं बालक का बाप था और सरकारी सहायक अभियन्ता के 'उच्च और उत्तरदायी' पद पर कार्य कर रहा था। उसने कुछ सिद्धों के चक्कर में आकर सिद्ध बाबा को अपने पुत्र की बलि चढ़ा दी ताकि बाबा प्रसन्न होकर उसे मालामाल कर देंगे, ऊँचा ओहदा दिला देंगे और बालक को भी पुनः जिन्दा कर देंगे।

दोनों घटनाएँ अत्यन्त निन्दनीय हैं और हर भारतवासी का सिर शर्म से नीचा करती हैं। एक को लेकर आजन्म कारावास हो गया, दूसरे के बारे में अदालती कार्रवाई तब चल रही थी। मैं यहाँ प्रश्न दूसरा उठाना चाहता हूँ।

यह मालूम नहीं है कि जगदलपुर की घटना की सार्वजनिक प्रतिक्रिया कितनी, क्या और कैसे हुई थी, और प्रधानमन्त्री तक को निन्दा में पत्र लिखना पड़ा था या नहीं। उदयपुर की घटना की जो बातें मालूम हुईं, उनसे एक बात अवश्य सामने आई कि इसकी चर्चा समाचारपत्रों में तब तक नहीं उठी जब तक थोड़ी देरी से, पुलिस ने कार्रवाई आरम्भ नहीं की, और शोरोगुल तो तब हुआ जबकि विधानसभा में इसे एक विवाद का विषय बना लिया गया। घटना के होते ही इसे समाचारपत्रों में स्थान क्यों नहीं मिला, और पुलिस कार्रवाई के बाद तो स्थानीय समाचारपत्रों में थोड़ी-बहुत चर्चा आ गई थी, उसी को लेकर इसे अखिल भारतीय स्तर के दैनिकों तथा साप्ताहिकों में स्थान क्यों नहीं मिला? क्यों प्रतीक्षा विधानसभा की ही करनी पड़ी? फिर तो दिल्ली से भी, जयपुर से भी, और भी कुछ जगहों से 'बडे-बड़े' पत्रकार उस गाँव में पहुँचे और कई छोटी-मोटी बातें कालमों को भरने लगीं।

मेरा प्रश्न सामाजिक प्रश्नों पर समाचारपत्रों के दायित्व, और नेतृत्व का है। उदयपुर वाले समाचार पर समाचारपत्रों ने अपनी ओर से आवश्यक रुचि और चेष्टा का परिचय नहीं दिया, विधानसभा का, एक सीमा तक प्रधानमन्त्री का, नेतृत्व उन्हें स्वीकार करना पड़ा। स्वय समाचारपत्रों पर इस तथ्य से जो टीका होती है, उसे भी छोड़ देना चाहिए लेकिन जो समाचारपत्र का पाठक है, उसी की दृष्टि से विचार करें तो प्रश्न उठता है कि उसका भी समाचारपत्र सही मार्गदर्शन नहीं कर पा रहे।

स्वाधीनता के लिए सग्राम करने वाले और शासन का लोकतन्त्री स्वरूप अगीकार कर लेने वाले देश में राजनीति का महत्त्व सर्वोपरि रहेगा ही लेकिन यह इतना नहीं हो

सकता कि जन–जीवन के आर अग ढ़क ही जाएँ। फिर समाज–सुधार का तो आधारभूत महत्त्व है और सामाजिक अवस्था राजनीति को भी कम प्रभावित नहीं करती।

मैं बम्बई में स्वर्गीय श्री के. नटराजन से मिलने गया था। आयु के अनुसार ही नही, पत्रकारिता में भी, मैं उठ रहा था और वे वयोवृद्ध तथा प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि की चोटी पर थे। उनका साप्ताहिक 'इण्डियन सोशल रिफोर्मर' आकार में बहुत छोटा था लेकिन लगभग उसी आकार का जो महात्मा गाँधी ने अपने 'हरिजन' को दे रखा था और श्री नटराजन का पत्र गाँधीजी के पत्र से बहुत कम ध्यान से नहीं पढ़ा जाता था—माना यह जाता था कि तत्कालीन वाइसराय दोनों पत्रों को एक साथ पढ़ते थे। उत्सुकता और श्रद्धा लेकर मैं गया था और जब उठने लगा वे निचली मंजिल को जाने वाली सीढ़ियों तक मुझे पहुँचाने आए। जब मैं एक सीढी उतर गया, उन्होंने मेरे दोनों कंधों पर अपने हाथ रख लिए और मेरी आँखों में अपनी आँखें डालकर कहने लगे कि एक बात को सदा ध्यान में रखना—सब सुधारों की जड़ समाज–सुधार है।

वह, पुरानी, बात मुझे रह–रहकर याद आती रहती है, विशेषत: श्री नटराजन के आयु के कारण झुके और प्रतिष्ठा के कारण उठे व्यक्तित्व को लेकर। वह क्षण भुलाया नही जा सकता, न वह बात भुलाने की है। लेकिन ऐसी भी क्या याद जो काम न आए!

उन्हीं दिनों लन्दन के 'न्यू सोसायटी' के सम्पादक श्री पाउल बार्कर का यह मन्तव्य मैंने पढ़ा था—"मैं तो मानता हूँ कि समाचारपत्रों का जितना दायित्व नितान्त राजनीतिक घटनाओं के प्रति है, कम–से–कम उतना ही दायित्व सामाजिक परिवर्तनों का विवरण प्रस्तुत करने का भी है। सामाजिक परिवर्तन तो वास्तव में सब बातों की जड़ है।" श्री बार्कर ने अपने देश में कपड़ा–बुनाई और नगरों के बढ़ते महत्त्व के कारण हुई क्रान्ति का उल्लेख करके बताया है कि जब तक कार्ल मार्क्स ने इन परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिलाया, इनका विवरण अधिकतर समाचारपत्रों में नहीं, सरकारी प्रतिवेदनों एवं विवरणपत्रों में, और थौडा बहुत उपन्यासों में देखने को मिलता था। उनका कहना था—"दिन–प्रतिदिन जब हम बोलते, लिखते और अपने दैनिक जीवन के क्रम को पूरा करते रहते हैं, हमारी नाक के नीचे एक क्रान्ति चलती रहती है और उसको समझना ही सबसे कठिन होता है। संसार की अनेक ससदों में सामाजिक विधेयकों का इतिहास इस दयनीय स्थिति को प्रकट करता है कि किस प्रकार विधायक उस स्थिति को पूरी तरह समझते ही नहीं हैं, जिसको सुलझाने और सुधारने के प्रयत्न में वे इतना श्रम और समय लगाते हैं।" इसके उदाहरण उन्होंने स्वयं ब्रिटेन की संसद में से दिए, और कहा—"ऐसी बातें मालूम नहीं होतीं, यह समाचारपत्रों के लिए शर्म की बात है। ब्रिटेन में तो सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी तथ्यपूर्ण सूचनाओं को सामाजिक वैज्ञानिकों द्वारा शोध एवं अध्ययन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसमें समाज विज्ञान की अप्रतिष्ठा नहीं है। समाज विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें परिणाम प्राप्त करने मे समय लगता है, पुस्तको के मुद्रण में तो दैनिक एवं साप्ताहिक समाचारपत्रों से ही नहीं, मासिक पत्रिकाओं से भी अधिक समय लगता ही है। फिर, जिस तरह का 'आँखों देखा' सर्वेक्षण समाचारपत्र चाहें तो निरन्तर जारी रख सकते हैं, वह समाज विज्ञान के लिए सम्भव भी नहीं है यह सर्वेक्षण किस प्रकार किया जा सकता है इसकी शिक्षा समाज विज्ञान तथा वैज्ञानिकों से प्राप्त कर सकते हैं। सीखने की बात यह आधारभूत

शिक्षा मात्र नहीं है कि दलगत राजनीति के शोरगुल अथवा अपराधों की दौड़-भाग अथवा खेलकूद के चमत्कारों का विवरण प्रस्तुत करने से अधिक महत्त्व सामाजिक परिवर्तन का विवरण अपने पाठकों को देना है। सीखने की बात 'समाचार मूल्य' सम्बन्धी उस मान्यता को भूलने की है, जो नार्थ क्लिफ के समय से ब्रिटेन में और हेरेस्ट के समय से अमेरिका मे आधुनिक पत्रकारिता के सम्बन्ध में बनी हुई है। इसके कारण एक घटना को 'रोचक' अथवा 'समाचारपूर्ण' बनाने की परम्परा बन गई है लेकिन इससे वास्तविक तथ्य बहुत प्रकट नहीं होते और तारतम्य तो पल्ले पड़ता ही नहीं।" और उदाहरण देकर उन्होंने बताया कि अधिकांश समाचारपत्र अपने अधिकांश अंकों में सामाजिक परिवर्तनों को अपने पाठकों तक अपर्याप्त तथा छिछले ढंग से पहुँचाते हैं। तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि लोग यह महसूस ही नहीं कर पाते कि सामाजिक दृष्टि से संसार में क्या हो रहा है।

श्री बार्कर का कहना था कि स्थान ऐसे लेखों को दिया जाना चाहिए, जो 'समाचार' के परम्परागत स्वरूप से दूर जाएँ, घटना के गर्भ तक पहुँचें और पूरे तथ्य एवं सन्दर्भ सहित बात को समझाएँ। ऐसे लेख समय भी लेंगे, स्थान भी, और आवश्यकता हो तो उनको एक से अधिक अंकों में फैलाना होगा। इस ओर ब्रिटेन में सुधार हुआ है, तीन कारणों से—(1) पाठकों का शैक्षणिक स्तर उठा है तथा रुचि बदली है और इस कारण अच्छे समाचारपत्र ज्यादा पढ़े जाने लगे हैं (और उनका प्रभाव बहुप्रचलित पत्रों पर भी पड़ रहा है), (2) स्वयं समाचारपत्र समझने लगे हैं कि थोड़ी-सी जगह साहित्य तथा कला को देकर बाकी सारी की सारी राजनीति को सौंप देने के कारण कितना अधिक वास्तव में छूट जाता है, (3) टेलीविजन का आगमन, जिससे सबसे अधिक समाचारपत्र अपने कार्यक्षेत्र एवं दायित्व के सम्बन्ध में पुनर्विचार करने के लिए विवश हुए हैं। आवश्यकता ऐसे लेखकों को सामने लाने की है, जो प्रायः प्राध्यापकों की तरह साधिकार आयोजन, शिक्षण, नागरिक समस्या, ग्रामीण संकट आदि विषयों पर लिख सकें। केवल मात्र 'सब विषयों पर सदा' लिखने वाले पत्रकारों से अब काम नहीं चलेगा। ऐसे पत्रकारों का स्थान रहेगा, और विशेषज्ञों के लिए वे उदाहरण तथा सहायक का कार्य भी करेंगे, लेकिन यदि परिवर्तन के लिए आन्दोलनों को सफल बनाना है तो विशेषज्ञों को समाचारपत्रों में लाना ही होगा।

इस तथ्य को ब्रिटेन और अमेरिका के ही नहीं और देशों के तथा कुछ भारत के भी समाचारपत्रों ने समझा है। पत्रकारों की शैक्षणिक योग्यता तथा प्रशिक्षण का स्तर निरन्तर ऊँचा उठता जा रहा है। लेकिन सम्पादकों और समाचार-सम्पादकों के पल्ले बात पूरी तरह नहीं पड रही। साधन जिनके पास हैं, वे भी राजनीति के भँवर से नहीं निकल पा रहे। इधर-उधर प्रकाश-किरणें दिखती हैं लेकिन आवश्यकता पत्र-जगत में क्रान्ति उसी प्रकार की करने की है जैसी कि सामाजिक जगत में हो रही है—निरन्तर और आधारभूत। समाचारपत्र समाज का दर्पण बताए जाते हैं, इसके लिए तो उन्हें सम्पूर्ण एवं स्पष्ट दर्पण बनना पड़ेगा।

❑

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाचार-संकलन एवं प्रेषण

परिप्रेक्ष्य और परिस्थितियाँ कुछ भी हों, प्रदेश और प्रशासन कोई भी हो, समय और स्थान कैसा भी हो, समाचार के मूल तत्त्व नहीं बदलते। पढ़ने वाले को, अपने पाठक को, जो रुचिकर लगे, जो उसके लिए आवश्यक हो और जो उसके हित में हो, वही समाचार होता है।

इसमें पाठक की बात सर्वोपरि है। बहुत बार संवाददाता, सम्पादक, पत्र-संचालक, शासन, शासन के विरोधी, अपने मित्र, अपने हितसाधक सामने रख लिए जाते हैं, उन्हें इसके निर्णय पर प्रभावित होने दिया जाता है कि क्या समाचार है। यही सबसे बड़ी चूक और धोखा हो जाता है।

समाचारपत्र इनमें से किसी के लिए नहीं निकाला जाता—पत्र के संचालक, स्वामी और सम्पादक के लिए भी नहीं। पत्र मात्र पाठक के लिए निकाला जाता है। इन दोनो स्थितियों में जितना समझौता होता है, जितना सम्मिश्रण होता है, उतनी ही अशुद्धता पत्रकारिता में आती है, और उतनी ही प्रतिष्ठा पत्रकार की और समाचारपत्र की गिरती है।

डाक्टर की बात लें। वह मरीज से अधिक अपनी आय का, दवा बनाने वालों के हित और अर्जन का, तरह-तरह की जाँच करने वालों की दूकानदारी का ध्यान रखे तो क्या वह अधिक सफल हो सकता है, क्या आप उसके पास अपने बच्चे को लेकर जाएँगे? यही की यही बात पत्रकार और समाचारपत्र पर लागू होती है।

यह बात जितनी आसानी से कह और सुन ली जाती है उतनी आसान नहीं है। उलटकर ऊपर उल्लिखित एक-एक को लेना होगा।

संवाददाता परिश्रम और प्रयत्न पूरा तथा निष्पक्षता से नहीं करे तो वह ईमानदारी से अपना कार्य नहीं कर सकता। एक बात सामने आती है, एक घटना होती है, एक बात कही जाती है, परन्तु उसका एक ही पक्ष नहीं होता। जितने अधिक पक्ष समाचार में सम्मिलित किए जा सकेंगे, उतना ही सम्पूर्ण और शुद्ध समाचार होगा। बहुत बार आलस्य के कारण असत्य समाचार सम्प्रेषित हो जाते हैं। सम्पादक से लेकर अपने हित-साधक तक जो ऊपर गिनाए गए, वे बहुत बार समाचार की शुद्धता के शत्रु हो जाते हैं। इनमें विज्ञापकों का नाम अलग से नहीं गिनाया गया, चूँकि पत्र-संचालक उनका भी प्रतिनिधित्व और हित-संरक्षण कर लेते हैं, परन्तु संवाददाताओं की बात जब आती है, विज्ञापनदाताओं का अलग से उल्लेख आवश्यक हो जाता है, क्योंकि पत्र-संचालक से भी अधिक सन्निकट उनकी उपस्थिति और उनका प्रभाव हो सकता है। जो संवाददाताओं की स्वीकृत परिभाषा है, उसमें वे तो हो नहीं माने जा सकते जो विज्ञाप्त [illegible] भी काम करते हैं यह अलग से बात है कि विज्ञापन [illegible] संवाद प्रेषक अति अधिक इस संकट में रहते हैं कि उनके

भेजे संवाद और समाचार पर-प्रेरित हों। विज्ञापक अनेक रूपारूपों में सामने आते हैं— विक्रेता, वितरक, उत्पादक, प्रोत्साहक तथा आय-अर्जक। राजनेता और शासन संचालक भी एक प्रकार के विज्ञापक ही होते हैं, यद्यपि उनका प्रभाव अन्य प्रकार से भी असर डालता है।

संवाददाता को पाठक के प्रति समर्पित रहना चाहिए। इसके लिए इतने प्रलोभनो से बचने की उससे अपेक्षा की जाती है कि सामान्य मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं रहता। संवाददाता को समाज में जो विश्वास और सम्मान प्राप्त है, उसके उत्तर में उससे अपेक्षा की जाती है कि वह परिपूर्णता से तथा परिशुद्धता से समाचार-संकलन और लेखन करेगा। हर समाचार उसके लिए चुनौती होती है और पाठक के प्रति उसकी ईमानदारी की परीक्षा।

जो ईमानदारी नहीं होती, उसको यहाँ उपस्थित करना आवश्यक नहीं है, सिवा इसके कि बहुत बार संवाददाता द्वारा पूरे प्रयत्न तथा परिश्रम के, और उसके मन में पूरी ईमानदारी के, समाचारों में चूक और गलतियाँ हो जाती हैं। इनको मनुष्योचित माना जाएगा, कोई संवाददाता अति मानव नहीं होता, परन्तु यदि वह अपने को मानवीय दुर्बलताओं का दास बनने देता है तो वह अपने काम के लायक नहीं रहता।

ये सब बातें मात्र परिभाषा की ओर प्रशिक्षण की नहीं हैं। आज भारतीय पत्रकारिता के सामने अपनी घटती प्रामाणिकता की समस्या अति विकट हो गई है। समाचारपत्रों की संख्या और उनकी प्रसार संख्या भी बढ़ती जा रही है, उसी अनुपात में उनका सम्मान, उनकी विश्वसनीयता नहीं बढ़ रही। कहना तो यह चाहिए कि जितनी अभिवृद्धि होती जाती है उतना ही तिरस्कार बढ़ता जा रहा है। इसके मूल में यही बात है कि पाठक से अधिक उन तत्त्वों का ध्यान रखा जाता है, जिनका उल्लेख ऊपर आया है। इस संकट को लाने मे किसका योगदान सर्वाधिक रहा, इस पर विवाद हो सकता है, यद्यपि दायित्व पूरा सम्पादको और संचालकों को ही उठाना होगा। उनके कान-आँख होने के नाते, संवाददाता भी दोष से नहीं बच सकते।

जब समाचारों को एक प्रकार से रंगने के आदेश 'ऊपर' से आएँ या ऐसा लगे कि सम्पादक जी या संचालक जी एक विशेष रंग के समाचार ही पसन्द और मन्जूर करेंगे, तब भी इतना धर्म तो संवाददाता का होता ही है कि वह समाचार जैसा कहा जाए वैसा भेजते हुए भी, साथ में वास्तविकता का विवरण भी भेजे, चाहे वह प्रकाशन के लिए नहीं हो। ऐसे मे संवाददाता को अपना पद त्याग देना चाहिए, ऐसा परामर्श दिया तो जा सकता है लेकिन यह परिस्थितियों में सम्भव कम होता है और रोज-रोज इसे देना पड़ सकता है।

रोज-रोज सम्पादक और संचालक आदेश नहीं भेजते, बहुत बार वे अपनी अपेक्षा परोक्ष ही रखते हैं। वे अपना हित चाहते हैं तो समाचारों के सच्चे स्वरूप में ही आने दे, उनका प्रकाशन चाहे जैसे किया जाए। गन्दी चीज के और ज्यादा गन्दा होने का डर होता है। आजकल आँकड़ों का युग है। कई बार प्रमाणित हुआ है कि उनमें अशुद्धता क्रमशः थोड़ी-थोड़ी मिलने से ही उनका अन्ततः प्रकाशित स्वरूप नितान्त असत्य हो जाता है। यह तो कहा ही गया कि सम्पादक और संचालक भी अगर शत-प्रतिशत ध्यान पाठक का नहीं रखेंगे तो उनकी प्रामाणिकता ही नहीं, उनकी अर्थ-साधना भी परिसीमित होगी।

शासन जितना व्यापक और बहुआयामी होता जाता है, उतनी ही उसकी गतिविधियाँ बढ़ती हैं और उतनी ही अधिक यह [illegible] बढ़ती है कि प्रत्येक गतिविधि का विवरण

इस प्रकार प्रकट हो कि शासन को अनुकूलता प्राप्त हो और शासनारूढ़ों की पुनः प्रविष्टि की सम्भावना बढ़े। विवरण इस प्रकार अतिरंजित होते जाते हैं। ऐसे संवाददाता इस दुराचार मे सबसे अधिक साझीदार अपने को बना लेते हैं जो आदतन प्राप्त विज्ञप्ति को जैसी-की-तैसी प्रेषित कर देते हैं। यदि सरकारी विज्ञप्तियाँ जैसी-की-तैसी प्रकाशित की जानी हो तो सवाददाता की आवश्यकता ही क्या रहे? संवाददाता घटनास्थल के अधिक निकट होते हैं, उनसे अपेक्षा की जाती है कि सरकारी विवरण को अपने प्रयत्न से परिशुद्ध करें।

बहुत बार आता है कि बिना बनी सड़क का भुगतान हो गया। यह स्थानीय कर्मचारी और ठेकेदार के बीच का मामला हो सकता है, परन्तु जनता के धन का व्यय होने के कारण यह संवाददाता का दायित्व बनता है कि वह सड़क के अस्तित्व से स्वयं सन्तुष्ट हो। सडक नहीं होने की शिकायत अगर कहीं और से आती है तो इसे सम्बन्धित संवाददाता की कर्त्तव्य-च्युति माना जाएगा।

यह उदाहरण छोटा दिया गया, क्योंकि इस बात को पैना और पक्का बनाया जाना आवश्यक है। सरकारें इतना धन व्यय करती हैं कि उसके उचित व्यय पर ध्यान रखा जाना तात्कालिक राष्ट्रीय आवश्यकता हो गई है। इस आवश्यकता का दूसरा रूप है, वह अपेक्षा जो प्रत्येक व्यय से होती है। अपेक्षाएँ पूरी नहीं होने से निराशा और नाराजगी होती है, जो इन दिनों काफी बढ़ रही है। बेरोजगारी और गरीबी मिटाने की योजनाएँ बार-बार बनी हैं, हर बार और अधिक विधि तथा वेग से। उन पर और अधिक ध्यान दिया जाना इसलिए आवश्यक है। ऐसे में संवाददाता का ही सर्वाधिक योगदान हो सकता है।

जो शासन के विरोधी हैं, वे अपनी-अपनी, बहुत बार अनर्गल और असत्य बाते तो कर लेते हैं, और आरोप लगाने में बहुत ही जल्दी करते हैं, लेकिन जो सरकार द्वारा किया जाता है, उसकी कमियाँ-गलतियाँ निकालने का अपना लोकतन्त्रात्मक दायित्व नहीं निभाते। जो सरकार का विरोध करना चाहते हैं, वे भी कम प्रलोभन नहीं देते। संवाददाता के पास इतनी जानकारी होनी चाहिए कि वह राजनेताओं के गलत दावों को जहाँ-की-तहाँ चुनौती दे सके।

यह बात शासन-संचालकों के साथ नहीं कही गई, क्योंकि उनके कही बातें बहुत अधिक होती हैं। हर बात पर यह प्रक्रिया लागू नहीं की जा सकती, यद्यपि उचित और आवश्यक यह हो गया है कि शासकीय दावों के भी दूसरे पक्ष को ढूँढने का यत्न किया जाए। लेकिन यदि कोई शासन-विरोधी नितान्त अनर्गल, अविश्वसनीय और अपमानकारी बात कहता है तो संवाद-लेखक का यह दायित्व बनता है कि वह उसका दूसरा पक्ष भी साथ-साथ प्रस्तुत करे, कम-से-कम उसका प्रयत्न तो पूरा करे। हर मामले में विपक्ष के नेता जो कहते हैं, उसे लेकर मुख्यमन्त्री के पास नहीं जाया जा सकता और इतना विपक्ष के नेता का अविश्वास करना उचित भी नहीं होगा। लेकिन नेता चाहे जितना ऊँचा और नाम वाला हो, उसके असत्य प्रचार में कोई पत्रकार साझेदार नहीं बन सकता। क्या किया जाए, यह समय और परिस्थिति पर निर्भर करेगा लेकिन विपक्ष के सब लोगों को यह भय रहना चाहिए कि उनकी कही बातों को प्रकाशन के पूर्व प्रमाणित कराने का यत्न किया जाएगा।

यहाँ यह प्रतिपादन नहीं है कि जो आलोचना प्रशासन की होती है, उसे दबाया या कम किया जाए जो बात अन्य सन्दर्भों में लागू होती है वही की वही यहाँ है कि पाठक

के पास नितान्त असत्य नहीं पहुँचना चाहिए और सत्य चाहे जितना कटु, विकट तथा विनाशक हो, उसे पाठक से छिपाया नहीं जाना चाहिए।

जो पत्र और पत्रकार सामान्यतः शासन और शासनारूढ़ राजनेताओं का पक्ष लेते हैं, मतलब उनकी बातें अधिक और पूरी देते हैं, उनको हेय दृष्टि से देखा जाने लगा है। चिन्तन विकृत हो गया है। जो अतिक्रमण है वह अधिक स्थान प्राप्त करता है, जो सामान्य गति है वह ध्यान देने योग्य नहीं रही है। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है, क्योंकि यही लोकतन्त्र की, निर्वाचित संसदीय प्रणाली की, माँग होती है। जो हमारा पाठक है, वही मतदाता होकर शासन-संचालक चुनता है। उसके द्वारा निर्वाचित क्या कहते-करते हैं, यह उसकी रुचि और हित का विषय है, उतना ही यह भी कि उनसे क्या गलती होती है। गलतियों को उभारना और उपलब्धियों को दबाना मतदाता और पाठक के पास सही-सही बात पहुँचाना नहीं हो सकता। जिसे पाठक-मतदाता पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित करते हैं, उसका साथ देना सीधा-सीधा मतदाता-पाठक की मर्जी निभाना होता है, जिसमें शरमाने की कोई बात नहीं होती। यह न्याय नहीं होता कि जिसे मतदाता-पाठक ने हराया है, उसे समाचारपत्र अधिक स्थान और सम्मान दें, जैसे कि इसका निर्णय पत्रकारों के हाथ में है कि मतदाताओं ने गलती ही गलती की है।

संवाददाता के मित्र और हितसाधक जो प्रभाव डाल सकते हैं, उसकी क्या बात की जाए, जब कहा यह जा रहा है कि संवाददाता को अपने पूर्वाग्रह से अथवा अपने लाभ के लिए भी संवाद को अतिरंजित करने का अधिकार नहीं है। इस विषय में जितना कम कहा जा रहा है, उतना ही अधिक इसका महत्त्व है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मुख्य अवधारणाएँ क्या हैं, इसके विषय में स्पष्टीकरण से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि समाचार संकलन में किन बातों पर ध्यान रखा जाए।

संसार में बहुत-बहुत समय बाद शान्ति के लिए सबल अभियान हो रहा है। इसे पूरे रूप में समझकर इसको सबल करने का यत्न किया जाना चाहिए। चूँकि शान्ति संसार के भावी अस्तित्व के लिए आवश्यक हो गई है, इसके प्रति उपेक्षा किसी पत्रकार को नहीं करनी चाहिए। क्या इसके लिए किया जा सकता है, इसका निर्णय सरल नहीं होगा, क्योंकि शान्ति और उसके लिए प्रयत्न चिन्तनप्रिय विषय हैं, परन्तु वे व्यावहारिक रूप कम ले पाते हैं। सभा-सम्मेलन हो सकते हैं, विशेष यह हो सकता है कि जो समाज में अगुआ हैं और जो विदेशों से विशेषज्ञ तथा पर्यटक आते हैं, उनके विचार जानकर प्रकाशन के लिए भेजे जाएँ।

देश में सर्वोपरि बात लोकतन्त्र तथा निर्वाचित संसदीय प्रणाली और उसकी विभिन्न सस्थाओं तथा प्रक्रियाओं में बढ़ते अविश्वास की है। हमारा लोकतन्त्र संकट में आ गया है, उस पर ज्यादा खतरे भीतर से हैं, उनसे हैं जो उसके सबसे सबल पक्षधर होने चाहिएँ। कितना बुरा है कि जो संसद तथा विधानसभा आदि के लिए दर-दर वोट माँगते घूमते हैं, वे ही निर्वाचित होने पर अपने आधारिक और आवश्यक दायित्व भी नहीं निभाते। यदि सदन की कार्रवाई अति अल्प उपस्थिति में होती है तो उस दिन का यही सबसे बड़ा समाचार होता है बहुत ही कम हों तो उपस्थित सदस्यों के नाम दिए जा सकते हैं जिससे को उनके नाम मालूम हों जो उनके मत का निरादर करके अनुपस्थित रहते हैं

जब ऐसी अनुपस्थिति सरकार के खर्चों पर विचार के समय होती है, तब और भी बुरी हो जाती है। सरकार के खर्चे पर निगाह रखने का काम संवाददाताओं का भी उतना ही होता है, कदाचित् सांसद और विधायक से भी अधिक। यह जनता से संकलित धन का और जनता पर होने वाले व्यय का सवाल है। इसको जितना उजागर किया जाएगा, उतना ही पाठक प्रसन्न होगा, परन्तु ध्यान इस ओर बहुत कम दिया जाता है। होना तो यह चाहिए कि कर के रूप में जिस मद से ज्यादा मिले और खर्चा जिस मद पर ज्यादा हो, उसी के विषय मे क्रमशः अधिक समाचार आएँ।

लोकसभा के, विधानसभा के, और स्थानीय संस्थाओं के चुनाव होते हैं। इनमें से हर एक के बारे में हरबार वातावरण भिन्न-भिन्न प्रकार का बनेगा और समाचार भी उसी प्रकार के निकलेंगे। इनमें और अधिक ध्यान पाठक का रखना होगा। वह अपना निर्णय आपसे या किसी और से नहीं कराना चाहता, इसलिए हार-जीत के पहले से अंदाज उतने आवश्यक नहीं होते। अगर मुकदमा अदालत में जाता है, उसके निर्णय को पूर्व-विश्लेषण का विषय नही बनाया जा सकता, ऐसा होता है तो इसको न्यायालय की अवमानना माना जाता है। जनता की अदालत कम सम्मान योग्य नहीं होती। पाठक इस समय उम्मीदवारों का, उनकी क्षमताओं का परिचय चाहता है, इसमें सहायता चाहता है कि उसके द्वारा पिछली बार जिताए उम्मीदवार ने क्या किया, सामने की समस्याएँ क्या हैं और उनको उसके हित में सुलझाने मे अलग-अलग उम्मीदवार क्या कर सकेंगे। दूसरे, मतगणना का पूर्वाभास अब बहुत ही वैज्ञानिक प्रयत्न हो गया हैं, हलके ढंग से उसको उछालना, संवाददाता की प्रतिष्ठा के लिए कटक हो सकता है। इतना कहने पर भी इस प्रलोभन से बचा नहीं जाएगा, और अलग-अलग राजनेताओं के अपनी, अपने दल की, जीत के दावे छपेंगे। चुनावों के दिनों के समाचारों का यह सामान्य स्वरूप हो गया है, जिससे जितना हो सके, बचा जाना चाहिए।

एक और खतरा निर्वाचनों को लेकर रहता है। इतने नीचे दरजे के वार, आरोप-प्रत्यारोप लगते हैं कि स्तर और अधिक गिरता जाता है। निर्वाचित लोकतन्त्र है तो चुनाव आएँगे भी, जाएँगे भी। इनके कारण सार्वजनिक जीवन को इतना अपवित्र नहीं किया जाना चाहिए कि सभी कलंक से कलुषित हो जाएँ।

चुनाव के दिनों में किसी की ऐसी बड़ी और बुरी बात नहीं छपनी चाहिए, जिसका जवाब देने का समय ही नहीं बचा हो, मतलब जिस दिन चुनाव होना हो, उसकी शाम ऐसा कुछ किसी का कहा नहीं छपना चाहिए, जिसका विरोधी पक्ष उत्तर ही नहीं दे सके।

सुरक्षा, शान्ति, सुशासन, समुचित व्यवस्था, समय पर न्याय, सामान्य नागरिक चाहते है और चाहते हैं कि अपना-अपना काम-धंधा करने का उन्हें अबाध, निष्कंटक अवसर मिला रहे। इसमें जो बाधाएँ आती हैं, उनसे पाठकों को अवगत रखना अति आवश्यक होता है और उनकी सेवा भी होती है, क्योंकि माना यह जाता है कि समाचार के समुचित प्रकाशन से, आवश्यकता हो तो उसे अभियान बनाकर, परिस्थिति तथा प्रयत्न को परिशुद्ध कराया जा सकता है।

इतना कहने के बाद ध्यान इस ओर जाता है कि यह सब तो कम छपता हैं और राजनीति के समाचार और राजनेताओं की गतिविधियाँ ही अधिक छपती हैं। यह पाठक के

प्रति अनुचित है। यह जितना अधिक होता है उतना ही समाचारपत्रों का प्रभाव और प्रसार कम होता है।

राजनीति के साथ बहने वाला पत्रकार बार-बार अपनी प्रामाणिकता धूल में मिलाता है, क्योंकि राजनेता न तो अपने मन की पूरी बात कहते हैं, न उनका घटनाओं पर उतना नियन्त्रण होता है, जितना वे दिखाते हैं। उनके हाथ संवाद-संकलकों को अपने को बेच नहीं देना चाहिए। उनका 'उपयोग' राजनेता करें, इसे संवाददाताओं को अपना निजी अपमान मानना चाहिए।

समाचार-संकलन तथा प्रेषण में परिपूर्णता हो, परिशुद्धता हो, शीघ्रता हो, ये सब सामान्य बातें हैं और इनकी ओर ध्यान रखे बिना समाचारों का संकलन और प्रेषण सही तौर से हो ही नहीं सकता। परिप्रेक्ष्य कोई हो, इस पर ध्यान रखना निरन्तर आवश्यक रहता है।

संवाददाता न तो परिस्थितियों को परिवर्तित कर सकता है और न उसका दंभ यह होना चाहिए कि वह उन्हें प्रभावित कर सकता है। वह परिस्थितियों का पर्यवेक्षक होता है और उनका परिपूर्ण, परिशुद्ध, सन्तुलित और सत्य विवरण वह भेज ले तो उसे अपने को धन्य तथा कृतकृत्य मान लेना चाहिए।

❑

दृष्टि और दृष्टिकोण

आज के पत्र और पत्रकारों में संकुचित दृष्टि व्याप्त है। कदाचित् यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि उनमें किसी भी तरह की दृष्टि का अभाव है।

इसका अर्थ यह नहीं होता कि उनका कोई दृष्टिकोण नहीं है। पत्र निकाला जाता है तब कोई-न-कोई दृष्टिकोण अवश्य होता है, पत्र के लिए लिखा जाता है तब कोई-न-कोई दृष्टिकोण अवश्य होता है। पत्र की स्थापना और संचालन आर्थिक हित के लिए किया जाता है, अपने मूल उद्योग-व्यापार के परोक्ष प्रोत्साहन के लिए किया जाता है, अपनी प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है, जो संस्था अपने को अच्छी या हितकर लगती है, उसकी सहायता के लिए किया जाता है या स्वयं संस्था द्वारा किया जाता है, इसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी बिल्लों और झण्डों की संस्थाएँ आ गईं, कभी-कभी शुद्ध सामाजिक या राष्ट्रीय हित के लिए किया जाता है और ऐसा भी होता है कि कुछ कहने का मन है या मन में आया है कि ऐसा करना मेरा दायित्व और अधिकार है और पत्र निकाल दिया जाता है। जिस उद्देश्य से पत्र निकाला जाता है या पत्रों के लिए लिखा जाता है, वह एक सीमा तक पूरा होता है—नहीं तो पत्र निकाला क्यों जाए। पत्र निकालने वाले पागल नहीं होते, हों भी तो आज पत्र निकालना इतना पेचीदा और महँगा हो गया है कि हर किसी का पागलपन वह दो दिन में उतार सकता है। पत्र की सफलता का मापदण्ड यह हो गया है कि जो दृष्टिकोण मूल रूप से अपनाया गया था या जो चलते रास्ते अंगीकार हो गया, उसकी हितसाधना हो रही है या नहीं। परन्तु क्या यही पूर्ण मापदण्ड है?

दृष्टिकोण और दृष्टि की भिन्नता की बात है। दृष्टि यहाँ भी देखती है, पीछे भी देखती है और आगे भी देखती है। जब यहाँ देखती है तब सिर्फ इस ओर या उस ओर नहीं देखती, चारों ओर, नीचे और ऊपर भी देखती है। यह बात कहने में बहुत ही सरल लगती है लेकिन व्यवहार में उतारने में, पत्र का संचालन और सम्पादन करने में, पत्र के लिए लिखने और पत्र में लिखा जाँचने में उतनी ही मुश्किल हो जाती है।

क्या यह हमारी दृष्टि में नहीं है कि हमारा देश अत्यन्त प्राचीन और हमारी संस्कृति अतिशय गौरवशाली रही है? यह सही है कि जितना हम उठे हैं, उतने ही हम गिरे हैं, लेकिन यह भी उतना ही सही है कि जब न जाने कितने राष्ट्र और कितनी संस्कृतियाँ समाप्त हो गईं और धूल में मिल गईं, हम खड़े के खड़े ही नहीं हैं, चल रहे हैं, चाल और परिणाम के बारे में दो राय रखने वाले भी यह नहीं कह सकते कि भारत मिट गया है या वह गिनती में आने लायक नहीं रहा है अब अतीत का [illegible] उठने की पूरी प्रक्रिया और गिरने के विस्तृत

कारण क्या वह सामग्री नहीं है जो हमें अपने पाठक के पास पहुँचानी चाहिए? एक उदाहरण से काम चल जाएगा। हमारे वैज्ञानिक आर्यभट्ट को आकाश में ले गए या यों कहें कि हमारे इस युग ने एक अत्यन्त उच्च वैज्ञानिक उपलब्धि हस्तगत की, जिसे आर्यभट्ट नाम दिया गया। इस उपलब्धि और इसके नामकरण पर हमें आश्चर्य हुआ और इस आश्चर्य की भावना को बहुत सफलता से हमने अपने पाठक पर स्थापित कर दिया, परन्तु क्या यह हमारा दायित्व नहीं था कि इस उपलब्धि तक पहुँचने की पूरी प्रक्रिया का हम ध्यान रखते, इसके हर चरण से अवगत रहते और सम्बन्धित वैज्ञानिकों के साथ-साथ हम भी इस उपलब्धि को आश्चर्य के साथ नहीं, आशा और आशंका के साथ अंगीकार करने के लिए तैयार रहते? लग सकता है कि इस तरह का विज्ञान बहुत ही जटिल विषय है—सर्वसाधारण से उसका सम्बन्ध नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है, यहीं हमारी दृष्टि का संकोच या अभाव सामने आता है। जटिल-से-जटिल प्रश्न का अध्ययन और अनुसरण पत्रकार का कर्त्तव्य है, उसे सर्वसाधारण की समझ में आने लायक भाषा में प्रस्तुत करना उसका दायित्व है और इस प्रकार के विषयो से अपने पाठक को अवगत रखना उसका धर्म है।

इस एक बात को लेकर हम अपने सारे वर्तमान पर विचार कर सकते हैं। आर्यभट्ट का विज्ञान क्या, जीवन के हर अंग में हमने स्वाधीनता के बाद आश्चर्यकारी उन्नति की है। इसमें से भी केवल एक का उल्लेख उपयुक्त होगा। औसत भारतीय का जीवनकाल दूना हो गया है। हमारी जैसी परिस्थिति के किसी दूसरे देश में ऐसा नहीं हुआ या हमारा उद्धार करने सात समुद्र पार से आने वालों के शासन में भी ऐसा नहीं हुआ। फिर भी क्यों ऐसा है कि आज भी लोग यहाँ-वहाँ कह लेते हैं कि इससे तो अंग्रेजों और राजाओं का राज ही अच्छा था। यह उक्ति गलत है, लेकिन यह पत्र और पत्रकारों की सबसे बड़ी आलोचना है। कहा जा सकता है कि इतने विशाल देश में पत्र कहाँ तक पहुँच सकते हैं? हमारे पत्रों की सीमित ग्राहक संख्या हमारी और भी कड़ी आलोचना है। यदि बंगला और मलयालम जैसी देश के किनारों में बोली जाने वाली भाषाएँ एक-एक पत्र लाखों में बिकने वाला निकाल सकती हैं, यदि एक प्रतिशत भी जिस भाषा को नहीं समझते, उसके पत्र लाखों में निकल सकते हैं तो अन्य भाषाओं के पत्र अवश्य ही अपनी अक्षमता के कारण पिछड़े हैं। जो हो, मूल प्रश्न इस युग की उपलब्धि का था। क्यों नहीं हम हमारे देश को उसके प्रति उल्लसित और उत्साहित कर सके? यदि यह कहा जाए कि ऐसी बातें सामान्य पाठक के पल्ले नहीं पड़तीं तो यह और भी बड़ा भ्रम होगा। क्या आर्यभट्ट के ऊपर जाने और अणु के जमीन के नीचे फटने से पत्रों के सबके सब पाठक डेढ़-डेढ़ हाथ नहीं उछले थे? यदि नहीं उछले थे तो भी हमे अपना दोष स्वीकार करना होगा। जो कुछ भी भारत में होता है, भारतवासियों द्वारा होता है, उसके प्रति शंका की भावना, एक प्रकार की हीनभावना, भारत में व्याप्त है। संसार के आगे बढ़े देशों के आगे हम क्या कर सकते हैं? जब हमारी टीम टेस्ट शृंखला जीतती है तो हम इतने उछलते हैं जैसे कि उसकी हमें आशा और अपेक्षा ही नहीं थी, जब हारती है तो हम कहते हैं कि भारतीय खिलाड़ी और किस लायक हैं। हम अपने पुत्रों और पौत्रों तक की क्षमता से पूरी तरह अवगत नहीं हैं नई पीढ़ी के प्रति निन्दा और शंका का भाव ही अधिक

व्याप्त रहा है। कहना नहीं होगा कि जो मस्तिष्क में आता है, उसका निर्माण प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है। अपनी पीढ़ी और आने वाली पीढ़ी के प्रति जो दृष्टिकोण हमने बनाया, उसी के कारण उपलब्धि के उल्लास के स्थान पर देश में प्रस्तुत के प्रति अनादर और भावी के प्रति शंकाओं का वातावरण बना।

पत्रकारों की ओर से बार-बार कहा जाता है कि जो कुछ गलत होता है या नहीं होता, उसे उजागर करने का ही काम उनका मुख्यत: है। यह सही नहीं है, लेकिन यदि इसे सत्य मान लें तो क्या इस दायित्व को भी सही तौर से निभाया गया है? मान लें, हमारा पत्र किसी संगठन या विचारधारा को लेकर निकलता है। उसमें दोष भी होंगे और गुण भी। उसके दोषों को कितना हम सामने लाते हैं? अपने दोष छिपाने से और दूसरों के दोष बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने से हमारे दृष्टिकोण का समर्थन हो सकता है लेकिन हम पर दृष्टि का दोष अवश्य लगेगा। अगर बहुत निकट से देखने को हम तैयार हों तो यह जानने की बात हो सकती है कि प्रेस रजिस्ट्रार की रिपोर्ट में यह विवरण प्रकाशित होता रहा है कि किस-किस पत्र ने अपनी ग्राहक संख्या के गलत आँकड़े दिए। क्या जब पहली बार यह विवरण छपा था तभी इसको उजागर करके, दोषी संस्थाओं की निन्दा करके, इस दोष के कारणों और प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डालकर, हम इस दोष से पत्र-जगत को मुक्त करने का प्रयत्न नहीं कर सकते थे? यदि हम अपने दोष दूर नहीं कर सकते तो दूसरे के दोषों पर उँगली उठाने का हमें क्या हक है—और हम तो ऐसा करने के लिए उँगली ही नहीं, लेखनी ही नहीं, रोटरी की पंक्तियाँ लगाने को उद्यत रहते हैं। इस तरह दोष के सम्बन्ध में अपूर्ण, असन्तुलित और विकृत दृष्टिकोण के कारण भी अवांछनीय वातावरण और दृष्टिकोण व्याप्त हुआ है।

पत्रकारों को अपने सामने सदा दर्पण का उदाहरण रखना होगा या उस चित्रकार का, जिसे आदेश दिया गया था कि "मैं जैसा हूँ वैसा मेरा चित्र बनाओ नहीं तो मैं एक पैसा भी नहीं दूँगा।" स्वाधीनता के बाद भारत में जो कुछ भी हुआ है, उसका पूर्ण विवरण और विश्लेषण, उसकी कमियों और उपलब्धियों के साथ, समाचारपत्रों में आता रहता तो पत्रों और पत्रकारों की वह स्थिति नहीं होती जिस पर आजकल निजी चर्चा में ये आगबबूला हुआ करते हैं।

जो कुछ पत्रकार अनुभव करता है, उसे कहने की क्षमता का अभाव भी बड़ा दोष है। इस दोष से हमारे पूर्वज हमारे जैसे कुंठित होते तो हम आज उनका स्वाधीनता संग्राम में उनके योगदान का सम्मान करने का अवसर नहीं प्राप्त कर सकते थे। प्रश्न यह है कि हम अपने उत्तराधिकारियों के लिए ऐसी उत्साहप्रद परिस्थिति छोड़े जा रहे हैं या नहीं?

बात अतीत को लेकर उठी थी और उतर आज, अभी और हम पर आई, परन्तु यह सर्वविदित सिद्धान्त है कि समय का बँटवारा नहीं किया जा सकता। आज को न गए कल से अलग किया जा सकता है, न आने वाले कल से। आर्यभट्ट की आज की उपलब्धि बहुत बडी है लेकिन जिसका नाम उसे दिया गया, वह और उसका युग क्या कम बड़ा था? आर्यभट्ट जब आसमान पर पहुँचा तब उसके अतीत की खोज आरम्भ हुई—और अब तक भी कितने आर्यभट्ट और उसके युग से पाठकों को पूरी तरह अवगत करा पाए हैं? फिर हमारे अतीत का आर्यभट्ट एकाकी गौरव शिखर नहीं है

आजकल कामुकता की बहुत चर्चा है। कितनी सीमा में पत्रों को रखा जाए, इस पर बहुत विचार हो रहा है। काम-लोलुपता से लाभ उठाने की वृत्ति पत्र-जगत में बढ़ी है। इसके गुण-दोष के दृष्टिकोण की बात थोड़ी देर के लिए छोड़कर हम इस बहुप्रचलित तथा अत्यन्त लोकप्रिय विषय में अपनी दृष्टि की ओर ध्यान देने की चेष्टा करें। इस विषय में भी हमने बहुत कुछ विदेशों का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति अपना रखी है। जो कामाचारी साहित्य अधिक मूल्य पर बिकता है, वह बहुत करके विदेशी होता है, जैसे कि इस क्षेत्र में भी हम सबसे पिछड़े हैं। पहले तो इस विषय में दृष्टिकोण का दोष बहुत व्याप्त है। जीवन का यह प्रमुख अंग ही नहीं, जीवन को बनाने और उठाने की यह प्रमुख प्रेरणा-शक्ति है, इसके प्रति लगाव स्वाभाविक और आवश्यक है। साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि इसके सारे क्षेत्र के बारे में वास्तविक ज्ञान का प्रसार हो। परन्तु आधार की बात इस विषय में हमारी संकुचित दृष्टि की है। इस विषय में जो कुछ भारत में प्राचीन समय में लिखा गया, वह इतना ऊँचा और वास्तविक है कि हमारे इस विषय के प्राचीन ग्रन्थ अत्यन्त कामलोलुप माने जाने वाले देशों में भी सबसे अधिक बिकने वाले ग्रन्थ हो गये हैं। शरीर शास्त्र, नागरिक जीवन, काम-कौशल, आकर्षण एवं बल अभिवर्द्धन, कामुकता और कामाचार की अति के विषय में भारत ने जो उन्नत अवस्था प्राप्त की थी, उसका आभास क्या उन पत्रों से मिलता है जो इस विषय को लेकर निकलते हैं। यदि यह मान लिया जाए कि जो कुछ शताब्दियों पहले लिखा गया था, वह अब स्वीकार्य कैसे हो सकता है, तो क्या इस विषय में शोध-संशोधन के लिए हमने उस प्रकार का वातावरण बनाया जैसा अमेरिका में बना हुआ है? यदि इस प्रकार का अध्ययन भारत में भी हो रहा है तो क्या हम उसे सामने लाए? यदि नहीं हो रहा तो क्या हमने इसके लिए आन्दोलन किया? इस प्रकार की हमारे यहाँ परम्परा थी तभी तो कामशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है कि किस-किस प्रदेश की महिलाओं का अंग-रूप-स्वभाव किस प्रकार का होता है और इन्हें किस प्रकार प्रसन्न किया जा सकता है। काम विषयक पत्र निकालना और साहित्य रचना इतना सरल बना दिया गया है कि यह सारा वर्ग का वर्ग 'सस्ता' माना जाने लगा है। प्रतिष्ठित पत्र और पत्रकार इससे अपने को दूर रखना चाहता है। 'कामसूत्र' के लेखक वात्सायन को ऋषि माना जाता है। 'कुट्टनी मतम्' के रचयिता दामोदर गुप्त कश्मीर के प्रधानमन्त्री थे और 'रति रहस्य' निर्माता कोकोक कवि को अपने समय में कश्मीर राज्य में अत्यन्त आदर प्राप्त था। छोटापन या सस्तापन विषय में नहीं होता, उसके अध्ययन की गहनता और प्रस्तुत करने की क्षमता में हुआ करता है।

एक-एक विषय को लेकर यहाँ चर्चा नहीं की जा सकती। जब प्रदेशों की बात आई है तो इतना उल्लेख अवश्य अनिवार्य है कि जिस प्रदेश से पत्र निकलता है, उसके प्रति एक दृष्टिकोण पत्र अवश्य बना लेता है, वह भी बहुत बार संकुचित तथा स्वार्थजनित होता है, लेकिन इस दृष्टि का अभाव तो प्रायः सदा रहा है कि हमारा प्रदेश सर्वथा स्वतन्त्र इकाई नहीं है। हमारे देश में और भी प्रदेश हैं और उनसे हमारा सम्बन्ध भाईचारे का ही नहीं, पारस्परिक अन्योन्याश्रित का है असम में जब भूडोल आता है या बाढ़ आती है तभी हम उसकी सुध लेते हैं उड़ीसा तभी उजागर होता है जब वहाँ के [illegible] में उथल-पुथल होती है पूरे

भारतवर्ष को दृष्टि में रखकर सम्पादन कार्य नहीं होने से ही हमारे देश में राष्ट्रीय एकीकरण का प्रश्न समस्या बन गया है। आज जब पंचवर्षीय आयोजना के अन्तर्गत या अन्यथा किसी निर्माण-कार्य के बँटवारे का सवाल आता है, या नदियों का जल विवाद का विषय बनता है, तब हम ऐसा आन्दोलन करते हैं जैसे कि विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध लिख रखे हो। पूर्ण देश का ज्ञान, पूर्ण देश की समस्याओं का ज्ञान, यदि व्याप्त हो और यह हमारी समझ मे रहे कि हर प्रदेश की समस्या का सुलझना समान रूप से हमारे हित में है तो बहुत तरह की गलतफहमी से बचा जा सकता है।

अतीत और वर्तमान की तरह भविष्य भी समाचारपत्रों में उतना उजागर नहीं होता रहा है। यह भी ऐसी अदद नहीं है, जिसे एक वाक्य में निपटाया जा सके। मूल प्रश्न यह है कि समझदार व्यक्ति को भविष्य का भी जहाँ तक हो सके, सही अंदाज होना चाहिए, और जो समाचारपत्र यह दायित्व नहीं निभाता उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। सन्तुलित जीवन के लिए आवश्यक है कि हम अपने ज्ञान की परिधि इस प्रकार बढ़ाते रहें कि हमें आश्चर्य कम-से-कम हो, हमारा सन्तुलन कम-से-कम बिगड़े।

इस सारी बात को यह कहकर चुटकियों में उड़ाया जा सकता है कि इतना सब एक पत्र का पत्रकार कैसे कर सकता है? पहली बात यह सब करने का दायित्व और धर्म स्वीकार करने की है, फिर इसके लिए चेष्टा करने की। जहाँ चाह होती है वहाँ राह निकल आती है। जो पत्र ज्यादा बिकते हैं और जो कम बिकते हैं, उनमें अन्तर अवश्य है, और उसे पाटा जा सकता है, उलटा जा सकता है, हमारा पत्र आगे से आगे निकले पत्र के आगे निकल सकता है। यदि इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा नहीं है तो क्यों पत्रकारिता में आए? यहीं साधनों की बात आती है। वास्तव में तो पत्रकार को छोटा होने का अधिकार नहीं है—किसी भी तरह का छोटा, जिसमें दूसरे से माँगना सबसे छोटापन है। सरकार से भी हमें कुछ नहीं माँगना चाहिए। छोटापन विकास की एक अवस्था होती है, बच्चा छोटा अच्छा लगता है, लेकिन उम्र आने पर आकार का छोटापन उपहास का विषय बन जाता है। कहा नहीं जा सकता कि बौने कितनी बार आत्महत्या करने की कल्पना करते होंगे, लेकिन जो पत्र समय के साथ अपना स्तर और अपनी स्थिति नहीं सुधार सकता, सदा छोटे पत्रों की श्रेणी में रहना चाहता है, उसी को विशेषाधिकार मानकर माँगें करता रहता है, समग्र दृष्टि से उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में संशय अवश्य होता है। समाचारपत्र यदि आत्मनिर्भर नहीं रह सकते तो वे आत्मसम्मान से नहीं जी सकते, और यदि उनमें आत्मसम्मान नहीं है तो वे हमारे राष्ट्र की शोभा नहीं माने जा सकते। जो पत्र अपना सम्मान स्वयं कराने की स्थिति में हो जाते हैं, उनकी ओर स्वत: सब दौडते हैं, उनका जीवनयापन न उनके लिए समस्या रहता है, न समाज और शासन के लिए। अपना बाल्यकाल हर पत्र और पत्रकार स्वयं निर्धारित कर सकता है, उस अवधि में उसे सहारा दिए जाने की व्यवस्था भी की जा सकती है, लेकिन अनादिकाल तक एक ही पत्र को 'छोटा' मानना कभी उचित नहीं हो सकता।

जो यह मानते हैं कि वे बहुबिक्री के जंजाल में नहीं पड़ना चाहते, उनके लिए भी स्थान है बम्बई से थोडे से पन्नों का छोटे आकार का एक मासिक निकलता रहा है। 'बड़े विषयों पर बड़ी बातें' यह करता रहा है किसी प्रकार का भी छोटापन उसके आस पास

कभी देखने में नहीं आया। जो उसके विचारों से सहमत नहीं रहे हैं, वे भी उसके हर अंक की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहे हैं। इस प्रकार का पत्र भी निकाला जा सकता है। ऐसे पत्र निकालने के लिए बड़े-बड़े साधन नहीं, आस्था और अपने को खपाने की तमन्ना की जरूरत होती है। ऐसे पत्र सीमित आकार और प्रसार के होते हुए भी बहुत आदर तथा आकर्षण अर्जित कर लेते हैं।

पत्रकार से सबसे अधिक अपेक्षा यह की जाती है कि उपलब्ध स्थान और समय के भीतर ही अपनी बात कह ले। हो सकता है कि एक बार में कहने में पूरी बात नहीं आए, लेकिन जो पत्र सालों निरन्तर निकलते रहते हैं, उन्हें तो अनिवार्य रूप से ऊपर उठाए प्रश्नों का सामना करना होगा। वे इनको अपनी आँखों से ओझल करके भी अपना काम चला सकते हैं, लेकिन यहाँ चर्चा कामचलाऊ पत्रों की नहीं है, उन पत्रों की है जो हमारे राष्ट्र का अविभाज्य अंग हैं अथवा होना चाहते हैं।

❑

विस्तार और विश्वास

विश्वास और विश्वसनीयता की जो परम्परा से प्रचलित परिसीमाएँ हैं, उनका अतिक्रमण आधुनिक जनसंचार साधन कर रहे हैं। दादा-दादी, नाना-नानी जो कहते हैं, उतना ही ज्ञान है, इसे मुद्रण ने ध्वस्त किया था, क्योंकि पुस्तकें विविध क्षेत्रों में अतिविकसित व्यक्तित्वों के ज्ञान और विश्वासों को सभी के लिए उपलब्ध करने लगीं। पत्र-पत्रिकाओ ने इसमें विविधता और शीघ्रता जोडी, लेकिन रेडियो और टेलीविजन ने आकर तो विचार और विश्वास को जड़ों से हिलाकर रख दिया और ज्ञान-विज्ञान से इनका तथा सम्प्रेषण के अन्य उपकरणों का जो विकास हो रहा है, इससे मानव ज्ञान और मनुष्य की अनुभूति वास्तव मे विश्वव्यापी हो जाएगी, और स्वयं मानवीय सीमाओं में रहते हुए भी मनुष्य यह देख और समझ सकेगा कि श्रीकृष्ण ने जो अपना विश्व रूप दुर्योधन और अर्जुन को दिखाया था, वह नितान्त निराधार नहीं था।

जो मुख्य-मुख्य तत्त्व मनुष्य शरीर और मानव स्वभाव का निर्माण और विकास करते हैं, उसके भाग्य का और उसके भविष्य का निर्धारण करते हैं; वे देशों, बोलियों, सामाजिक परिस्थितियों, आर्थिक स्थितियों और शासन पद्धतियों के भिन्न होने भर से, इतने एक-दूसरे मे पृथक् नहीं हो जाते कि एक क्षेत्र का आदमी अपने को दूसरे क्षेत्र के आदमियों से अलग और अलग तरह का अनुभव करे। ग्रामीण जीवन में जो एका और समता का बोध था, उसे आधुनिक संचार साधन सारे संसार के लिए लाकर रहेंगे।

इसमें विश्वास जिनका नहीं बन पाए, उन्हें पिछले पचास वर्षों में जो विकास पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो और टेलीविजन का हुआ है, उसका सिंहावलोकन करना चाहिए। यह भली प्रकार से अंदाज में नहीं है कि इलेक्ट्रानिक आविष्कार क्या-क्या संचार उपकरण सर्वसाधारण के लिए निकट भविष्य में सुलभ करने वाले हैं, लेकिन हमारे देखते-देखते मुद्रण, प्रसारण और प्रदर्शन में जो क्रान्तिकारी उन्नति हो गई है, उससे भविष्य के लिए कल्पनाएँ और संकल्पनाएँ दोनों अनजाने भावी विकास के प्रति आस्थावान अवश्य हो जानी चाहिएँ।

ऐसे में जन-संचार साधनों के प्रति विश्वास का प्रश्न गौण होता जा रहा है। भारत ही अकेला देश नहीं है जहाँ रेडियो और टेलीविजन का संचालन शासन के एकाधिपत्य में है। कई देशों में स्थिति प्रायः इसी प्रकार की है। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, वह शब्द और शैली का इतना होता है कि कई बार उसका उच्चारण और उपयोग कौन कर रहा है, इसका ध्यान ही नहीं रहता। भारत के ही वेद-उपनिषद् सहित अनेक प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके रचनाकारों के वास्तविक नाम हम नहीं जानते। इधर महाभारत और रामायण हैं, जिनकी विषय वस्तु ही ऐसी है कि जो अच्छी तरह कह लें वही विश्वसनीय हो जाता है विज्ञान इसे सम्भव मानने लगा है कि 'संग्राम के समय के स्वर और घोष हमें फिर से

सुनाए जा सकेंगे, तब पता लगेगा कि गीता को कैसे कहा गया था। अभी इस पर विश्वास नहीं होता, लेकिन हम देखते हैं कि दुनिया के दूसरे छोर पर जो खेल होते हैं, भाषण होते हैं, घटनाएँ होती हैं, उनका सीधा प्रसारण हमारे घरों में रेडियो और टेलीविजन के मार्फत पहुँचता है। समय की अवधि मात्र का प्रश्न रह गया है। कुछ तो समय चित्र और शब्द के अमेरिका से भारत पहुँचने में लगता है। इसको आविष्कारों के गुणकों से बढ़ाते जाएँ तो हम अवश्य महाभारत काल में पहुँच जाएँगे।

प्रश्न यहाँ विश्वास का था। जो सचमुच दिख रहा है, और सुनाई दे रहा है, उस पर विश्वास नहीं करना चाहने पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। रूस, चीन और अमेरिका की बहुत-सी बातें हम न स्वीकार करना चाहते हैं, न हमारी आस्था उनमें है। फिर भी ये राष्ट्र हम पर अपना प्रभाव बढ़ाते जा रहे हैं; जिसमें इन देशों के उन्नत और व्यापक जनसंचार साधनों का ही सर्वोपरि योगदान और प्रभाव है। अमेरिका जो इतना भारतीय जीवन में प्रविष्ट हो रहा है, उसका माध्यम वहाँ जाने और वहाँ का अनुभव और लाभ प्राप्त करने वाले भारतीय हैं; अमेरिका के विचार और व्यवहार, उन्नति करने के उपाय हैं, जो वहाँ की पुस्तकों, फिल्मों तथा रेडियो प्रसारण से हमारे यहाँ के छोटे-छोटे कस्बों में भी पहुँचने लगे हैं। यह सब जनसंचार साधनों का विस्तार और उद्देश्य-मूलक उपयोग का परिणाम है।

इसी में से प्रश्न निकलता है कि जो भारतीय जनसंचार साधन हैं, उनका इतना प्रभाव क्यो नहीं है, क्यों वे अपने प्रति उतना विश्वास विकसित नहीं कर सके? पड़ोसी और प्रतिद्वन्द्वी पाकिस्तान के विषय में ही नहीं, हमारी सेना ने जो ऐतिहासिक अभियान श्रीलंका मे किया था, उसके बारे में भी, और बहुत बार भारत की प्रभावकारी घटनाओं के बारे में भी, जैसे बार-बार होने वाले साम्प्रदायिक दंगे, हम बी.बी.सी. पर आकाशवाणी से अधिक विश्वास करना चाहते हैं। दोनों प्रसारण प्रबन्धों पर थोड़े-थोड़े अन्तर का शासकीय नियन्त्रण है। फिर भी जो विदेशी है और सात समुद्र पार से प्रसारित होता है, उस पर अधिक विश्वास होता है, क्यों?

ऐसा नहीं है कि भारतीय दूरदर्शन और आकाशवाणी का अनुकूल प्रभाव पड़ता ही नहीं। अध्ययनरत विद्यार्थियों और कार्यरत कृषकों के लिए जो कार्यक्रम प्रसारित तथा प्रदर्शित हो रहे हैं, उनके बढ़ते प्रभाव को विश्लेषक तथा विशेषज्ञ भली प्रकार स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों कार्यक्रमों में इन क्षेत्रों के कुशल और अनुभवी व्यक्तियों का प्राय: निर्णायक योगदान और करीब-करीब शत-प्रतिशत सहयोग रहता है। यह बात वार्ताओं, गोष्ठियों और समाचारों में जितनी कम है, उतना ही कम उनका प्रभाव और उनके प्रति विश्वास है। तकनीकी उपकरण तकनीक में कुशल और पारंगत व्यक्ति ही चला सकते हैं।

समाचारपत्र, साप्ताहिक और पत्रिकाएँ अवश्य अधिकांश में कुशल सम्पादकों और पत्रकारों के हाथों में हैं। जहाँ पत्र-स्वामी ही पत्रकार और सम्पादक होना चाहते हैं, वहाँ का उत्पाद तो सुधर ही नहीं सकता, लेकिन समाचारपत्र सामान्यत: सम्पादकों द्वारा ही चलाए जा रहे हैं।

पत्र-संचालन में जो प्रभाव पत्र-स्वामित्व का सभी देशों में पड़ता है, उसके अतिरिक्त हमारे यहाँ की विशेषता यह है कि बहुपठित पत्र-पत्रिकाएँ प्राय: ऐसे स्वामित्व-सम्पूर्क के हाथों में हैं जिनका ज्यादा हाथ अन्य प्रकार के उद्योग में है अपनी आय

के अन्य साधनों की ओर उनका अधिक ध्यान है, क्योंकि उनसे वास्तव में उनकी अधिक आय होती है। उनकी पत्र-पत्रिकाएँ उनके अन्य आय-अर्जन में सहायक रहें, इस स्वार्थजन्य चेष्टा में वे सम्पादकों को अपने हितों का प्रवक्ता बनाना चाहते हैं। ये हित व्यापारिक के अतिरिक्त राजनीतिक भी होते हैं, क्योंकि ये पत्र-स्वामी घराने ही हैं जो संसद सदस्यों तथा विधायकों को भी जितनी हो सके संख्या में अपने प्रभाव में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह लोकतन्त्र और उसके वास्तविक विकास के विपरीत है, इसलिए लोकतन्त्र का लोकतन्त्रात्मक विकास पचास वर्षों में भारत में भरपूर नहीं हुआ है।

इस बात को ज्यादा अच्छी तरह उन दैनिकों-साप्ताहिकों पर विचार करके समझा जा सकेगा, जिनका संचालन औद्योगिक घराने नहीं करते, जिनका संचालन या तो न्यासों के हाथों में है या पत्रकारिता के प्रति समर्पित घरानों के। नाम लेने भर को ही नहीं, वास्तविक प्रसार में ऐसे दैनिक और साप्ताहिक देश के कई प्रदेशों में हैं। उनका प्रभाव भी है और उनके प्रति विश्वास भी है। अतएव संचालन-प्रक्रिया तथा संचालन-लक्ष्य का सम्बन्धित साधन के प्रभाव और विश्वास में निर्णायक स्वर हुआ।

दुर्भाग्य यह है कि उत्तर भारत का, विशेषतः हिन्दी का, पुस्तक-प्रकाशन व्यवसाय भी स्वामित्व की इन्हीं उलझनों में ग्रस्त है। जो घराने पीढ़ियों से लोकप्रिय पुस्तकें निकालकर लोक-जागरण में लगे हुए थे, उन्हें रौंदकर आर्थिकोपार्जन को सर्वोपरि मानने वाले प्रतिष्ठान उचित-अनुचित उपायों से अपना विकास कर रहे हैं। सेवा और लाभ में जो अन्तर होता है, उसी के असर में हमारा प्रकाशन व्यवसाय आ गया है। बहुत बुरा यह हुआ है कि उनके थोक-खरीद के चक्कर में पुस्तक-विक्रेता पिस गया है और अच्छी पुस्तकें उत्सुक एवं समर्थ पाठकों को भी सुलभ नहीं होतीं। कुछ उनके बढ़े मूल्य ने उनका प्रसार घटाया है, कुछ इस निश्चिन्तता ने कि सामान्य पाठक के पास पहुँचे बिना भी पुस्तकों से लाभ कमाया जा सकता है। दक्षिण में जैसी पुस्तक दस रुपये में मिलती है, विषय-वस्तु तथा स्तर में उससे गई-गुजरी पुस्तकें हिन्दी वालों को चालीस-पचास रुपये में हमारे प्रकाशक बेचना चाहते हैं। सारे संसार का, विकसित से विकसित देश का, अनुभव यह है कि अत्यन्त आधुनिक संचार साधनों की प्रतिद्वन्द्विता में भी पुस्तकों ने अपना महत्त्व बनाए रखा है और वास्तविक निर्माण तथा विकास उनके बिना नहीं हो सकता। हम पुस्तकों से अपने को काटते जा रहे हैं। स्थिति यह आ गई है कि पाँच सौ या एक हजार के संस्करणों से लेखक-प्रकाशक, दोनों सन्तुष्ट हो लेते हैं जबकि पाँच-पचास लाख के संस्करण भी कम होने चाहिएँ। इस समय हमारे देश में कम-से-कम दस करोड़ लोग ऐसे हैं जो चाहें तो पुस्तकों पर पर्याप्त व्यय कर सकते हैं।

जनसंचार के जो पुरातन तथा परम्परागत साधन हैं, जैसे—तीर्थ, त्यौहार, वार्षिक तथा अवसरजन्य स्नान और मेले, भजन-कीर्तन, मनोरंजन के प्राचीन साधन आदि, उनकी लोकप्रियता आधुनिकता कम नहीं कर पाई है। इसमें जो विश्वास का तत्त्व है, वही सर्वोपरि है। भरी ठण्ड में कुम्भ पर स्नान करने लाखों-लाख अपने विश्वास के बिना अपने आप, बिना दूसरे की प्रेरणा और के नहीं पहुँच सकते प्रश्न इस विश्वास की उपयोगिता और आधुनिक युग में उपादेयता का उपस्थित होता है

विश्वास की बात को इस तरह भी देखा जाना चाहिए कि हमारे संविधान की उद्देशिका में और 'मूल अधिकार', 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' तथा 'मूल कर्त्तव्य' के भागों में कुछ राष्ट्रीय विश्वास प्रतिपादित किये गए हैं। कुछ विश्वास हमारे ऐतिहासिक अनुभव में से विकसित हुए हैं, जैसे—राष्ट्रीय एकता, समभाव और सद्भाव। जो उन्नतिकारक विश्वास हमारी पंचवर्षीय योजनाओं ने प्रोत्साहित किए हैं, उनका अतिशय व्यवहारिक महत्त्व है।

जनसंचार साधनों की समीक्षा इन उपस्थित और आवश्यक विश्वासों के सम्पूरित और सफलीभूत होने में उनकी सामर्थ्य और दुर्बलता को दूर करके नहीं की जा सकती, क्योंकि इन सभी मोर्चों पर स्थिति अनुकूल भी है और प्रतिकूल भी; बाधाएँ दूर भी हुई हैं और संकट बढ़े भी हैं; इसलिए अनेकानेक प्रश्न जनसंचार साधनों पर भी जड़ गए हैं। जो प्राचीन साधन थे, उनसे राष्ट्रीय एकता भी बढ़ती थी और राष्ट्रीय शक्ति भी। उन्होंने भी कुछ समस्याएँ उलझाईं, कुछ भेदभाव बढ़ाए; परन्तु कुल मिलाकर उन्होंने हमारे देश को टूटने और गिरने नहीं दिया। आज, आधुनिकता के कारण जनसंचार साधनों के अपार प्रसार तथा असंदिग्ध शक्ति के सामने अपने परिणाम और अपने प्रभाव के प्रश्न उठ आए हैं। प्रसार का विश्वास हो जाए तब भी यह विश्वास कहाँ हो रहा है कि ये साधन हमें सही रास्ते पर ले जाएँगे?

❑

एक और स्वतन्त्रता संग्राम

पत्रकारिता और स्वाधीनता संग्राम पर इस भाव से विचार की आवश्यकता नही लगती, जैसे कि भारत के स्वाधीनता संग्राम में सम्मिलित होकर भारतीय पत्रकारिता ने कोई अति अधिक यशस्वी अथवा कृतज्ञता योग्य अवदान किया हो। पत्रकारिता में स्वतन्त्रता स्वतः इतनी समाविष्ट है कि इस विधा के साधक स्वभावतः स्वतन्त्रता संग्रामों में योगकारक हो जाते हैं और जो ऐसा नहीं करते या नहीं कर पाते, उन्हें वास्तव में पत्रकार कहा ही नहीं जाना चाहिए।

जब देश स्वाधीनता का संग्राम लड़ रहा था, ऐसे पत्र और पत्रकार थे, जिनकी निष्ठा नहीं तो पूरी-की-पूरी चेष्टा अवश्य अंग्रेजों के प्रति समर्पित थी। उन्हें, इस पर भी, विशिष्ट नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि उन दिनों भारत में पत्रकार वर्ग के अतिरिक्त भी, ऐसे अनेक थे, जो विदेशी शासकों के हितों से अपने को आबद्ध करके, अपनी हित साधना कर रहे थे। परन्तु पत्रकार इस ओर झुका हो, अथवा उस ओर जुड़ा हो, अपनी अलग पहचान बना ही लेता है; क्योंकि जो सामान्य वर्ग होता है, और विशिष्ट व्यक्ति भी, उनसे अधिक उसे निरन्तरता निभानी पड़ती है सामयिक घटनाओं के साथ। एक तरह से तो यह हो जाता है कि वे ही घटनाएँ सामने आ पाती हैं, जिन्हें पत्रकार अपनी परिधि में लेता है। दीखता नहीं, बहुत बार समझ में नहीं आता, पत्रकार घटनाओं का सर्जक नहीं होते हुए भी उनका नियामक और नियन्त्रक हो जाता है। जो कुछ समाचारपत्रों में नहीं छपता, वह उसके प्रति प्रतिक्रिया हुए बिना, उसका उल्लेख अथवा अवलोकन हुए बिना रह जाता है, और छोटी-छोटी घटनाएँ या छोटे-छोटे स्थानों की घटनाएँ पत्रकारों का सहारा पाने पर कई बार भूकम्प-सा मचा देती हैं। आधुनिक युग में पत्रकारिता जितनी महत्त्वपूर्ण हो गई है, उसका उतना अधिक आभास नहीं है।

जो हो, पत्रकारिता का इतिहास जो स्वाधीनता के बाद रचा गया है, उसका अवलोकन करें, या जिन पत्र-पत्रकारों का अब स्मरण किया जाता है, उनके नामों को देखें, उनका उल्लेख प्रायः मिलेगा ही नहीं, जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम में साथ नहीं दिया था। इससे उनका उस समय का अस्तित्व मिट नहीं जाता, परन्तु सिद्ध वही होता है, जो ऊपर कहा गया। जो पत्र-पत्रकार होते हैं, वे अवश्यमेव स्वाधीनता संग्राम का साथ देते हैं। जो ऐसा नहीं करते, पत्रकारों की श्रेणी में उनका स्थान बन ही नहीं पाता।

भारत सरकार ने तथा राज्यों की सरकारों ने जिस प्रकार स्वतन्त्रता सेनानियों की अलग से श्रेणी बनाकर उन्हें मासिक धनराशि देना चालू किया है, उसी पर अनेक वास्तविक स्वतन्त्रता सेनानियों की आपत्ति रही है और ऐसे अनेक हैं, जिन्होंने सरकार द्वारा प्रदत्त 'सम्मान राशि को स्वीकार नहीं किया है धनराशि से जो ऐसा नापा जाता है उसका

सम्मान अपने आप उसकी ऊँचाई से बँध जाता है। छोटे-छोटे राज्यों के नए-नए बने उपमन्त्री और राज्यमन्त्री, जिनका जन्म ही स्वतन्त्रता संग्राम के उपरान्त हुआ, उनसे भी कम मासिक राशि उन्हें देकर, जिनके परिश्रम और प्रयत्न से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, हम क्या वास्तव में उन आत्मदानियों का सम्मान कर रहे हैं?

परन्तु एक सूची तो बनी है, जिसमें उनके नाम हैं, जिनके बारे में प्रमाणिक रूप से माना यह गया है कि स्वतन्त्रता संग्राम में उनका योगदान सदा के लिए स्मरणीय है। दिन-प्रतिदिन इसका खतरा बढ़ेगा कि जो इस सूची में नहीं हैं, उनका उल्लेख भी इस सिलसिले में नहीं होगा।

इस आशंका पर चिन्ता से अधिक, वर्तमान सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि जो पत्र और पत्रकार स्वतन्त्रता संग्राम को संचालित, प्रोत्साहित और प्रखर करने में निरन्तर लगे रहे, उनका तो स्वतन्त्रता सेनानियों में उल्लेख ही नहीं होने वाला।

उन दिनों पत्रकारिता स्वतन्त्रता संग्राम का अनिवार्य अंग बनी हुई थी, और ऐसे अनेक थे, जो पत्रकार भी थे और स्वतन्त्रता संग्राम में भी लगे हुए थे। स्वयं उन दिनो 'महात्मा' और अब 'राष्ट्रपिता' माने जाने वाले गाँधीजी कुछ ओछे पत्रकार नहीं थे। वे ऐसे पत्रों के सम्पादक और उनके प्रमुख स्तम्भकार थे, जो स्वतन्त्रता संग्राम को दिशा-निर्देश देते थे, और उसकी प्रगति से विचलित व्यक्तियों का सोना मुश्किल किए रहते थे। ऐसे पत्रकार मुख्यत: अपनी अन्य गतिविधियों के कारण अंग्रेज सत्ता के कोपभाजन बनते थे, परन्तु ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं, जब स्वतन्त्रता सेनानियों को उनके लिखे के कारण ही सजाएँ हुई हैं। उनमें से जो 'सम्मान राशि' प्राप्त स्वतन्त्रता सेनानियों की सूची में आ गए, उनके अतिरिक्त भी पत्रकार और सम्पादक हैं, जिनका योगदान स्वतन्त्रता संग्राम में किसी से कम नहीं था। वे जेल नहीं गए, लेकिन दिन-प्रतिदिन के जीवन में उन्होंने अपने लिए और अपने परिवारों के लिए ऐसी यातनाएँ ओढ़ रखी थीं, जो जेल यातनाओं से कहीं अधिक विकट और कष्टकारी थीं। प्रचलित प्रणाली में उनका स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान उल्लेखनीय ही नहीं रहेगा।

परन्तु सीधा सवाल यह है कि अगर स्वतन्त्रता सेनानियों की सूची बनती है तो पत्रकार के, केवल पत्रकार के, नाते योगदान करने वालों को उल्लेखनीय और सम्माननीय माना जाना चाहिए या नहीं। चूँकि इस समय इसकी व्यवस्था नहीं है, इसीलिए कोई भी यह नहीं चाहेगा कि वे स्मरित एवं समादृत होने से रह जाएँ।

यह उन पुनीत पत्रकारों के लिए, उनमें से जो जीवित हैं उनके लिए भी, उतना आवश्यक नहीं है। समाज स्मरण और सम्मान जो करता है, वह अपने सन्तोष और कर्तव्य-पालन के लिए करता है, भावी उदाहरण और प्रेरणा के लिए भी। अगर इसमें वांछित और वास्तविक व्यक्ति नहीं आते तो इतनी सीमा तक समाज का कोश खाली ही रहता है। जो पत्रकार अपना स्वभाव और लगाव स्वतन्त्रता संग्राम से मानकर, उससे जुड़ गए, वे आज आगे आकर किसी के सामने हाथ नहीं पसारेंगे, परन्तु उनके समावेश के बिना स्वतन्त्रता सेनानियों की सूचियाँ अधूरी ही रहेंगी। यह आलोचना से अधिक अपराध की बात हो जाएगी, जो आज तक उन स्वतन्त्रता-पोषक पत्रकारों की उपेक्षा के कारण होता रहा है।

परन्तु पत्रकारों को यह अपनी नियति मानकर कर्त्तव्य-पालन करना होगा कि जो कुछ वे करते हैं उसे नितान्त और मानकर, उसे विशेष उल्लेख के योग्य

नहीं माना जाएगा। उसके लिए उन्हें विशेष समादर और सम्मान की अपेक्षा ही नहीं करनी चाहिए। इसे सिर्फ अतीत के हिसाब के सिलसिले में नहीं कहा जा रहा। स्वतन्त्रता का संधारण और उसकी सुरक्षा, उसके लिए लड़ने वाली लड़ाइयों से भी ज्यादा कठिन और कष्टकर हो जाती है। इस समय देश की स्थिति ऐसी है, जैसे कि हम भटक गए हों, और ऐसे अँधकार के निकट पहुँचते जा रहे हों, जिसमें देश की स्वतन्त्रता, सुरक्षा, लोकतन्त्र प्रणाली, सर्वकल्याणकारी कार्यक्रम, सब कुछ विलुप्त हो सकता है। जो पत्रकार घटनाओ के नियामक और नियन्त्रक अपने को मानते रहे हैं, वे इस स्थिति के हो जाने के दायित्व से अपने को बचा नहीं सकेंगे।

कारण इसके दो हैं—उन्हीं के शासनारूढ़ हो जाने से जो उनके साथ-साथ स्वतन्त्रता सग्राम में लगे हुए थे, पत्रकारों ने अपने आपको उनके साथ इतना घुला-मिला लिया, और उनकी ओर से उपलब्ध सुविधाओं से अपने को इतना आलिप्त कर लिया कि उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तनिक भी नहीं बचा है। दूसरे, वे दिन-प्रतिदिन की घटनाओं, विशेषत: राजनीतिकी, में इतना उलझ गए हैं कि उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम के लक्ष्यों का ध्यान ही नहीं रहा है। यह नहीं कहा जा रहा कि सबके सब पत्रकार स्थापित सत्ता के चाटुकार हो गए हैं, परन्तु ऐसे अवश्य पत्रकारों में ज्यादा हो गए हैं, जो स्थापित सत्ता के आस-पास घूमने वाली घटनाओं से अलग और आगे नहीं देख पा रहे।

इससे उस क्रम में व्याघात आया है, जिसके उल्लेख से आलेख का आरम्भ किया गया था। स्वतन्त्रता के साथ-साथ स्वतन्त्रता के लिए यत्न और संग्राम सदा चलता रहता है, जिसके बिना स्वतन्त्रता न स्वरूप पा पाती है, न सुरक्षा। बहुत बार कहा गया है कि हम सिर्फ राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुए हैं, अन्य अनेक स्वतन्त्रताएँ हैं—आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, जिनसे अधिकांश भारतवासी अभी तक वंचित हैं। जिस देश में आधे निवासी निर्धनता में जीवन-यापन कर रहे हों, उसकी स्वतन्त्रता से उसका स्वतन्त्रता संग्राम समाप्त हुआ माना ही नहीं जा सकता। पत्रकारों ने, विशेषत: सम्पादकों तथा संचालकों ने और उनके प्रभाव में पत्रकारों ने भी, साथ उन दस-बारह करोड़ देशवासियों का पकड़ लिया है, जिनका जीवन-स्तर इन पचास सालों में यूरोप के सम्पन्न परिवारों के निकट पहुँच गया है। इतनी विशाल सम्पन्न श्रेणी बना लेना भी उपलब्धि होती है लेकिन यह उस सबके विरुद्ध होता है, जो भारतीय संविधान की उद्देशिका तथा प्रारम्भिक भागों में समाविष्ट किया गया है। समता, समाजवाद, न्याय, बन्धुता के होते हुए हम विनाशकारी विभेद और विघटन में फँस गए हैं। पत्रकारों ने इस भविष्य-नाशकारी वर्ग में अपने को सम्मिलित कर लिया है।

राजनेता तो अपने स्वभाव और स्वार्थ के कारण यह भूल गए हैं कि देश का भविष्य भी हुआ करता है। वह अवश्य जो कुछ आज होता और किया जाता है, उससे अपने आप बनता रहता है, लेकिन यह योजनाबद्ध विकास नहीं होता। इसकी हमारे यहाँ अति आवश्यकता इसलिए थी, क्योंकि विदेशी शासनकर्त्ताओं ने बड़ी संख्या में भारतवासियों को दलित, पिछड़ा और पीड़ित रखा। इस नरक से जो स्थिति छुटकारा नहीं दिला सकती, उसे स्वतन्त्रता कैसे कहा जा सकता है और इसीलिए हमारी स्वतन्त्रता इस समय अधूरी है और सकट में है

पत्रकारों के लिए एक नया स्वतन्त्रता संग्राम संजोने का समय आया हुआ है। वे उसकी चुनौती से अपने को अलग नहीं कर सकते, अगर पत्रकारिता को अपना मूल धर्म निभाना है कि वह निरन्तर स्वतन्त्रता तथा उसके लिए किए जा रहे प्रयत्नों का ही साथ देती है।

जिस तरह के स्वतन्त्रता संग्राम की यहाँ कल्पना और आवश्यकता प्रतिपादित की जा रही है, वह आवेश में जेल जाने या आत्म-बलिदान कर लेने से कहीं अधिक कठिन है। जो बहाव है समाज का, अपने-अपने स्वार्थ की रोक से रुंधा, उससे अपने को अलग करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि राज्य सत्ता के पास प्रलोभन भी हैं और प्रताड़नाएँ भी। पत्रकारों की परोक्ष हत्याएँ पिछले वर्षों में बढ़ी हैं, उन सुविधाओं के एकदम विपरीत जो उन रास्तों को आसान और गुदगुदा बनाए रहती हैं, जिन पर पत्रकारों को चलाया जाता है।

असल में यह 'चलाया जाता है' ही विचारणीय है। आज का पत्रकार कितना अपने मार्ग को अपने आप बनाने में समर्थ है, और कितनी क्षमता है उसमें, अपने मार्ग को निभाने की। जो आज है, स्थापित सत्ता, उसकी शक्ति भी अपार है, और उसका रूप भी लुभावना है। बड़ी संख्या में पत्रकार, इसीलिए, निर्वाचित विधायी संस्थाओं में प्रवेश का प्रयत्न करने लगे हैं। जो जीत नहीं पाते, वे नाचते मोर की तरह अपने पैरों की ओर देखने लगते हैं। जो जीत लेते हैं, न जाने कितनी विसंगतियों और जोड़-तोड़ से, वे भी सैकड़ों की भीड़ में खो जाते हैं या सचेतकों के स्वरों में अपने स्वर मिलाने लगते हैं।

लालच स्वार्थ के ही नहीं, संसर्ग के भी छोड़ने होंगे, और कर्त्तव्य तथा निष्ठा का वही मार्ग अपनाना होगा, जो देश में स्वतन्त्रता लाया है। पुन: समर्पण के पहले पुन: निर्धारण करना होगा। आश्चर्य यह है कि सतत चौकस पत्रकार भी संविधान की उद्देशिका तथा उसके मूल अधिकार, मूल कर्त्तव्य तथा नीति के निदेशक तत्त्वों को भूल गए हैं। उनके प्रति समर्पित होना होगा और उन्हीं के लिए काम करना होगा। करना यह होगा कि पत्रकार किसी का पिछलग्गू नहीं बने, उसकी अलग पहचान और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहे। ऐसा होगा तो अपने आप उससे उस स्वतन्त्रता संग्राम का समर्थन होगा, जो इस देश में रुक-सा गया है, और जिसके परिपूर्ण हुए बिना ऐसी स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती, जिसमें स्वतन्त्र पत्रकारिता भी पूर्णत: फलती-फूलती है।

❑

ऐसे पत्रकार बचे कितने हैं?

दोनों से मेरा परिचय पुराना है। चालीस-पचास साल से इन दोनों के नाम भारतीय पत्रकारिता में प्रसिद्ध हैं। देश के सभी भागों में ये जाने-माने हैं, विदेशों में भी इनकी प्रतिष्ठा है। अपने-अपने पदों से ये अवकाश ले चुके हैं, दोनों दैनिकों के सम्पादक रहे हैं लेकिन अब भी जब पत्रकार और साहित्यकार एकत्रित होते हैं, इनकी उपस्थिति अवसर का गौरव बढा देती है।

इनके नाम यहाँ प्रकट नहीं किए जा रहे हैं, क्योंकि जिस सन्दर्भ में इनका यहाँ उल्लेख है उसे लेकर न जाने कितने भारतीय पत्रकारों के नाम गिनाए जा सकते हैं। अपने मे यह शुभ नहीं है, यह स्वीकार्य और प्रचलित है, इसे आज भारतीय पत्रकारिता के सामने चुनौतीपूर्ण समस्या माना जाना चाहिए।

यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि इन दिनों भारतीय राजनीति नितान्त व्यक्तिवादी हो गई है। बात चाहे किसी पदारूढ़ नेता को लेकर चले या उनका विरोधी माने जाने वाले नेताओ को लेकर, जैसे सम्बन्धित राजनीतिक दलों का बल इन मान्य व्यक्तित्वों में ही समाहित हो गया है, उन तक सीमित हो गया है। आज राजनीतिक दलों की कम बात की जाती है, राजनेताओं की अधिक। यह आसानी से कह लिया जाता है, यह सच भी उतर जाता है कि जो ये या वे राजनेता चाहेंगे, वही उनके दल का दृष्टिकोण होगा। यह राजनीतिक दलों का पराभव और व्यक्तियों का वर्चस्व लोकतन्त्रात्मक राजनीति के लिए शुभ नहीं हो सकता। सारे देश की दृष्टि से भी इसे शुभ नहीं माना जा सकता। कहना तो यह होगा कि यह सम्बन्धित राजनीतिक दल और उसके राजनेताओं के लिए भी अन्ततः शुभ नहीं हो सकता, चाहे इस स्थिति से तात्कालिक लाभ किसी का, कितना ही, होता हो। इस बात को विस्तार से प्रतिपादित करने के लिए राजनीति के सिद्धान्तों में अनेक दृष्टान्तों को लेकर उतरना होगा, जो यहाँ अभीष्ट नहीं है।

इस चिन्तनीय स्थिति को विकसित और पुष्ट करने में भारतीय पत्रकारों का अत्यधिक योगदान रहा है। राजनीति, राजनीतिक समस्याएँ और राजनीतिक प्रश्न, राजनेता और राजनीतिक दल इस प्रकार हमारे देश के समाचारपत्रों में स्थान और सम्मान प्राप्त करते रहे हैं जैसे जिस समय उनकी चर्चा है, उस समय वे या तो नितान्त रूप से अच्छे हैं या एकदम बुरे। गुण-दोष, वांछनीयता-अवांछनीयता के आधार पर न मत व्यक्त किया जाता है, न समाचार दिए जाते हैं। जिसका समर्थक समाचारपत्र होता है, उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जैसे वह ही सर्वोत्कृष्ट, सर्वगुणसम्पन्न और अपरिहार्य है। इस मान्यता को पनपने ही नहीं दिया जाता कि राजनीति में कोई व्यक्ति अपरिहार्य नहीं होता, स्थायी और हितकर कुछ सिद्धान्त होते हैं, जिनसे उनको बल और प्रतिष्ठा मिलती है, वे मान्यता और समर्थन के योग्य होते हैं जो उनके विरोध में होते हैं वे निन्दा और तिरस्कार के योग्य हैं

लोकतन्त्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि जनमानस सिद्धान्तों और समस्याओं के प्रति सावचेत और सावधान रहे, न कि यह दलों और नेताओं के नामों से बँध जाए। सामान्यत:, विशेषत: लोकसभा के लिए हुए आम चुनावों में मतदाताओं ने असाधारण विवेक और बल का परिचय दिया है, परन्तु ये मतदान द्वारा होने वाले परिवर्तनकारी निर्णय भी मुख्यत: व्यक्तियों के आधार पर हुए हैं। ये निर्णय हो सके, यह भारतीय मतदाता की क्षमता का परिचायक है लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व हो गया है।

हो भी कैसे सकता है! राजनीतिक दल कैसा व्यवहार करते हैं और समाचारपत्र किस प्रकार की सामग्री प्रकाशित करते हैं, इसी से वातावरण बनता है। यही नहीं, जब ये दोनो सिद्धान्तों और समस्याओं से परे जाकर व्यक्तिवादी खींचातान में अपने को उलझा लेते हैं तो उसके चक्कर से आम मतदाता अपने को अलग कैसे रख सकता है। जो हो, आज भारत मे स्थिति यह है कि कुछ नाम हर सिद्धान्त के स्वरूप निर्धारक और हर समस्या के स्पष्टीकरण के नियामक हो गए हैं।

राजनीतिक दलों की शोचनीय स्थिति ब्रिटेन और अमेरिका जैसे सबल और अनुभवी लोकतन्त्रों में भी चिन्ता का विषय बन गई है। इससे हमारे देश की स्थिति की भयंकरता को मंदा करके माना जा सकता है, परन्तु यह उचित नहीं होगा। हमारे यहाँ लोकतन्त्रात्मक राजनीति नई-नई है। उसका इस प्रकार विकास हो रहा है कि जातिगत, प्रादेशिक एवं वर्गगत पृथकतावादी तत्त्व पहले से अधिक बलिष्ठ हुए हैं।

वह 'पहले' हमें ज्यादा पीछे नहीं ले जाता। स्वतन्त्रता अभियान और संग्राम के दिनो में ये पृथकतावादी तत्त्व पर्याप्त रूप से दब गए थे। पहले तो इनका बोलबाला था ही, यही बार-बार हमारे दुर्भाग्य के दाता हुए हैं। इस कारण हमारे आधुनिक भाग्यविधाताओं को नहीं चाहिए था कि एकता के बलिदानों से सिंचित बेल को अपने हाथों इस प्रकार काट देते कि हमारा सारा राष्ट्र स्वतन्त्रता के पहले की कष्टकारी स्थिति को प्राप्त करने लगता। भारत जैसे विशाल देश की मुख्य समस्या एकता रही है, जब यह टूटी है तभी देश गिरा है। प्रश्न यह है कि और दूसरों ने चाहे जो किया हो, हमारे पत्रों और पत्रकारों ने इस विषय में क्या किया है?

परिस्थिति यह है कि उन्होंने पृथकत: कुछ नहीं किया है। राजनीतिक दल और राजनेता एक-दूसरे की काट करने में लग गए, और उनके प्रतिबिम्ब की तरह पत्रकार भी इसी में जुट गए। इस निकृष्ट वृत्ति को रोकने की उनमें शक्ति है या नहीं, यह पृथक् प्रश्न है, विचारणीय बात यह है कि क्या भारतीय पत्रकारिता इसे अपना दायित्व मानती है या नहीं, यदि 'हाँ' तो वह इसके लिए क्या कर रही है?

'समाचारपत्रों को समाज का दर्पण होना चाहिए', इस सिद्धान्त को प्राय: पराकाष्ठा तक ले जाया गया है, इतना कि समाचारपत्रों में अपना कोई तत्त्व ही नहीं बचा है। उधर समाचारपत्र स्वयं अपने स्वामी नहीं रह गए हैं, न जाने किस तरह का व्यापार-व्यवसाय करने वालों का उन पर वर्चस्व स्थापित हो गया है। इस प्रकार वे 'दर्पण' का पूरा-पूरा दायित्व निभाने की स्थिति में भी नहीं रहे हैं।

सम्पादकों लेखकों और ने इन दोनों स्थितियों से अपने स्वार्थ के कारण समझौता कर लिया है जिन दो प्रतिष्ठित पत्रकारों की चर्चा से इस लेख का आरम्भ

हुआ, वे अपने समय में पाँच अंकों की संख्या में वेतन पाते रहे हैं। 5 से 10 हजार मासिक पाने वाले पत्रकार तो भारत में 'सैकड़ों' हो गए हैं। कम हैं जो इससे भी नीचे की वेतन शृंखलाओं में हैं और उनका भी पत्रकार जगत में नाम है। इस आर्थिक सुविधा को संकट मे डालकर कम लोग किसी भी प्रश्न पर अपना अभिमत प्रकट कर सकते हैं।

इस विवशता को विकसित होने देने का सीधा दायित्व पत्रकारों का है। पत्र और पत्रकार यदि अपने को दर्पण या प्रतिबिम्ब नहीं बनने देते तो यह स्थिति नहीं आती। कदाचित् वे निष्कलंक दर्पण ही रहते तब भी स्थिति इतनी नहीं बिगड़ती।

दर्पण सब कुछ जैसा का तैसा प्रस्तुत करता है। काने को दो आँख वाला वह सिद्ध नहीं कर सकता, न असुन्दर को आकर्षक। व्यक्तित्व विरोधाभासों से भरा रहता है, अच्छाई-बुराई का पिटारा होता है। यदि एक समाचारपत्र किसी का केवल उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करता है तो वह दर्पण जितना भी काम नहीं करता।

हमारे पत्रकार जब विरोध पर उतरते हैं, तब उनको कोई अच्छाई नहीं दीखती, जब समर्थन में जुट जाते हैं तब बुराई की कोई बात सुनने को वे तैयार नहीं होते। वे अपने मन्तव्य के पाश से अपने को इतना बाँध लेते हैं कि उनका स्वतन्त्र विवेक और प्रतिपादन-शक्ति मे दूसरों का क्या, स्वयं उनका विश्वास उठ जाता है।

नितान्त गुण-दोष के आधार पर समस्याओं, दलों और व्यक्तियों के सम्बन्ध मे समाचार और विचार दिए जाएँ तो उनमें एकांगिता नहीं आ सकती, क्योंकि कोई न एकदम अच्छा होता है, न पूरा-पूरा बुरा। इस प्रकार का परिपूर्ण और सन्तुलित प्रस्तुतीकरण और प्रतिपादन करने पर पत्रकार का व्यक्तित्व अपने मन्तव्य से ऊपर उठ सकता है, वह जब चाहे जो कहे, उसे सदा आदर के साथ सुना जा सकता है। आज जो यह स्थिति हो गई है कि समाचारपत्रों की प्रसार संख्या बढ़ रही है और उनका प्रभाव घट रहा है, उसके पीछे मुख्यत: यही स्थिति है।

जिन दो पत्रकारों की चर्चा ऊपर आई, वे समाचारपत्रों में लिखकर, और पुस्तके लिखकर, एक ही प्रकार के विचार निरन्तर प्रतिपादित करते रहे हैं। एक को श्रीमती इन्दिरा गाँधी का विरोधी और एक को समर्थक माना जाता था। बाद में स्थिति ऐसी हो गई कि एक तो श्रीमती गाँधी के सामने जाने में संकोच अनुभव करने लगे हैं और दूसरे के पास ऐसे लोग मण्डराने लगे, जो सत्ता-केन्द्र को एक या दूसरी प्रकार प्रभावित करना चाहते थे।

मेरा निवेदन यह है कि ये दोनों स्थितियाँ त्याज्य और अशुभ हैं। पत्र को प्रतिबिम्ब नहीं, प्रतिपादक होना चाहिए, वह भी सिद्धान्तों और सुझावों का, वकील उसे न किसी नेता का होना चाहिए, न किसी दल का। ऐसे स्वतन्त्र चेता कितने पत्रकार हमारे इस सुविशाल देश में बचे हैं?

□

पत्रकारिता में नवचेतना की आवश्यकता

समय की दो अवधियाँ इस समय हमारे विचारों को उद्वेलित कर रही हैं। भारतीय स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती पर सबसे पहले ध्यान उन सजग और सतेज देशभक्तों की ओर जाता है, जिन्होंने अपनी सभी शक्तियाँ लगाकर इस देश को परतन्त्रता से मुक्त कराया। उनमें कुछ ज्ञात हैं, अनेक अज्ञात हैं, जैसे उस समय की पत्रकारिता को परोक्ष सम्बल उनसे भी प्राप्त हुआ जो प्रत्यक्षतः उनकी सेवा में थे, जिनके विरुद्ध आन्दोलन किए जा रहे थे। पत्रकारिता ने अपने को स्वतन्त्रता संग्राम का प्रोत्साहक और पूरक बना लिया था, और जो सक्रिय थे, उनमें से अधिकतर जितने आन्दोलनों में लगे हुए थे उतने ही पत्रकारिता में। वह समय था जब आन्दोलन समर्थक समाचारपत्र प्राप्त करना और पढ़ना भी राजद्रोह माना जाता था, संवादों की रचना करना और प्रेषित करना तक प्रतिबन्धित तथा संकटकारक था, और समाचारपत्र, सामान्यतः साप्ताहिक, प्रकाशित करना स्वतन्त्रता संग्राम का गरिमामय और फलकारक अंग था। पत्रकारिता की कला से अधिक उसकी प्राणवन्तता का महत्त्व था, सेवा और त्याग ही पत्रकारिता की प्राणवायु थी। श्रेष्ठता उनकी यह थी कि जिनके हाथों मे स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन था, उनमें से ही अनेक थे, जो समाचारपत्र प्रस्तुत कर रहे थे, स्थानीय रूप से, प्रादेशिक रूप से, राष्ट्रीय व्यापकता से, जिनके सिरमौर थे, स्वयं महात्मा गाँधी।

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जो स्वतन्त्रता संग्राम हुआ—अहिंसा, सत्याग्रह और विरोधी का हृदय-परिवर्तन की आकांक्षा के कारण वह अद्भुत और अनुपम बन गया। इसकी दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं।

पहली, जिसको बाद में 'विकास' कहा जाने लगा, उसके सभी पक्ष हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के लक्ष्यों में थे। गाँधीजी तो कहा करते थे, आजादी की लड़ाई रोटी-धोती की लडाई है। सचमुच अंग्रेजों और राजाओं ने, और जागीरदारों ने मिलकर स्थितियाँ ऐसी बना दी थीं कि बड़े-बड़े भू-भाग थे और लाखों में ऐसे लोग थे, जिन्हें दो समय का भोजन और तन पर दो कपड़े उपलब्ध नहीं थे। लाभदायक सभी व्यापारिक-औद्योगिक गतिविधियाँ विदेशी हितो के लिए आरक्षित थीं और भारतवासियों को असमर्थ-निर्धन रखने को शासन-नीति का अंग बना लिया गया था। उनसे देश की मुक्ति के प्रयत्नों का स्वभावतः देशवासियों की आर्थिक आजादी लक्ष्य था।

यह सब जितनी सुगमता से अब कह लिया जाता है उतनी सरलता से हो नहीं गया था—स्वतन्त्रता संग्राम की तरह आर्थिक स्वाधीनता के प्रयत्नों को भी सर्वश्रेष्ठ और सर्वग्राही चेष्टाएँ समर्पित थीं—कष्ट, संकट, बलिदान इसके भी अंग थे। नमक सत्याग्रह और विदेशी वस्त्रों की होली आजादी की लड़ाई के हिस्से थे चरखे को गाँधीजी ने शस्त्र बना लिया था खादी-ग्रामोद्योग का उत्थान [illegible] संग्राम का अनिवार्य अंग था स्वदेशी मिलें भावी

प्रयत्नों का प्रतीक थीं और अनेक उद्योगपति स्वतन्त्रता संग्राम के पोषक थे। विकास के लिए देशवासियों की समुन्नति और देश का पुनर्निर्माण कैसे होगा, इसकी सुस्पष्ट और सुदृढ संकल्पनाएँ थीं, राष्ट्र-निर्माण की सुनिर्धारित योजना बनाई गई थी।

जो दूसरी धारा साथ-साथ चल रही थी, वह समाज सुधार की थी। महिलाओं को गाँधीजी ने स्वतन्त्रता संग्राम के साथ ही नहीं किया, उनके उत्थान के लिए अनेकानेक आन्दोलन चलाए। हरिजन-उत्थान साथ-साथ चला। व्यक्ति का उन्नयन, परिवार की प्रतिष्ठा, समाज की शक्ति, इन सबका राष्ट्र के प्रति दायित्व और इसके विपरीत आचरण की प्रताड़ना इनके दिन-प्रतिदिन के प्रवचनों में प्रमुखता से रहती थी। देश का उत्थान देशवासियो के उद्धार के बिना नहीं हो सकता और देशवासियों का उद्धार ही देश के स्वतन्त्र होने का मुख्य प्रयोजन है, इसे गाँधीजी ने कभी आँखों से ओझल नहीं किया।

विकास और समाज-सुधार ही देश की स्वतन्त्रता के बाद आए शासनों द्वारा अपनाए गए मुख्य लक्ष्य रहे हैं, शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा के मूल दायित्वों के बाद। बिना अधिक स्थान लिए, और शान्ति, व्यवस्था, सुरक्षा के दायित्वों को छोड़कर, हम देखें तो स्पष्ट है कि विकास और समाज सुधार, दोनों ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें इन पचास वर्षों में लगातार चिन्ताएँ बढी हैं, इतनी असहनीय हुई हैं कि इन्होंने बार-बार शासन बदले हैं, केन्द्र में भी, और राज्यो में भी। इसे इस प्रकार से अधिक पीड़ा और स्पष्टता से समझा जा सकता है कि स्वतन्त्रता संग्राम में अग्रणी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसके हाथों में भारत का ऐसा चक्रवर्ती साम्राज्य आया जैसा अतीत में किसी बड़े-से-बड़े सम्राट को प्राप्त नहीं हुआ था, उसका स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती के वर्ष में देश के केन्द्रीय शासन में परोक्ष प्रभाव भी नहीं रहा। इसके कारण बहुत माने और गिनाए जाते हैं, परन्तु मूलतः विकास और समाज-सुधार की अपर्याप्तता, इन मूल मूल्यों के प्रति उपेक्षा है, जो कांग्रेस के पराभव का कारण बनी है।

विकास और समाज-सुधार की संकल्पनाओं ने देश के संविधान के प्रावधानों मे समुचित स्वरूप लिया था। इस संविधान की शपथ ले-लेकर प्रधानमन्त्री आए, मुख्यमन्त्री आए, मन्त्री आए, परन्तु 'मूल अधिकार' और 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' ऐसे विखण्डित होते गए कि इनमें से कोई भी टिक नहीं सके। देशवासियों ने कुछ को केन्द्र में और राज्यों में लम्बी-लम्बी शासन अवधियाँ दीं, अवसर अपेक्षाएँ पूरी करने के कम नहीं मिले, लेकिन लोकतन्त्र में आश्वासनों की आपूर्ति नहीं होने का दण्ड अन्तर्निहित होता है। संविधान में अस्सी से अधिक संशोधन कर लिए गए और अब भी उसमें परिवर्तन के नारे उठाए जा रहे हैं, परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि उसकी अपेक्षाओं की आपूर्ति का अभाव उसके प्रति असन्तोष का मूल कारण है। संवैधानिक परिवर्तनों से कुछ नहीं होगा, अगर समाज सुधार और विकास के संकल्प पूरे नहीं किए जाते। यह अधिनायकवाद अथवा वंशानुगत राजशाही का समय नहीं निर्वाचक सिर्फ मतदाता नहीं हैं वे ही इस देश के सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न ' के स्वामी और सर्वप्रमुख साम-

स्वतन्त्रता से लाभ मिले हैं, लेकिन जिसे संविधान की उद्देशिका में 'न्याय, स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता' कहा गया है उसका हनन करके। उपलब्धियों में यह कम नहीं है कि इन पचास वर्षों में भारत में अपेक्षित आयु दुगुनी कर ली गई है और औसत लम्बाई भारतवासियों की एक इंच बढ़ गई है। निर्माण कार्य और उत्थान कार्यक्रम पूर्णत: विफल नहीं हुए हैं, आत्मनिर्भरता जीवन के हर क्रम में बढ़ी है, अपेक्षाएँ और भी बढ़ी हैं, जिनकी सम्भावनाएँ इतनी बढ़ी हैं कि विदेशी बहुराष्ट्रीय प्रतिष्ठान भारत में होड़ मचा रहे हैं। उनका लक्ष्य वे पन्द्रह करोड़ भारतवासी हैं, जो सम्पन्नता में समृद्ध यूरोपवासियों के समकक्ष हो गए हैं। जो उन्नतियाँ-उपलब्धियाँ हुई हैं, उनमें से किसी की उपेक्षा नहीं करके भी, भयावह स्थिति यह है कि कोई आधे देशवासी निर्धनता में, उसकी मान्य रेखा से भी नीचे जीवनयापन को विवश हैं। गाँधीजी जिनकी आँखों के आँसू दूर करना चाहते थे, उनकी आँखों में खून उतर आया है। अभाव अपने आप विरोध और विद्रोह निर्मित करता है, जिससे इस समय सारा देश आक्रान्त है।

शासन जिनके हाथों में आया, उनके दुष्कार्य और दुर्दशा की दुखांतिका से वे उन्हे बचा सकते थे, जो पत्रकारिता के माध्यम से समान रूप से स्वतन्त्रता संग्राम में लगे थे। पत्रकारिता प्रकाश होती है, उसके रहते अनाचार, अत्याचार, अभाव, अनौचित्य, कुछ भी जो उत्पीड़क अथवा अमर्यादित है, रहना ही नहीं चाहिए।

पत्रकारिता ऐसा व्यवसाय है जो परसेवा के लिए होता है, स्वार्थों से इसमें दोष आते है। हुआ यह कि जब स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले स्वतन्त्रता के लिए शासन में आने पर उलटने-गिरने लगे, जो पत्रकारिता में आए, वे भी विप्रथगामी हो गए। अधिक स्पष्टता से कहा जाना आवश्यक नहीं है कि शासन के दुर्गुण, जिनमें से सर्वव्यापक और अति अधिक कुकीर्तिकारी भ्रष्टाचार को ही लें, पत्रकारिता में भी पनप गए। अँधकार जो अपना लेता है, उसके किए ऐसा प्रकाश हो ही नहीं सकता जो मार्गदर्शक बने, आवश्यकता तो मार्ग-शोधक की हो गई थी। पत्रकारों और पत्रकारिता ने राजनेताओं का पल्ला पकड़ लिया, जैसी स्थिति स्वतन्त्रता संग्राम के समय थी, जबकि स्वतन्त्रता के बाद पत्रकारिता को निरीक्षक और नियन्त्रक बनना था। इसी का परिणाम यह हुआ कि समृद्धि और समुन्नति के सोपान पत्रकारिता की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ा पाए, उसकी विश्वसनीयता का तिरोहन अब पत्रकारों की चिन्ता का भी मुख्य विषय बन गया है।

विकास और समाज-सुधार के दायित्व निभाकर ही पत्रकार अपने को परिशुद्ध कर सकते हैं, परन्तु स्वार्थ-साधना का परिशुद्धता से बैर है। जो पत्रकारिता में आजकल की समृद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, उनका तर्क है कि उद्योगों की लाभकारिता के लक्ष्य समाचारपत्रों से भी विलग नहीं किए जा सकते, न्यूजपेपर भी प्रोफिट के लिए चलाए जाते हैं। यह चिन्तन दोषपूर्ण है, परन्तु दोष चिकित्सा, शिक्षा, समाजसेवा जैसे क्षेत्रों में भी आ गए हैं। हाँ, पत्रकारिता को इन सबसे अलग और ऊँचा रहना होगा। कोई किसी को समाचारपत्र निकालने और पत्रकार बनने के लिए आमन्त्रित नहीं करता। पत्रकारिता में जो आना चाहते हैं उनके लिए भिन्नता और शुद्धता उसी प्रकार अनिवार्य है जितनी ऑपरेशन के समय उसके

औजारों की होती है। इस देश में, स्थितियों में, इसकी संस्कृति में, आवश्यकता अनेकानेक ऑपरेशनों की हो गई है, और पत्रकारिता को यह काम करना है तो सौ फीसदी शुद्धता उसे निभानी होगी। विकास और समाज-सुधार में अपर्याप्तता, प्रदूषण और असन्तोष का अधिकांश दायित्व समाचारपत्रों को लेना होगा, वे ही आँख-कान होते हैं, वे अपने आलेखों से अभाव, अनाचार, अनौचित्य और असन्तोष को दूर रख सकते थे, यही उनका मुख्य दायित्व था, यही उनकी आजादी की लड़ाई की विरासत थी। ऐसी क्या पत्रकारिता हुई कि स्वतन्त्रता के सपने और भी बिगड़ते गए। समाचारपत्र समाजसेवक, समाजरक्षक, समाज-मार्गदर्शक होते हैं और इस दायित्व से विलग रहकर वे अपनी समुन्नति भी नहीं कर सकते, अपने लिए श्रद्धा तो बढ़ा ही नहीं सकते।

स्वतन्त्रता संग्राम के समय कष्ट-संकट-त्याग-बलिदान की जो परम्परा बनी, उसका पूर्णतः परित्याग पत्रकारिता में नहीं हुआ है—पत्रकारों की ओर की चौकसी और सावचेतना अब भी सबसे प्रमुख और प्रबल मार्ग-अवरोधक है उनके लिए जो अनौचित्य और अत्याचार से आत्मोन्नति करना चाहते हैं। यह उल्लेखनीय है कि ऐसे लोगों के वारों से अब भी पत्रकारिता ही, भारत की पत्रकारिता भी, आहत हो रही है, प्रतिवर्ष बलिदान दे रही है। जो बलिदानी पत्रकारों की सम्मान पट्टिका विश्वस्तर पर बन रही है, उसके लिए भारत भी निरन्तर नाम भेज रहा है।

जब विकास और समाज-सुधार में अपर्याप्तता रही है, यह अपने आप माना जाना चाहिए कि जिस प्रकार का आलेख इन विषयों में पत्रकारिता में होता रहा है, वह भी पर्याप्त और प्रभावशाली नहीं है, अतएव उसे प्रतिभाशाली भी नहीं माना जा सकता। समाज-सुधार विषयक आलेखन सामाजिक परम्पराओं और परिस्थितियों का विशद, गहन अध्ययन चाहता है। इनके बिना समुचित समाचार तक नहीं बन सकता, पत्रकारिता के अन्य प्रकार के आलेखन तो और अधिक विशिष्टता की अपेक्षा करते हैं। विकास के सम्बन्ध में भी अतीत, आगत और भविष्य का व्यापक अध्ययन आवश्यक हो गया है। समाचार सम्प्रेषण तक ही पत्रकारिता के दायित्व नहीं होते, यद्यपि विकास और समाज-सुधार, ये दोनों ऐसे क्षेत्र हैं, जिनके लिए समाचार संकलन, लेखन, सम्पादन भी कठिन और कंटकपूर्ण हो गया है। पत्रकारिता से अपेक्षा ऐसा ज्ञान, वातावरण और प्रोत्साहन, नित-निरीक्षण भी, बनाए रखने की की जाती है, जिससे ये दोनों क्षेत्र राष्ट्र को स्वस्थ, संगठित, सन्तुलित और समृद्ध बनाए रखने में सहायक हों।

समाचारपत्रों से जो जुड़े हैं, उनसे यह स्वीकार कराने में कठिनाई होगी कि उपर्युक्त दृष्टियों के अतिरिक्त भी जो समाचारपत्रों में आता है, वह भी पर्याप्त और प्रभावी नहीं है। जिनकी क्रय-शक्ति पर्याप्त है और जो पढ़ने की भी पूरी क्षमता रखते हैं, उनकी संख्या के अनुपात में समाचारपत्रों की प्रसार संख्या नगण्य-सी है और समाचारपत्रों का प्रभाव तो शून्यवत् हो गया है. समाचारपत्रों की विश्वसनीयता तक संकट में है। कायाकल्प और

में अनिवार्य हो गया है अति के अपने दोष होते हैं जिनसे अति

अधिक राजनीति, राजनेता और राजनैतिक पार्टियाँ समाचारपत्रों को अच्छादित किए रही हैं, उनके कारण—(1) इन तीनों के प्रति पाठकों में अरुचि और विपरीतता निर्मित हुई है, और (2) पत्रकार तथा समाचारपत्र निस्तेज और निन्दास्पद हुए हैं। पहुत विस्तार में जाए बिना यह समझा जाना चाहिए कि समाचारपत्रों में दुराचार और पत्रकारों में भ्रष्टाचार ऐसे घुन हैं, जिनका प्रसार इनके आन्तरिक क्षेत्रों में भी चिन्ता का विषय बन गया है।

जो समाचारपत्रों से सम्बद्ध नहीं हैं, वे अब भी समाज-सुधार और विकास से बहुत अधिक सम्बद्ध हैं, देश का कोई नागरिक नहीं है जो राष्ट्र के ये दोनों भुजबल सशक्त नहीं करना चाहता। गलत-गलत भुजबल और धनबल सबल हो गए हैं। स्वाधीनता संग्राम के समय के वरिष्ठ सम्पादक मानते थे कि सब सुधारों की जड़ समाज-सुधार है। और, विकास तो सर्व प्रमुख अपेक्षा ही थी। सिर्फ पत्रकारिता पर ये दोनों दायित्व नहीं छोड़े जा सकते। और, पत्रकारिता को भी सक्रिय सहयोग से ही सबल और सशक्त बनाया जा सकता है। पहले तो जो सबल और सक्षम हैं, उन्हें अपनी निगाहें तेज करके जो कुछ समाज-सुधार एवं विकास की दृष्टि से अति अनुकूल अथवा अति प्रतिकूल हो, उसके सम्बन्ध में सम्बन्धित समाचारपत्रों में आलेखन करना चाहिए। कम-से-कम सूचनाएँ भेजने का दायित्व तो हर सावचेत नागरिक को निभाना ही होगा। ऐसी सूचनाएँ यदि निर्वाचित प्रतिनिधियों और शासकीय-अशासकीय सम्बन्धित व्यक्तियों और संस्थाओं को भेजी जाएँ तो भी परिस्थितियाँ परिवर्तित हो सकती हैं। इससे ऊपर यह आवश्यकता है कि हर स्थल एवं स्तर पर प्रभावकारी समूह बनाए जाएँ, जिनके प्रयत्नों से वांछित परिणामों की बाधाएँ दूर होती रहें। आधुनिक लोकतन्त्रों का अनुभव यह है कि शासन के बाहर जो प्रभावकारी समूह होते हैं, वे ही परिणामों को अनुकूल रख सकते हैं। पूँजीपतियों और उद्योगपतियों की ओर से जो प्रयत्न इस प्रकार के हुए हैं, उन्होंने प्रदूषण फैलाया है—शासन में भी, पत्रकारिता में भी। इसका प्रतिकार, और समाज-सुधार एवं विकास की सबलता के लिए, समुचित प्रभावकारी समूह सारे देश में आवश्यक हो गए हैं।

जब समाचारपत्र समृद्ध हो जाते हैं, इनमें से कई समाज सेवा और विकास कार्यों के लिए अनुदान करने लगते हैं, इसे अपनी ख्याति और प्रभावशीलता बढ़ाने का उपाय वे मानते हैं। कुछ होंगे जो वास्तव में दायित्व और सेवाभाव से धन-दान करते हैं। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। अनौचित्य से कमाया गया धन परम्परा से भारत में अस्वीकार्य रहा है। दान उसी से लिया जाए जो शुद्ध और पवित्र हो, यह प्रतिबन्ध प्राचीन है। और जो कुछ समाज एवं विकास के लिए अनुचित है, उससे की गई कमाई का दान नरम से नरम शब्दों में अनुचित ही रहेगा। सिगरेट की हर डिब्बी पर लिखा रहता है—सिगरेट का उपयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। ऐसे आलेखन के बिना भी सब जानते हैं कि शराब और अधिक हानिकारक होती है। जो पत्रकारिता इनसे लाभान्वित होती है, वह देश का लाभ नहीं कर सकती। बात इनसे समाचारपत्रों में बचने तक सीमित नहीं है, यद्यपि शराब और सिगरेट के विज्ञापनों से अपने को बचाने के संकल्प कम ही समाचारपत्रों ने ले रखे हैं—ऐसे सब प्रशंसा और प्रणाम के अधिकारी हैं। परन्तु जो विख्यात और प्रसारित अधिक हैं उन्हें

करना होगा कि उनकी आय के सदोष साधन क्या-क्या हैं। इससे आगे की बात यह है कि लिखा उसी का प्रभावशाली होता है, जिसका प्रतिपादन स्वयं उसके उदाहरण से प्रमाणित होता है। परित्याग से पत्रकार अनभ्यस्त हो गए हैं जबकि पत्रकारिता पहले भी तपस्या थी, अब भी तपस्या है। एक बार फिर कहने की बात है, जो इसके लिए तैयार नहीं हैं, उन्हे पत्रकारिता छोड़ देनी चाहिए। अव्वल तो शराब और सिगरेट से सराबोर जो रहते हैं, वे इन दुर्गुणों के सम्बन्ध में चरित्र शुद्धि हो सके, ऐसा आलेखन नहीं कर सकते। दूसरे, सद्उदाहरण से प्रभावशाली कुछ नहीं होता। शराब और सिगरेट तक सीमित यह बात नहीं है—समाचारपत्रों में जिन दोषों और दुर्गुणों के विरुद्ध आलेखन होता है, उन सबसे अपने को बचाने का समाचारपत्रों से जुड़े लोगों का दायित्व होता है, स्वतन्त्रता संग्राम के समय की पत्रकारिता उन्होंने चलाई थी, जो सक्रिय रूप से स्वतन्त्रता संग्राम में लगे हुए थे, और गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे भी थे, जो साथ-साथ समाज-सुधार के लिए अपने जीवन को संकट में डाल रहे थे—वे स्वयं तो बलिदान ही हो गए।

समय की अवधि का दूसरा आयाम यह है कि हम इक्कीसवीं शताब्दी के स्वागत के निकट हैं। यह मात्र कलैण्डर अथवा कम्प्यूटर के परिवर्तन का अवसर नहीं होगा। जो दुनिया इक्कीसवीं शताब्दी को मिलेगी, वह अब तक की दुनिया से सर्वथा भिन्न होगी। बीसवीं शताब्दी को सन्तोष होना चाहिए कि उसके अन्तिम बीस वर्षों में ज्ञान-विज्ञान और तकनीक ने जो उन्नयन किया है, उसी से इक्कीसवीं शताब्दी का रूप-परिवर्तन होगा।

इन परिवर्तनो का लाभ पत्रकारिता ने पूरा उठाया है—समाचारपत्रों का स्वरूप ही बदल गया है और पत्रकारों के आयुध बहुत ही विकसित हो गए हैं। प्रश्न यह है कि इससे लाभान्वित कौन हुआ है—पत्रकारिता से जुड़े सभी अवयव और समूह, मालिकों से लेकर मजदूरों तक। पाठकों के हिस्से भी उन्नति के प्रसाद आए हैं। गलाकाट प्रतिद्वन्द्विता जो समाचारपत्रों में हो रही है, उसने पाठकों के लिए विकल्प, समान रूप से सक्षम विकल्प, बढाए ही हैं। परन्तु देश में जो अभाव, असन्तोष, अनिश्चय, अँधकार व्याप्त है, अशोभनीय, अनुचित और अत्याचार की जो अभिवृद्धि हुई है, उसका परिमार्जन करने की क्षमता पत्रकारिता ने नहीं बढ़ाई है। समृद्धि सबकी बढ़ी है, परन्तु स्वार्थों की सन्दूकों में वह चली गई है। पत्रकारिता यदि समाज को वांछित रूप से परिवर्तित नहीं कर सकती और राष्ट्र को सभी रूपों में सशक्त नहीं कर सकती तो उसका अस्तित्व निरर्थक है।

इस प्रकार के रोष और दोष-दर्शन से काम नहीं चलेगा, ऐसी नकारात्मकता से राष्ट्र-निर्माण नहीं हुआ करता। जो पत्रकारिता से जुड़े हैं, उन सबको आत्मनिरीक्षण करके नवयुग के लिए नव-सक्रियता, नव-साधना एवं नव-चेतना निर्मित करनी होगी।

❑

पत्रकारिता और स्वतन्त्रता के दायित्व

परिणाम से प्रयत्न का आकलन हमेशा उचित नहीं माना जा सकता। पचास साल ही तो हुए हैं, उनके पहले के पचास सालों में, देश के सभी भागों में, ऐसे अनेक थे, हजारों मे, जिन्होंने अपना जीवन बलिदान किया या इससे भी अधिक उत्पीड़क कष्टों और संकटों में जीवनयापन किया; ऐसे स्वतन्त्रता संग्राम में लगकर जिसके नतीजे में स्वतन्त्रता मिलने की आशा-किरण उनके साथ नहीं थी। सदा से स्वतन्त्रता संग्राम में बलि होने वालों का आदर उसका उपभोग करने वालों से अधिक रहा है।

परन्तु यह समय है जब हम अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं। इसने कुछ आशाओं को पूरा किया है। देश के हर भाग में अधिकांश हैं, जिनके जीवनयापन का स्तर समुन्नत और परिवर्तित हुआ है, महामारियाँ बन्द हो गई हैं, अकाल की परिभाषाएँ बदल गई हैं, जीवन की अपेक्षित आयु ही दुगुनी हो गई है। इतने कम समय में इतने अधिक लोगों की उन्नति मानवीय इतिहास का बेमिसाल नमूना है।

समस्या को इस प्रकार से अवश्य देखा जा सकता है कि इस बदली हुई, और बेहतर हुई, स्थिति का अहसास और अभिमान नहीं है। इसका एक पक्ष यह है कि इसकी जानकारी नहीं है। इससे जुड़ी यह बात है कि जानकारियाँ देने के जितने माध्यम हैं, वे सबके सब अब भी अनजान, अहितकर, अनाचार और अत्याचार को ही प्राथमिकता दे रहे हैं। इस चली आ रही परिपाटी के अनुसार कि कुत्ता आदमी को काटता है, यह समाचार नहीं होता। समाचार तब बनता है जब आदमी कुत्ते को काटता है, लेकिन क्या तब समाचार नहीं बनता जब आदमी आदमी को काटता है। बनता है, और मानवीय अत्याचार के समाचार भी प्रमुखता प्राप्त करते हैं। परन्तु स्वतन्त्रता की अवधि पुनर्निर्माण की अवधि होती है, जिसे दो प्रकार से देखा जाना चाहिए, जो उपलब्धियाँ हो गईं उनके लिए आत्माभिमान और आत्मानन्द होना चाहिए, सन्तोष और सराहना। जो बच गया है, उसका ऐसा विश्लेषण, पश्चाताप तथा दोष एव दण्ड-निर्धारण कि समुन्नति की मंजिलें और भी जल्दी से प्राप्त हों। ये दोनों दिशाएँ हैं जिनकी ओर समाचारपत्र और समाचार-सम्प्रेषण के साधनों का पर्याप्त ध्यान नहीं है।

जो उत्पात, अनाचार और अत्याचार भारत में चारों ओर मचा हुआ है, आजादी के पचास सालों में निरन्तर बढ़ता हुआ, उसके सम्बन्ध में समाचार-साधन अपना दायित्व मानते ही नहीं—समाचारपत्र समाज का दर्पण होते हैं, इसके निर्वहन में सन्तोष माने हुए हैं। समाज को बदलने और बिगड़ने से रोकने की जो सर्वोपरि जिम्मेदारी थी, उसमें समाज का नेतृत्व और प्रतिनिधित्व करने वाले जैसे शेष सभी असफल रहे, वैसे-के-वैसे पत्रकार और समाचारपत्र भी असफल रहे हैं। इसके लिए इस समय कोई अपनी जिम्मेदारी नहीं मान रहा, तो पत्रकार और पत्र-संचालक भी नहीं मान रहे। यह स्थिति शुभ और स्वीकार्य नहीं है।

इसमें से तीन बातें निकलती हैं।

पहली यह कि क्या पत्रकार, सम्पादक आदि को अपनी परिधि से निकलकर सक्रिय रूप से समाज की समस्याओं से स्वयं जूझना चाहिए। स्वतन्त्रता संग्राम जब हो रहा था, उसका समाचार और सम्पादकीय स्तम्भों में समर्थन और उसमें अपने लेखन से सहयोग करने वाले जो थे, उनके अतिरिक्त उनमें से ही अनेक, ऐसे थे जो संग्राम के विभिन्न आयामो मे स्वयं जुट गए—उसके कष्ट सहे, यातनाएँ सहीं। स्वयं जेल गए और भूमिगत भी हुए। अपने अखबार बन्द करके छिपे-छिपे आजादी के परचे भी सम्पादकों-संचालकों ने निकाले। स्वतन्त्रता संग्राम के साथ जो समाज-सुधार के आन्दोलन हुए, उनमें उस समय के राजनेताओं की तरह, पत्रकार, सम्पादक, लेखक, कवि आदि भी लगे हुए थे, जिनमें स्वयं-बलिदानी श्री गणेश शंकर विद्यार्थी स्मरणीय ही नहीं, पूजनीय हो गए हैं।

ऐसे पत्रकारों-सम्पादकों का अनुसरण अब नहीं हो रहा और पत्रकार मुख्यत: अपने परिश्रम और देश की बदली स्थितियों का लाभ उठाने के साथ-साथ इनका शोषण या दोहन करने में लगे हुए हैं। इस दौड़ और होड़ में पत्रकारिता के पल्लू पर जो गन्दगी के छींटे लगे हैं, उनकी ओर प्रेस कौंसिल जैसी संस्था की ओर से ध्यान दिलाये जाने के बाद भी किसी का ऐसा यत्न नहीं है कि यह 'उन्नति-समृद्धि' का रास्ता बन्द हो। पत्रकारिता और पवित्रता का रिश्ता समाप्त कर लिया गया है। ऐसा-का-ऐसा अन्य व्यवसायों में हुआ है, यह तर्क इसके अनुरूप नहीं है कि पत्रकार निरन्तर और सब जगह प्रथम पंक्ति माँगते और प्राप्त करते हैं, वे विशिष्ट और विख्यात होते हैं, उनका किया छिपता नहीं और मर्यादाओं-आदर्शों का जो प्रतिपादन वे अपने लेखन तथा स्तम्भों में करते रहते हैं, वे सब उन पर उनके अनुसरण का अतिरिक्त भार डालते हैं। यह नकारात्मक स्थिति सामने आ गई, चूँकि पत्रकारिता में इसी का प्राबल्य हो गया है। नहीं तो प्रश्न इस प्रकार से उठा था कि जो समाज-सुधार आदि के आन्दोलन हैं, और आवश्यक हैं, उनमें पत्रकार सक्रिय रूप से लगें या नहीं। हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के समय की परम्परा में इसका उत्तर 'हाँ' में होगा। इसे 'नाँ' में बदलकर पत्रकारो ने अपना कद ओछा किया है।

दूसरी बात यह है कि उस समय के जो समाचारपत्र थे, लोकमान्य तिलक का 'केसरी' हो, चाहे महात्मा गाँधी का 'हरिजन' अथवा राजा राममोहन राय का 'बंगदूत', और भी अनेक पत्र-पत्रिकाएँ थीं, जिनमें हिन्दी मासिक 'चाँद' का नाम प्रमुख है, वे सब स्वतन्त्रता संग्राम के समय में भी स्वतन्त्रता संग्राम के समान ही महत्त्व समाज-सुधार को देती थीं। असल बात तो यह है कि भारत में पत्रकारिता का प्रारम्भ ही सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की जरूरत में से ही हुआ था, और उसने देश के स्वतन्त्र होने तक इसको अपना मुख्य दायित्व माना। स्वतन्त्र होते ही क्या हो गया? विगत पचास वर्षों का विवरण यह है कि पत्र और पत्रकार समाज-विमुख हुए हैं, और उनकी बड़ी जिम्मेदारी मानी जाएगी कि समाज मे विकृतियाँ बढ़ी हैं। एक उदाहरण लें—क्या सिनेमा और टेलीविजन के अर्थोपार्जक कार्यक्रम ही समाज के लिए इस समय सबसे आवश्यक हैं? राजनीति भी महत्त्वशील उतनी नही है जितनी महत्ता पत्रकार उसे दे रहे हैं। जो समाचारपत्रों में स्थान प्राप्त कर रहा है उसका समुचित सम्यक् विश्लेषण हो गया है

इस क्रम का तीसरा चरण यह है कि देशवासियों की दैनिक आवश्यकताओं की आपूर्ति में जो सेवाएँ और उत्पाद-उत्पन्नकर्त्ता लगे हुए हैं, कारखानेदार और कारोबार, उनकी कृतियों-कुकृतियों का चित्रण उनके समाज में स्थान के अनुपात में नहीं होता। मिलावट के मामले पकड़ में आने पर प्रकाशित हो जाते हैं. जबकि अपेक्षा मिलावट रोकने और उनमे लगे लोगों को उजागर करने की है। पत्र-पत्रकार औद्योगिक समूहों की सराहना और उपहारों से आनन्दित अपने को करते रहते हैं। अनेक विज्ञापन भी उपहार के रूप में प्राप्त होते हैं, परन्तु होना उन्हें पाठक-पक्षीय चाहिए। सारा सन्तुलन इससे बिगड़ा है कि अखबार निकालने का खर्चा उसकी प्रतियों की बिक्री से कम और उसमें प्रकाशित विज्ञापनों में से अधिक निकलता है। लेकिन हम देख चुके हैं कि हमारे देश के अखबार आजादी की लड़ाई में अपना सर्वस्व लुटाकर ही प्रख्यात और प्रशंसनीय हुए थे। जो रास्ता बताया जा रहा है, उसके संकट सबको मालूम हैं लेकिन वीरता संकटों से विमुख होने में नहीं होती।

तीसरी बात सामाजिक संस्थाओं की है—कुछ जातिवार और वर्गवार बनी हैं, जैसे ब्राह्मणों की और कपड़ा बनाने-बेचने वालों की। इन्हें स्वार्थ-साधक बन जाने दिया गया है जबकि इनका दायित्व समाज-सुधार रहा है। यह काम भी बड़ी मात्रा में इन संस्थाओं में हो रहा है, जैसे पारिवारिक सुधार और उत्पाद-शुद्धता। परन्तु प्रवचन और प्रस्ताव ही अधिक होते हैं। फिर भी, जो होता है, उसका प्रकाशन कम होता है। सामाजिक संस्थाओ के आयोजन होते हैं, उनमें राजनेता और पदासीन व्यक्तित्व, जैसे राष्ट्रपति, राज्यपाल, उनकी उपस्थिति तथा उक्तियाँ ही महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं, जबकि ये अवसर होते हैं उनके समाज-सुधार के सम्बन्ध में किए गए संकल्पों के विश्लेषण के। संस्थाओं के पदाधिकारी कम स्थान प्राप्त करते हैं जबकि जवाबदारी उनकी ही होती है। और विशेषज्ञ तो सुने-समझे ही नहीं जाते जबकि वे ही हैं जो आज सही रास्ता दिखा सकते हैं। उनके अच्छे-से-अच्छे भाषण दो पंक्तियाँ भी प्राप्त नहीं करते।

इससे जुड़ी यह बात हैं कि स्वतन्त्रता के बाद गैर-सरकारी संस्थाओं (एनजीओज) का जाल सारे देश में फैला है। इनकी भी हमारे स्वतन्त्रता संग्राम समय की परम्परा है। ऐसी संस्थाएँ थीं—जिनमें अति सुयोग्य व्यक्ति जीवनयापन के लिए न्यूनतम लेकर अपना सारा जीवन लगा देते थे। अब थोड़ा-ज्यादा ले लिया जाए, लेकिन लाभार्जन का साधन इन्हें नहीं बनने दिया जा सकता। एक तो समाचारपत्रों ने इस नकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की है, घपले-घूसखोरी आदि जो ऐसी संस्थाओं में होती है, जैसे शिक्षण संस्थाओं में अध्यापकों-अध्यापिकाओं को कम देकर ज्यादा की रसीद लिखाना, ऐसे मामले उजागर नहीं किए जाते, परन्तु ज्यादा जरूरी यह है कि इन संस्थाओं की सेवा से जो समुन्नति सचमुच हुई है, उसे ऐसा प्रकाशन प्राप्त हो कि इसके लिए और अधिक सहयोग का वातावरण बने।

स्वतन्त्रता हर नागरिक के दायित्व बनाती है। इनकी आपूर्ति से ही स्वतन्त्रता सुरक्षित और सम्पन्न होती है। समाचार-माध्यमों में लगे लोगों के लिए भी आजादी के पचास साल पूरे होने पर इस दृष्टि से आत्मचिन्तन का यह अवसर है।

❑

पत्रकारिता का भविष्य

पत्रकारिता के भविष्य पर विचार के समय, पहले भविष्य पर विचार आवश्यक है।

भविष्य के बारे में पहली बात यह होती है कि उस पर किसका अधिकार है? चाहे राष्ट्र हो अथवा समाचारपत्र अथवा प्रतिपादन, प्रचार और प्रसार का अन्य कोई साधन, स्वतन्त्र उसी को माना जाता है जो अपने और अपने भविष्य के बारे में निर्णय स्वयं कर सकता है।

जो समाजोपयोगी अथवा समाज में प्रचलित अथवा समाज से लाभान्वित होने वाली संस्थाएँ हैं, शासन और समाचारपत्रों सहित, उन पर यह अतिरिक्त दायित्व रहता है कि वे अपनी स्वतन्त्रता, निर्णय शक्ति और हर प्रकार के व्यवहार का तारतम्य समाज के हित, उन्नयन, संरक्षण और भविष्य के साथ बनाये रखें। समाज से सम्बन्धित जो संस्थाएँ इस आधारभूत दायित्व को नहीं मानतीं, वे स्वच्छन्द, असहनीय, हानिकारक और बहुत बार अत्याचारी हो जाती हैं। इसीलिए उनके विरुद्ध आन्दोलन जब होते हैं, समाज के प्रति दायित्वपूर्ण सभी संस्थाओं को, समाचारपत्रों को भी उनमें कूदना पड़ता है। इसीलिए सभी समाजोपयोगी संस्थाओं को विपरीतता, विरोध और आक्रमण का सामना करना पड़ता है, जो समाचारपत्रों ने निरन्तर किया है, और भविष्य में भी इसकी उतनी ही आवश्यकता रहेगी, कदाचित् पहले से ज्यादा, क्योंकि प्रतिकूल और परतन्त्रताकारी शासन के विरुद्ध आन्दोलन और आक्रमण, चाहे वह बलिदान में अस्तित्व और जीवन ही ले ले, फिर भी सीधा, सामयिक और स्पष्ट होता है। स्वतन्त्रता होने पर जो सरकार 'अपनी', अर्थात् सभी देशवासियों की हो जाती है, वही स्वच्छन्दता की ओर बढ़ने लगती है, जैसा भारत में देश की स्वतन्त्रता के बाद होता जा रहा है और उससे जो अपेक्षाएँ देशवासियों के कल्याण और समुन्नयन की होती हैं, वे भी पूरी नहीं हो पातीं, जिनके कारण इस समय भारत में एक ओर आधी आबादी में निर्धनता है, दूसरी ओर सम्पन्न वर्ग की स्वार्थपरक, समाजपीडक, अनौचित्य से अर्जित सम्पन्नता है, और, उससे भी बड़ी बात यह है कि संविधान में स्थापित 'समता' और 'बन्धुता' सम्पुष्ट होने की जगह विदीर्ण होती जा रही है। ऐसी स्थिति में जो स्वतन्त्रता होती है, उसका दुरुपयोग अवश्य होता है और स्वतन्त्रता का दुरुपयोग उसके विनाश की ओर ले जाता है। समाज के अनेक अंग इस समय इसी विपथगामी कुमार्ग की ओर हैं और हीनता से उत्कृष्टता दबती जा रही है। यह संकट गहराता जा रहा है। जो भी समाज से सम्बन्धित संस्थाएँ हैं, समाचारपत्रों सहित, उनके सामने इस समय सोचने की बात यह है कि वे स्वतन्त्रता के दुरुपयोग में शामिल, उसकी सहायता और समर्थन में हैं या नहीं? और उनकी शक्ति, प्रक्रिया, प्रयत्न और परिणाम किस ओर हैं? कहने से कुछ नहीं होता।

अभाव, अन्याय, अतिक्रमण, अनाचार और अत्याचार भी रहें और पत्रकारिता तथा समाचारपत्र भी रहें, यह स्वयंमेव विरोधाभास है, जिसकी छत्रछाया में जो भी समाजोपयोगी सस्थाएँ जीवन-यापन कर रही हैं, वे अपने अस्तित्व का ही नहीं, अपनी परम्परा और प्रतिष्ठा का भी हनन कर रही हैं। देश की स्वतन्त्रता के बाद समाचारपत्र संख्या और प्रसार संख्या में, और उसके सब अंग, पत्रकारों सहित, सम्पन्नता में बढ़े हैं, परन्तु उनका प्रभाव कम हुआ है, जो स्थिति समाज से सम्बन्धित सभी संस्थाओं की है, जैसे जातिगत पंचायतें और संस्थाएँ पतन और यातनाओं पर नियन्त्रण नहीं रख पा रहीं। कोई भी एक बात लें लें, दहेज हत्या या दवाओं में मिलावट जैसी, उसे प्रकट करना और अपराधियों को दण्डित कराया जाना पर्याप्त नहीं है, यद्यपि यह भी समाचारपत्र भरपूर नहीं कर रहे। आवश्यकता ऐसी स्थिति की है कि ऐसे अनौचित्य और अपराध हों ही नहीं, जिसके लिए सामाजिक संस्थाओं को समाज से अधिक शक्तिशाली होना होता है। समाचारपत्र बहुत बार समाज के प्रतिबिम्ब कहे जाते हैं, परन्तु उनके दायित्व उन्हें समाज का नियामक बनाते हैं। जिस तरह समाचारपत्रों का सहयोग स्वतन्त्रता की प्राप्ति में रहा, उससे अधिक उनके कार्यकलाप की स्वतन्त्रता की और उसके सभी अवयवों की सुरक्षा के लिए आवश्यकता है, और वे उसमें कितना, कैसा योगदान करते हैं, इसी से उनका भविष्य निर्मित होगा।

इसमें निर्णायक बात यह रहेगी कि समाचारपत्र और पत्रकार अपने और अपने कार्यकलाप और अपनी निर्णय शक्ति के बारे में अपनी स्वतन्त्रता कितनी निभाते हैं : दूसरो को सौंपने और समर्पण करने के प्रलोभन इतने हो गये हैं, और स्वयं अपने सुख, दायित्व और जीवनयापन के व्यय इतने बढ़ गए हैं कि उनसे आबद्ध अधिकाधिक समाचारपत्र और पत्रकार होते जा रहे हैं। शासन और समाज के उद्दण्ड अंग अपने आतंक बढ़ाते जा रहे हैं, और समाज के सम्पन्न वर्ग देने में इतने समर्थ हो गए हैं कि वे चाहे जिसको खरीद लेते है। 'बिकने' और 'बनने' में अन्तर विलोपित होता जा रहा है। ऐसे में अपने कार्यकलाप, अभिव्यक्ति और अभिमत पर अपना निर्णय निभ नहीं पाता। अपने भविष्य पर दूसरे की छाया और छाप लग जाती है। इस दृष्टि से भारतीय पत्रकारिता के समक्ष उसका भविष्य उलझनभरी पहेली बनता जा रहा है, जिसकी सुलझाहट का रास्ता यातनाओं, त्याग और बलिदानों से आच्छादित है, जैसा स्वतन्त्र पत्रकारिता के लिए सदा से रहा है। सन्तोष की बात यह है कि शेष संसार की तरह भारत में भी पत्रकारिता में ऐसे व्यक्ति हैं, जो इसी मार्ग को उस सबके बलिदान से गौरवान्वित कर रहे हैं जो उन्हें चैन-चाँदी की जिन्दगी दे सकता था। उनके बारे में प्रकाशन कम होता है, क्योंकि उनका उदाहरण जो कष्ट और संकट आमन्त्रित करता है, उनके लिए पत्रकारिता की भावना और सामर्थ्य कम होती जा रही है।

व्यावहारिक रूप में पत्रकारिता से जुड़ा सबसे बड़ा सवाल यह है कि जो प्रगति विज्ञान और तकनीक में हो रही है, उसे अपने विकास में संयोजित करने में भी समाचारपत्र आदि कितने सफल होते हैं। स्वयं पत्रकारों के लिए भी अनेक नवीन प्रयोग अनिवार्य हो गए हैं जैसे आधुनिक सयन्त्र एक ओर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ाते जा रहे हैं दूसरी ओर ऐसी प्रवीणता की अपेक्षा करने लगे हैं जिसका [illegible] को [illegible] नहीं है इन परीक्षाओं

मे भारत के समाचारपत्र और पत्रकार उत्तीर्ण ही नहीं हो रहे, अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करते जा रहे हैं।

परन्तु इसमें से निकला है प्रश्न 'पिछड़े' और 'आगे बढ़े' पत्रकारों और समाचारपत्रों का। यह प्रश्न छोटे समाचारपत्रों और अपनी आर्थिक स्थिति समुन्नत नहीं कर पाने वाले पत्रकारों के लिए तात्कालिक और सर्वाधिक महत्त्व का है। आश्चर्य इस पर होता है कि इन समाचारपत्रों को चलाने वालों को अपनी परिस्थिति पर आश्चर्य और क्षोभ नहीं होता, जो जैसे चालीस साल पहले चार पन्ने के निकलते थे, अब भी चार पन्नों के निकलते हैं। आकार अपने में प्रतिमान अथवा दोष नहीं होता, चूँकि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता निभाने वाले अपने निर्वहन और संचालन पर अधिक व्यय नहीं कर पाते। परन्तु जो समाचारपत्र पत्रकारिता के व्यवसाय में हैं उनके लिए समुन्नति के सिवा कोई विकल्प नहीं है और वह नहीं प्राप्त हुई तो उसका इसके सिवा कोई कारण नहीं है कि ऐसे समाचारपत्रों के संचालकों ने स्वयं अपनी समुन्नति को अपने समाचारपत्रों की समुन्नति से अधिक महत्त्व दे रखा है। ऐसा सन्तोष विकृत माना जाता है, जिसमें आयु के साथ आकार नहीं बढ़े। छोटापन विकास के प्रथम चरण के रूप में अनिवार्य होता है, समादृत भी होता है। परन्तु किसी छोटेपन को विशेषाधिकार नहीं बनने दिया जा सकता। छोटे और मध्यम श्रेणी के समाचारपत्र अपने संगठन अलग बनाते हैं, जो बड़े समाचारपत्रों की होड़ में आवश्यक तो हैं, लेकिन यदि इस श्रेणी में से निकलकर कुछ अपनी क्षमता से बड़ी श्रेणी में नहीं आते तो एक ओर नए उठने वाले छोटे समाचारपत्रों के लिए स्थान नहीं बचता—समाचारपत्र-संचालन अधिक लाभदायी और आकर्षक नहीं बन रहा। ज्यादातर पुराने ही जैसे-तैसे चल रहे हैं। नए उठते हैं, लेकिन पनप नहीं पाते। देखते-देखते अनेक साप्ताहिक और दैनिक मुरझा गए हैं, कई मिट गए हैं। दूसरी ओर जो 'छोटे' बने रहते हैं, उन पर 'बड़े' समाचारपत्र अवश्य आक्रमण करते हैं। 'बड़े' समाचारपत्र जिस तरह नए-नए नगरों से अपने संस्करण निकाल रहे हैं, उनसे छोटे समाचारपत्रों की समस्याएँ बढ़ी हैं, इसलिए कि उन्होंने 'बड़े' होने का विकल्प अपने लिए अंगीकार नहीं किया। बढ़ना ही अस्तित्व का द्योतक होता है, जो नहीं बढ़ते उनका आदर नहीं रहता।

इसकी छटपटाहट इस समय भारत के ज्यादा बड़े समाचारपत्रों को बहुत है, क्योंकि भारत की सरकार की औद्योगिक-आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने विदेशों में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के लिए भारत के द्वार भी खोल दिए हैं। सरकार के दरवाजों पर और न्यायालय की ड्योढियों पर दस्तक दी जा रही है और दलीलें दी जा रही हैं कि विदेशी समाचारपत्रों का प्रवेश भारत और भारतीयता पर आक्रमण होगा और भारत के समाचारपत्रो का संरक्षण राष्ट्रहित में, और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए, आवश्यक है। जो सरकार मामूली खाद्य पदार्थों के लिए विदेशी अभ्यागतों का आगमन नहीं रोक पा रही, वह अभिव्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता का झण्डा लेकर आने वालों का आगमन अधिक समय तक नहीं रोक सकेगी विशेषत इसलिए कि इसका अर्थ और प्रयोजन अधिक नहीं रह गया है जब आकाशीय मार्ग से आने वाले कार्यक्रम और विचार रोके नहीं रोके जा रहे जो आप अपने

आँगन में टेलीविजन पर देख सकते हैं, उसी को हाथ में लेकर पढ़ने से आपको वंचित ज्यादा समय तक नहीं रखा जा सकेगा।

एक और पेचीदगी है। भारत के 'बड़े' समाचारपत्र भारत और भारतवासियों की उन निर्बलताओं, दोषों और दुराचारों को नहीं रोक सके हैं, जिनसे इस समय हम सब बहुत ग्रसित हैं और भयभीत हैं। गरीबी, महँगाई, मजबूरी की जो दयनीयता समाज का पतन कर रही है, उसके प्रति उपेक्षा इसलिए हो रही है, क्योंकि जिन 'बड़े' समाचारपत्रों के पास पाठक संख्या अधिक है, उनमें से अधिकांश स्थापित सत्ता और स्वार्थों के भागीदार और समर्थक हैं, इसलिए कि उनमें पूँजी उनकी लगी है जो अन्य-अन्य उद्योग व्यवसाय में अपनी पूँजी को अधिक प्राथमिकता दिए हुए हैं। उद्योगपतियों द्वारा पत्र-संचालन अपने मे पत्रकारिता का विरोधाभास है, जिसे इस तरह सहजता से समझा जा सकता है कि ऐसे सब समाचारपत्रों में उद्योगों के विज्ञापन बढ़े हैं, और उनके साथ उनके प्रचार में प्रसारित सामग्री भी। होना यह चाहिए था कि जो उपभोक्ता हैं, और सभी समाचारपत्रों के अधिकांश पाठक, उनके हित में उद्योगों के दुराचार उजागर किए जाते—सब समाचारपत्र उन पर परदा डालने और दण्डनीय उद्योगपतियों की प्रशंसा में जुट गए हैं। हम सब उद्योगों का विकास चाहते हैं, परन्तु जिस तरह उनकी ओर से शोषण, उत्पीड़न और उनकी प्रगति की अपर्याप्तता ने विदेशी पूँजी और तकनीक के लिए दरवाजे खोलने को भारत सरकार को विवश किया, उसी प्रकार उनके चलाए समाचारपत्रों को सीधे रास्ते लाने के लिए उन समाचारपत्रों को भी आने देना जरूरी हो गया है जो केवल मात्र पत्रकारिता की मान्यताओं से अपना संचालन करते हैं। ऐसे समाचारपत्र अब भी इस देश में हैं, परन्तु पाठक संख्या उन्हें ही अधिक प्राप्त है जो उद्योगपतियों द्वारा चलाये जा रहे हैं। जो समाचारपत्र अपने यहाँ शासन और समाज को चौकन्ना रखते हैं और आवश्यकता अनुभव होने पर उनके अगुआओं को गिराते भी हैं, वे भारत में आकर भिन्न व्यवहार नहीं कर पाएंगे। यह अवश्य है कि उन्हें अनुचित प्रतियोगिता का और विदेशियों के प्रति अति अधिक आकर्षण और आदर भावना का लाभ नहीं उठाने देना चाहिए। मत्स्य न्याय की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ जाएगी, छोटों को खाकर बड़े पनपने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु हर क्षेत्र की तरह दुर्बलता के लिए पत्रकारिता में भी अब कोई जगह नहीं है।

हम विदेशी पत्रकारिता का वह स्वरूप अंगीकार नहीं कर रहे जो उन्हें अपने मूल क्षेत्रों में जमाए हुए है। एक शब्द में, यह समाज या शासन से जुड़े रहने की बात है। जब तक समाचारपत्र शासन से जुड़े रहेंगे, तब तक उनका समाज में आदर नहीं होगा और समाज मे जिनका आदर होगा, उनका शासन में बैठे लोग आदर नहीं करेंगे, उनसे भयभीत रहेंगे।

वैसे भी, जब पाठक अधिक संख्या में समाज के सदस्य हैं, शासन के नहीं, आदर, सेवा और दायित्व समाज के प्रति ही होना चाहिए।

जिन समाचारपत्रों ने इस ओर ध्यान देकर अपनी पाठक संख्या बढ़ाई है, उन्होने सच्चा पाठकों के मनोरंजन का पकड़ा है जिस होड़ ने दैनिकों को साप्ताहिक बना दिया है और कई [illegible] को समाप्त कर दिया है यह अच्छा नहीं है क्योंकि

मासिकों, त्रैमासिकों और पुस्तकों का हर समाज के लिए अलग-अलग महत्त्व होता है। इन पर रेडियो और टेलीविजन ने अलग से आक्रमण कर रखा है। समाचारपत्रों को ऐसा कार्यरूप अपनाना चाहिए था कि मुक्त चिन्तन, स्वविवेक और स्वस्थ जीवन और उच्च विचार विकसित हों, जो अकेले उनके बल पर सम्भव नहीं है। साप्ताहिकों, मासिकों, त्रैमासिको और पुस्तकों की इसके लिए जरूरत होती है, जो इससे प्रकट होती है कि सचमुच स्वतन्त्र और विकसित देशों में ये सब साथ-साथ समुन्नत हो रहे हैं। जहाँ ऐसा नहीं है, इसके लिए प्रबल आन्दोलन है। अमेरिका में अलग से है और संयुक्त राष्ट्र संघ के शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संगठन ने अलग से पुस्तक अभियान चला रखा है। हमारे यहाँ साप्ताहिकों, मासिकों, त्रैमासिकों और पुस्तकों का घटता उपभोग बहुत चिन्ता का, और विचार का, विषय होना चाहिए।

हमारे समाचारपत्र शासन के बाद और उनके साथ-साथ उद्योगपतियों का अनुकरण और स्वार्थ-साधन करने लगे हैं। इससे मुक्ति पहली आवश्यकता है, जो जितनी बढ़ेगी, उतना ही समाचारपत्रों का भविष्य विकसित होगा।

इस मूल मन्त्र के अलावा, समाचारपत्रों को, और पत्रकारों को समाज की अवनति और उन्नति के विभिन्न कारणों और विषयों को अपनाना होगा। समाज गिरे और समाचारपत्र उठे, यह समाज के लिए कुचेष्टा और समाचारपत्रों के लिए कलंक है। यह अवश्य नारा है, लेकिन विस्तार से विचार इस पर होना चाहिए कि समाचारपत्र समाज के समुन्नयन में योगदान कैसे कर सकते हैं।

समाज एक समूचा समुच्चय होता है, परन्तु इसमें व्याप्त विविधताएँ उसके हर अंग, और उसकी विभिन्न परिस्थितियों को, अनेकानेक वास्तविकताओं का स्वरूप देती हैं। इस दृष्टि से हर समाचारपत्र के लिए, और पत्रकार के लिए, दायित्व अलग-अलग बनेंगे। और, इनमें से हरएक को अपना-अपना दायित्व पहचानना होगा। इसमें चूक से पथभ्रष्टता व्याप्त हो जाएगी, जो भारतीय पत्रकारिता की इस समय मुख्य बाधा है। समाचारपत्र जहाँ पढ़ा जाता है, उस वर्ग में, और उस वर्ग द्वारा विकास, समुन्नति और शुद्धता कितनी होती है, यही हर एक समाचारपत्र के लिए कसौटी हो जाती है।

चाहे जहाँ से शुरू करें। एक योजना लागू होती है। वह उसके लक्षित क्षेत्र के लिए उपयुक्त है या नहीं, यहाँ से लेकर, उसके अन्तिम परिणाम तक, उसके हर क्षण एवं क्रम में, पत्रकारिता की ओर से देखरेख रहनी चाहिए। ऐसा होता तो यह नहीं होता कि 100 रुपये की लागत की योजना के लाभ वास्तविक लाभार्थियों को केवल 15-20 रुपये के पहुँचते। जिस समाचारपत्र के क्षेत्र में यह 80-85 प्रतिशत का गोलमाल हुआ है, उस पर भी इस भ्रष्टाचार का दायित्व है।

एक ओर दहेज हत्या, दूसरी ओर यौन-दुराचार बढ़े हैं। समाज में उथल-पुथल ही नहीं, असन्तोष, अलगाव और भटकाव है। सबल समाचारपत्रों को होना है, जो विपथ के हर विचार और कार्य का विरोध समय रहते इस प्रकार करें कि ऐसा कुविचार अथवा कुकार्य हो ही नहीं हमें [illegible] और [illegible] से अधिक विवेक औ' सयम की [illegible] है जिसे

बढ़ाने का रास्ता कठिन भी है और संकटशील भी। पत्रकारिता का रास्ता सरल और सौम्य नहीं होता। अपने को खपाना होता है और जो अपराधी है, उसे जलाने को तैयार रहना होता है। पत्रकारिता के लिए जितनी चैतन्यता आवश्यक है उतनी ही प्रखरता—जो प्रशंसा से अपने स्वार्थों के निर्माण से एकदम भिन्न होता है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आरम्भ में जिनका योगदान था, वे सब पहले समाज-सुधारक थे, जिनमें अनेक समाज-सुधार में लगे सम्पादक और पत्रकार थे। स्वतन्त्रता संग्राम के समय में भी उसके जिन संचालकों ने पत्रकारिता से अपने को जोड़े रखा, उन सबने, महात्मा गाँधी ने भी, समाज-सुधार की ओर बराबरी का ध्यान रखा। अब स्थिति भिन्न नहीं हुई है, क्योंकि यह समय स्वतन्त्रता संग्राम की परिकल्पनाओं और संकल्पों से स्वरूप देने का ही है। उसमें विचलन समाज की विकृतियों के कारण हो रहा है। अतएव पत्रकारिता के दायित्व भी दूने हो गए हैं—समाज की समुन्नति और समाज कंटकों का शमन।

यह रास्ता आसान नहीं है। शासन दूर-दूर होता है, बहुत सह लेता है। उपद्रवी और गुण्डे पहले तो अपना अहित करने वाले से स्वयं निपट लेते हैं, फिर उन्हें किराए पर लिया जा सकता है। उनसे अपनी रक्षा में अपने बलिदान के लिए निरन्तर तैयार रहना पड़ता है। उसमें से निकला अक्षर ही ऐसी क्षमता और मान्यता प्राप्त करता है जो किसी भी अनौचित्य, अन्याय, अत्याचार और अभाव को, असमानता को, असद्‌भावना को, रखने नहीं देती। इसकी ओर पत्रकारिता कितनी बढ़ती है, इसी से उसका भविष्य निर्धारित होगा।

समाचारपत्रों में एक नई जागृति आई है। इसका आरम्भ विदेशों में हुआ, जहाँ अनुभव किया गया कि अपने पाठकों के प्रति दायित्व निभाए बिना कोई समाचारपत्र अपना अस्तित्व नहीं निभाए रख सकता। अनेक विधियाँ और संस्थाएँ इसके लिए निर्मित हुई हैं। भारत में भी एक-दो समाचारपत्रों ने ऐसे प्रबन्ध किए हैं।

समाचारपत्रों को यह समझना होगा कि जैसे वे चाहे जिसकी आलोचना और निन्दा कर लेते हैं, उसी प्रकार से उन्हें अपनी आलोचना और निन्दा का अधिकार सबको देना होगा। इसमें हिचक विकास में बाधक होगी, क्योंकि मार्ग और उपायों की निरन्तर परिशुद्धि के बिना स्थायी और निरन्तर उन्नति नहीं की जा सकती। छोटे-से-छोटा समाचारपत्र ऐसा समूह विकसित कर सकता है, जो उसमें लिखित सामग्री का निरीक्षण करता रहे। इसमें से उपजे सुझाव आगे के मार्ग के लिए उद्दीपक सिद्ध होंगे।

समाचारपत्र और पत्रकार समस्त राष्ट्र और उसके प्रत्येक भाग के लिए इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके समस्त कार्यकलाप, लक्ष्य और उनका भविष्य निरन्तर सभी के ध्यान मे रहेगा। इसका जितना समाचारपत्र स्वागत करेंगे उतनी ही उनकी स्वीकृति और प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

❑

भावी विकास की दिशाएँ

'नहीं' से अथवा नकारात्मक दृष्टिकोण से, अथवा वर्जनाओं के प्रतिपादन से किसी भी प्रकार का निर्माण नहीं हो सकता और इस समय की समस्या साहित्य और पत्रकारिता के पुनर्निर्माण की है।

इस पर विचार के पहले, साहित्य और पत्रकारिता में, उनके अस्तित्व तथा भविष्य मे आस्था और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन हमको करना होगा। यह देश के साथ इतना जुड़ा है कि भारत के भविष्य की कल्पना बिना साहित्य और पत्रकारिता के, उनके आदर्श रूप में, भयावह लगती है और जो सहायता राष्ट्र-निर्माण में इन विधाओं से प्राप्त हो सकती है, उसकी प्राप्ति में आस्था का अभाव समीचीन नहीं होगा।

अस्तित्व दैहिक और आत्मिक, दो प्रकार के होते हैं। एक से दूसरे को पृथक् किया जा सकता है, यह आधुनिक प्रयोगधर्मिता ही नहीं, बहुत दिनों का अभ्यास है। पत्रकारिता में बैरिस्टोरियल मन्तव्य रहा है—जिसके प्रतिपादन का दायित्व लिया जाए, उसका प्रतिपादन और समर्थन किया जाए जैसा बैरिस्टर और वकील करते हैं। अनुचित, स्वार्थपूर्ण और अर्थअर्जन तक सीमित वकालत से समस्त न्याय व्यवस्था दूषित और प्रभावशून्य हुई है और इसी दृष्टिकोण की पत्रकारिता को भी ये दोष लगे हैं।

स्वतन्त्रता के पहले की भारत की पत्रकारिता का, सिवा अतिअल्प अपवादों के, एक ही लक्ष्य था—स्वतन्त्रता संग्राम को सबल करना। अब अपने को सबल, प्रभावी, सम्पन्न करने के सिवा समाचारपत्रों और पत्रकारों का कोई लक्ष्य नहीं रहा है। सांसारिक दृष्टि से इस पर आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए भौतिक सम्पन्नता से पत्रकारिता बहुत परिपुष्ट हुई है। उसने समस्त आधुनिक उपलब्ध तकनीक को खरीदकर अपना विस्तार किया है। उसके साथ के जितने अवयव हैं, वे सब कल्पनातीत सम्पन्नता में जीवनयापन कर रहे हैं।

इनमें अपवाद हैं और वे ही मानक मानदण्ड के स्तम्भ हैं। लेकिन प्रश्न मूल प्रवाह पर है। विचार का विषय यह है कि जो भारत की वांछनाएँ और आवश्यकताएँ हैं, उनकी सम्पूर्ति पत्रकारिता कैसे करे?

एक विवाद और विरोध इन दिनों प्रबल है कि विदेशी समाचारपत्रों को भारतीय संस्करण, भारत से निकालने दिया जाए या नहीं। इसके सैद्धान्तिक, शासनिक और सामाजिक पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु अधिक ध्यान उन दुर्बलताओं की ओर दिया जाना चाहिए, जिन्होंने विदेशियों को भारत में प्रवेश का प्रलोभन दिया है। यहाँ आकर देश और उसके सभी अवयव समान स्थिति में आ जाते हैं देश जब दुर्बल होता है तभी विदेशी और

होते हैं। समाचारपत्र दुर्बल हैं, इसलिए वे पश्चात्य आक्रमण से आशंकित हैं। 'बाह्य' विदेशी बाद में होगा, देखते-देखते प्रदेश के बाहर के अस्तित्व स्थापित तत्त्वों के लिए संकट बन गए है। इससे बचाव के लिए क्या हो रहा है, इसके साथ भावी जीवन के लिए यह महत्त्वपूर्ण हो गया है कि वह कितना सफल होता है।

मैं कुछ समय के लिए कलकत्ता के 'विश्वमित्र' से जुड़ा था, जब उसने दिल्ली से अपना संस्करण निकाला था। 'विश्वमित्र' दैनिक के साथ साप्ताहिक और मासिक भी निकालता था। आजकल के अनेक प्रतिष्ठानों ने भी ऐसे प्रयत्न किए हैं। हिन्दी में वे सफल नहीं हो रहे, इससे भयभीत होकर इस उचित और आवश्यक दिशा की ओर चिन्तन को विराम नहीं दिया जाना चाहिए। मैं स्पष्ट हूँ कि दैनिक, साप्ताहिक, मासिक और त्रैमासिक, पुस्तकों के साथ, विकासवान भारत के लिए अनिवार्य हैं।

साहित्य से इसका सरोकार स्थापित करने के लिए एक उदाहरण उचित होगा। 'धर्मयुग' का समाप्ति की ओर पतन तब प्रारम्भ हुआ जब उसके समर्थ साहित्यकार सम्पादक का कार्यकाल समाप्त हो गया। उसके साथ 'रविवार', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' तथा कई अन्य प्रबल और प्रतिष्ठित साप्ताहिकों के अवसान को मैं उनसे सम्बद्ध पत्रकारों की विफलता मानता हूँ। यहाँ आकर लगता है कि जो पत्रकार साथ-साथ साहित्यकार नहीं होता, वह दैनिक के अतिरिक्त अन्य अवधि की पत्र-पत्रिकाएँ नहीं निकाल सकता। साहित्यकार की यहाँ रचना क्षमता तक सीमित यह बात नहीं है। साहित्यकार में जो सम्पूर्णता और सम्पूर्णता के प्रति मन-वचन-कर्म की प्रतिबद्धता होती है, उसके बिना पत्रकारिता भी पनप नहीं सकती।

लक्ष्य को व्यावहारिक रूप संविधान में प्राप्त हुआ है और उसका प्रारूप पंचवर्षीय योजनाएँ प्रस्तुत करती रही हैं। ये संविधान और पंचवर्षीय योजनाएँ, सबसे अधिक पत्रकारों की प्रतिबद्धता चाहती हैं। उनको दिशा-विरोधी राजनेताओं ने बनाया और उनके द्वारा संचालित शासन तथा विधायिकाएँ उन्हें और राष्ट्र को सही रास्ते पर नहीं रख सकीं, इसलिए न्यायपालिका को अतिशय सक्रिय होना पड़ा, यह क्रम अपने आप नहीं बना है। साहित्यकारो और पत्रकारों को साथ-साथ विचार करना चाहिए कि इसके पहले वे क्या करते रहे? जिस गिरावट से इस समय घबराहट है, उसे रोकने की बात तो बाद की है, उससे अवगत रखने का दायित्व भी इन समय-दर्पणों ने नहीं निभाया। कम घोटाले हैं जो पहले पत्रकारों द्वारा प्रकट हुए हैं। इसलिए कि जागरूक और आगे रहने की जगह वे ज्यादातर पिछलग्गू और स्वार्थी बन गए हैं।

राजनेता और राजनीति को सीमित करके मुख्यता संविधान और योजनाओं के परिचालन को प्रदान की जाए, यह प्राथमिक रूप से आवश्यक है, जिसमें यह आएगा कि इनमें और इनके बाहर के जो प्रतिकूल हैं, उनका प्रचण्ड विरोध किया जाए और इसके लिए खतरे उठाने को तैयार और क्षमतावान बनाया जाए। दिल्ली के केन्द्रीय सचिवालय के एक मुख्यद्वार पर अंकित है "स्वतन्त्रता का उपयोग वे ही कर पाते हैं जो अपने को उसके

योग्य सिद्ध करते हैं।'' आज स्वतन्त्रता और उसके सभी परिणाम संकट में इसीलिए है, क्योंकि हम अपने को उन तक नहीं उठा सके।

राजस्थान में अभी तक ऐसी स्थिति नहीं है कि भिन्न-भिन्न उद्योगों से जुडे धनपतियों द्वारा संचालित समाचारपत्रों की यहाँ उपस्थिति हो, परन्तु ऐसे ही समाचारपत्र बाहर से आकर, अपना प्रसार और प्रभाव बढ़ाए हुए हैं। जो चौकस और समर्थ हैं, वह केवल एक स्थानीय दैनिक से सन्तुष्ट नहीं रहता और जो भी दैनिक बाहर से आते हैं, सब धनाढ्य परिवारों द्वारा संचालित हैं।

इस प्रतिकूलता से बचने के लिए सहकारिता के आधार पर समाचारपत्र संचालित करने के अब तक के प्रयत्न विफल हुए हैं। आज समाचारपत्र आरम्भ करना और चलाना इतना व्यय-साध्य हो गया है कि सामान्य साधनों वाला कोई इस ओर साहस नहीं कर सकता, परन्तु सोच इस ओर समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। मैं इस सम्भावना को भी मानता हूँ कि यदि समर्थ और विश्वसनीय व्यक्तित्व सामने आएँ, पत्रकारिता और प्रबन्ध मे पटु, तो ऐसे लाभ-हानि-हीन प्रतिष्ठानों के लिए पूँजी संकलित हो सकती है जो बिना किसी अतिरिक्त प्रभाव के पत्रकारिता के कर्म और धर्म का निर्वहन करें। धार्मिक भावना से जहाँ विशाल निधि संकलित होती है वहीं यह समझाया जा सकता है कि समाचारपत्र भी मन्दिर-मस्जिद से कम आवश्यक नहीं हैं।

सम्पन्न प्रतिष्ठानों के साप्ताहिक और मासिक जो बन्द हुए, उनसे पत्रकारिता की क्षमता के लिए चुनौती निर्मित हुई है। यह भी सिद्ध हुआ है कि सिर्फ पैसे से समाचारपत्र नहीं चलाए जा सकते। मानवीय क्षमता और प्रतिभा की जो कमियाँ रेखांकित हुई हैं, उन्हे दूर करने के प्रयत्न करने होंगे। पत्रकारिता प्रशिक्षण के जो प्रतिष्ठान, विश्वविद्यालय स्तर तक के बने हैं, वे परिणाम प्रदान नहीं कर पाए हैं।

वैसे कला और कारीगरी की दृष्टि से भारतीय पत्रकारिता की प्रशंसा बहुत होती है। इसे मान लें तो समस्या यह बनती है कि फिर क्या है जो पत्रकारिता को उठने नहीं दे रहा? जीवनयापन का कोई अंग हो, हमारे यहाँ भारतीय प्रतिमान है। पत्रकारिता के प्रभाव के निर्माण के कुछ प्रतिमान विदेशों में विकसित हुए हैं। इनमें जो आधारित विरोध हैं, उनसे बचाकर सर्वश्रेष्ठ जो है उससे परिष्कार प्राप्त करना होगा और उच्चतम मानदण्डों के लिए प्रतिभा और प्रतिबद्धता निर्मित करनी होगी। शराबबन्दी का प्रतिपादन शराब का सेवन करने वाले नहीं कर सकते। जो आप हैं, उसके अतिरिक्त अथवा भिन्न अथवा विरोधी अभिव्यक्ति न सम्भव है न प्रभावी हो सकती है। सत्य नीति नहीं, शक्ति होती है, जिसके बिना कोई अस्तित्व सार्थक एवं सबल नहीं हो सकता।

पत्रकार सबकी टीका कर लेते हैं और सभी के लिए आचार संहिता का प्रतिपादन भी करते हैं। अपने लिए दोनों नहीं मानते। विकसित-से-विकसित देशों में और स्वतन्त्र-से-स्वतन्त्र समाचारपत्रों में ——— की ——— स्वीकार हुई है। हमारे यहाँ
के पंजीयक से कुछ ऐसी अपेक्षाएँ की गई थीं उसके सफल नहीं होने पर प्रेस

परिषद बनी। लेकिन इससे भी समाचारपत्र नहीं सुधरे। परिषद कुछ और कठोर प्रयोग कर रही है, लेकिन उसकी आत्मा में जितनी शक्ति है, उतनी उसके हाथों में नहीं है। ऊपर से या बाहर से नियन्त्रण पत्रकारिता की स्वतन्त्रता को सीमित भी करेगा। बचाव इसी में है कि समाचारपत्र और पत्रकार अपनी आचार संहिता स्वयं बनाएँ और उसके अनुसार आचरण का स्वयं निरीक्षण रखें। इसके लिए प्रबन्ध कई विदेशी समाचारपत्रों ने किए हैं। भारत मे भी कुछ समाचारपत्रों ने इनका अनुकरण किया है। जागरूकता तो है, परन्तु पर्याप्त नहीं हो पाई है। यह दु:खद मानवीय अनुभव है कि बिना नियमन और नियन्त्रण के, और बिना समुचित दण्ड के, कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था अथवा सम्बन्ध सुचारु रूप से नहीं चल सकते। मन्त्रियों की कैसे नियुक्ति की जाए, और कैसे उन पर निगरानी रखी जाए, इसके विकसित भारतीय प्रावधान हैं। इनकी अवहेलना से भारत के मन्त्री परिणामविहीन और स्वयं भ्रष्ट हुए, आरोपित और दण्डित हो रहे हैं। अनुचित रूप से अर्जित आय उन्हें डुबोने के लिए पर्याप्त हो गई है। इससे बचाव के लिए पत्रकारों ने प्रयत्न नहीं किया तो वे भी इस परिणति से अपने को नहीं बचा सकेंगे।

पाठक समाचारपत्रों के प्रमुख संबल होते हैं, चाहे उनसे अधिकतम आय उन्हें प्राप्त नहीं होती हो। पाठक नहीं होंगे तो विज्ञापन भी नहीं होंगे। इस शक्ति का उपयोग करके पाठक समाचारपत्रों को सही रास्ते पर बने रहने के लिए विवश कर सकते हैं लेकिन इसके लिए खुले मंच और सबल संगठन बनाने होंगे। अन्ततः भारत लोकतन्त्र है, लोकतन्त्र रहना चाहता है, और लोकतन्त्र ही सबसे उपयुक्त है; इसलिए पत्रकारिता के सुधार एवं समुचित सचालन के लिए लोकतान्त्रिक प्रबन्ध ही विकसित किए जाने चाहिएँ।

❑

सम्भावनाओं की चुनौतियाँ

महीने-महीने का हिसाब जनसंचार साधनों के संदर्भ में लगाना आवश्यक है, क्योंकि इस क्षेत्र में इस समय प्राय: प्रत्येक माह वैज्ञानिक और तकनीकी प्रयोग और आविष्कार हो रहे हैं।

बीसवीं सदी की एक जो सबसे बड़ी देन सिद्ध होगी, वह है इलेक्ट्रिक और इलेक्ट्रोनिकी के उपयोग से जनसंचार साधनों का विकास। जो सम्भावनाएँ सामने आ रही हैं, उनसे आगामी बीस वर्षों में विगत अस्सी वर्षों की उपलब्धियाँ फीकी पड़ जाएँगी।

इसका एक खतरा यह है कि जो धनवान और विज्ञान-विकसित देश हैं, वे जनसंचार के नए साधनों पर अपना अधिक प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे और उनकी सम्पन्नता अपने आप कम विकसित देशों की बौद्धिक स्वतन्त्रता परिसीमित करती जाएगी।

दूसरा खतरा यह है कि जनसंचार के इलेक्ट्रिक-इलेक्ट्रोनिकी के नवीनतम साधन जैसे-जैसे परिपुष्ट होंगे, प्रत्येक विकसित-अर्द्धविकसित देश में व्यक्ति, व्यक्ति की महत्ता और गरिमा, उसकी सुविधा और स्वतन्त्रता, दबती और गिरती जाएगी।

इसकी सीमा नहीं रहेगी कि कौन कहाँ तक पहुँच सकता है। इससे जो कुछ प्रसारित और प्रकाशित होगा, वही एक जगह से सब जगह नहीं पहुँचाया जा सकेगा, यह भी होगा कि हर स्थान, हर संस्थान और हर व्यक्ति के विषय में चाहे जितनी और चाहे जैसे जानकारी प्राप्त और संकलित की जा सकेगी। गोपनीय-से-गोपनीय गतिविधि के सबके सामने प्रकट होने का खतरा बढ़ता जाएगा। जिनके पास विकसित साधन होंगे, वे किसी व्यक्ति की गरिमा, निजी गोपनीयता और प्रतिष्ठा का जितना चाहेंगे उतना ही आदर करने को स्वतन्त्र रहेंगे।

दूसरे, जिनके हाथों में जनसंचार के विकसित साधन होंगे, वे सरलता से अपनी सम्मति, संस्कृति, मान्यता और अपेक्षा पहुँचा ही नहीं सकेंगे, अपितु उसी को परम सत्य सिद्ध करने में सफलीभूत होते जाएँगे।

इलेक्ट्रिक और इलेक्ट्रोनिकी साधनों का विकास जिस तरह इस समय सत्ता और पूँजी के प्रभुत्व में है, उससे कैसे अपेक्षा की जाए कि उनमें सत्ता और पूँजी के दोष नहीं आएंगे?

भारत विकास के बीच के चरण में है। हमने भी अनुभव किया है कि दूरदर्शन की प्रारम्भिक अवस्था में कितनी आयातित सामग्री प्रसारित होती थी और अब भी अंग्रेजी और अंग्रेजियत का दूरदर्शन में बोलबाला है।

यह भारत की निराली परिस्थिति नहीं है। जनसंचार साधनों के विशेषज्ञ काफी समय से इस खतरे से सावधान करते रहे हैं कि अगर संचार साधनों का विकास बिना उनसे

लाभान्वित होने वाले लोगों के योग्य प्रसारण सामग्री का परिपूर्ण प्रबन्ध किए हुआ तो पर-निर्भरता बढ़ेगी, जो परतन्त्रता का ही दूसरा नाम होता है।

हमारे देश में आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्रीय सरकार के हाथों में हैं, और पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार संख्या का प्रमुख भाग संगठित संस्थानों के हाथों में है। जो समाचारपत्र 'बड़े' हैं, उनका ही अधिक और प्रभावी प्रसार है।

इसकी जो बुराइयाँ हैं, वे बहुत बार गिनाई गई हैं, और इनकी आलोचना और निन्दा भी कम नहीं की गई है। यह अपने-अपने दृष्टिकोण और विवेक की बात है।

परन्तु यह इससे स्पष्ट है कि समस्त संसार की तरह भारत में भी यह खतरा है कि जिनके हाथों में जनसंचार साधनों तथा माध्यमों का प्रभुत्व होगा, उन्हें अपनी तरह से अपनी बात पहुँचाने का अवसर अधिक प्राप्त होगा।

समाचारपत्र, सब तरह की पत्र-पत्रिकाएँ, अधिक स्वतन्त्र हैं। अधिक क्या, हमारे लोकतन्त्र की समस्त सुविधा और स्वतन्त्रता उन्हें मिली हुई है—इतनी कि वे उसका दुरुपयोग भी स्वच्छन्दता से कर लेते हैं। इस पर आपत्ति वे करते हैं जो सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के हामी नहीं हैं। हमारे राष्ट्र ने जान-बूझकर पत्र-पत्रिकाओं को परिपूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है, और उसके खतरे उठाने को हमारा राष्ट्र तैयार है।

पत्रों-पत्रकारों के दायित्व का यहाँ जो प्रश्न उठता है, उसे इस तरह देखा जाना चाहिए कि सुविधा-स्वतन्त्रता इतनी होते हुए भी, उनकी पहुँच में देशवासियों का अत्यन्त अल्प भाग आया है। इससे भी कम अनुपात में भारतीय समाचारपत्रों में भारतवासियों का, उनके हितों और उनकी समस्याओं का, प्रतिबिम्बन होता है। ग्रामीण भारत पत्र-पत्रिकाओं के क्षितिज के बाहर है। जो अपने को अधिक 'राष्ट्रीय' मानते हैं, उनका उतना ही कम राष्ट्र मे प्रसार है। दो-चार नगरों में या सीमित क्षेत्र में केन्द्रित प्रसार को 'राष्ट्रीय' व्यापकता नहीं कहा जा सकता।

साथ-साथ यह भी है कि जो जनसंचार माध्यमों के स्वामी चाहेंगे, वही पाठकों और श्रोताओं तक पहुँचेगा, परन्तु न भारत में, न किसी देश में, इसकी निश्चिन्तता से प्रसार-प्रचार माध्यमों के स्वामी अब बैठ सकते हैं। रेडियो, टेलीविजन और विकासरत अन्य माध्यमों की सहायता से और निर्यातित पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी, जिन्हें हर कोई विकसित राष्ट्र निर्धारित देश के निकट ही मुद्रित कर लेगा, अब घर घर मनचाही सामग्री पहुँचाई जा सकेगी।

भारत में ही यह कम नहीं हुआ है कि मद्रास से निकलने वाला अखबार अब दिल्ली और उत्तर भारत में सब कहीं पहुँच लेता है। विज्ञान और तकनीक के विकास से यह क्षमता दिन-दिन बढ़ेगी।

इसका उत्तर और प्रतिकार अपनी [illegible] और [illegible] की दलीलें देने से नहीं होगा जिस अमेरिका का [illegible] अधिक दिया जाने लगा है वहाँ [illegible] साधनों पर

एकाधिपत्य अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। बड़े-बड़े नगर एक अखबार पर निर्भर बनते जा रहे हैं।

हमारे देश में सरकारी नियन्त्रण के रेडियो और टेलीविजन के भी अपने खतरे है। उनकी ओर भरपूर ध्यान दिया जा रहा है, जैसा संसद के उनके विषय में प्रकट किए गए विचारों से स्पष्ट है। पत्र-पत्रिकाओं में भी इनके विषय में कम नहीं आता।

लेकिन जो खतरे पत्रों तथा पत्रकारों में और उनके कारण बढ़ रहे हैं, उन पर उतना विचार नहीं हो पाता। पत्रों-पत्रकारों के विषय में, विशेषतः उनके विपरीत, कहने की सुविधा और स्वतन्त्रता इस समय इतनी कम है कि कई पत्र और पत्रकार बार-बार और लगातार अपनी सुविधा और स्वतन्त्रता का स्थापित संस्थाओं और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हित के विरुद्ध उपयोग कर लेते हैं—स्वतन्त्रता को उन्होंने स्वच्छन्दता बना लिया है।

ज्यादा खेद की बात यह है कि पत्रों-पत्रकारों का समाज, उनके संगठन, ऐसी कुप्रवृत्तियों को रोकने में समर्थ नहीं हो रहे। कई बार कहा गया है कि पत्र और पत्रकार अपनी आचार संहिता अपने आप बना लें और अपने आप देखभाल रखें कि उसका पालन पूरी तरह होता है या नहीं। पत्र-पत्रकारों की सुविधाओं-स्वतन्त्रताओं के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ बढ़ती ही जाएँगी, जैसे-जैसे नवीन उपकरणों की अभिवृद्धि होगी। समाज और शासन इसे बैठा-बैठा देखता रहेगा, यह न उसके लिए उचित होगा, न यह देश-हित मे होगा। समाज और शासन की ओर से क्या किया जाएगा, यह एकदम इस पर निर्भर करेगा कि क्या स्वयं पत्र और पत्रकार कर पाते हैं, और क्या नहीं कर पाते।

हिन्दी का कार्यक्रम प्रस्तुत करने और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन, प्रबन्ध और प्रसारण में जो हीनता की भावना बैठी हुई है, उसको दूर करना बहुत आवश्यक है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो हिन्दी में जो कुछ भी प्रस्तुत होता है, वह राष्ट्रीय सम्मान के अनुकूल होना चाहिए। हिन्दी में जो प्रसारण एवं प्रदर्शन करता है, जो हिन्दी में लिखता और सम्पादित करता है, जो हिन्दी का अपने को मानता है, उसे यह दायित्व अंगीकार करना ही होगा कि सबसे बड़ी भाषा में सबसे अच्छा ही निकलना चाहिए। इस अपेक्षा की इतनी उपेक्षा हो रही है कि कई बार शर्म आती है, कई बार क्षोभ भी होता है।

जो संस्थान अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें निकालते हैं, उनके यहाँ सामान्यतः हिन्दी प्रकाशन अंग्रेजी प्रकाशनों से ओछे स्तर के होते हैं। ऐसी हिन्दी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ वे नहीं निकाल पाए हैं, जो स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण रूप से उनके अंग्रेजी प्रकाशनों का विकल्प बन सकें।

जो संस्थान केवल हिन्दी में प्रकाशन करते हैं, वे दूसरी तरह के कारण अपने प्रसार और प्रभाव नहीं बढ़ पाने के बताते हैं। कारण उनके हैं, जो प्रकाशन वे प्रस्तुत करते हैं, उनसे लाभान्वित होने वाले न उन्हें जानते हैं, न उन्हें उनको मानने को विवश किया जा सकता है। स्वतन्त्रता की प्रतियोगिता आन्तरिक अंग होती है। अपनी स्वतन्त्रता जिन समाचारपत्र आदि को निभानी है उन्हें अपने बल पर हर एक प्रतियोगिता जीतनी होगी।

इसका मतलब यह नहीं है कि जब हिन्दी को प्रोत्साहन देने का इतना प्रयत्न उसे राष्ट्रभाषा मानकर किया जा रहा है, हिन्दी की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को भी विशेष सहायता नहीं दी जाए। इसकी ओर समुचित ध्यान दिया जा रहा है और जो नए प्रस्ताव इस दिशा में सामने लाए जाएंगे, उन पर भी समुचित ध्यान दिया जाएगा।

परन्तु सहयोग-सहायता अपने में अपर्याप्तता का प्रमाण हो जाती है। सब चाहेंगे कि हिन्दी अपर्याप्तता तथा पराश्रयता की स्थिति से यथाशीघ्र उबरे। हिन्दी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के मुकाबला करने में कामयाब हुए बिना यह नहीं हो सकेगा।

❑

पत्रकारिता और आगे आने वाला अवसर

पहले ध्यान देने की बात यह है कि जो पत्र और पत्रकार स्वतन्त्रता संग्राम के दिनो में अति उग्र और मुखर थे, उनका तेज और प्रभाव स्वतन्त्रता आने के उपरान्त कम होने लगा और उन दिनों के बड़े और जुझारू नाम बहुत कम समय में ओझिल हो गए। जिनका अवसान हो गया, उनका समादर समाप्त नहीं हुआ, परन्तु स्वतन्त्रता संग्राम के सम्पादक और साप्ताहिक स्वतन्त्रता के प्रकाश में चमकते नहीं रह सके।

इस स्थिति का सामना महात्मा गाँधी के 'हरिजन' और सैकड़ों साप्ताहिकों को भी करना पड़ा, इससे इसमें आश्चर्य की बात तो नहीं रहती, लेकिन यह चिन्ता का विषय अवश्य है कि जिस लेखन ने स्वतन्त्रता संग्राम का सिंचन किया, उसके स्वर स्वतन्त्रता के बाद का समय सह नहीं सका।

इसमें एक हिस्सा इसका असर था कि जो समाचारपत्र चलाते थे, वे स्वयं नई प्राप्त सत्ता के भागीदार नहीं बने तो उनके कई साथी और सहयोगी सत्ता के पदों पर पहुँच गए। परन्तु उससे भी बड़ी बात यह है कि यह जो जाना-पहचानापन था, उसने सत्ता में पहुँचे कार्यकर्त्ताओं के लिए सम्पादकों और साप्ताहिकों को कभी आतंककारी नहीं होने दिया। दूसरे, सत्ता निकट और प्राप्त होते ही स्वतन्त्रता संग्राम में जी-जान से जुटे नेता आपस मे प्रतिद्वन्द्वी और विरोधी हो गए और समाचारपत्रों तथा सम्पादकों के स्वर भी एकजुटता मे से हटकर दलबन्दी के दलदल में फँस गए। तीसरे, जो सुविधा, सम्पन्नता, सहूलियत सत्ता मे पहुँचे नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को मिलने लगी, उसमें अपना हिस्सा मानने का मन सम्पादकों और पत्रकारों का भी बनने लगा और अपने सत्ता में पहुँचे मित्रों का वे तरह-तरह से दोहन करने लगे। जुझारूपन इस सबके उपरान्त भी जिन्होंने नहीं छोड़ा, वे जल्दी ही अकेले पड़ गए, पिछड़ गए और मिट गए। स्वतन्त्रता के उपरान्त पत्रकारिता में स्वतन्त्रता का तत्त्व तीव्र गति से कम होता गया है।

इस क्षीणता से भी पहले, विचार इस पर होना चाहिए कि जिन पत्रों और पत्रकारो ने अपना सारा समय, अपनी सारी सामर्थ्य, जनसाधारण की स्थितियों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से जोड़ रखी थीं, उनके लिए यह सब गौण हो गया—उनकी दृष्टि शासन में पहुँचे अपने मित्रों अथवा प्रतिद्वंद्वियों की ओर लगी रहने लगी, समस्त पत्रकारिता सत्ता-आधारित राजनीति की ओर हो गई। यह आधारभूत अन्तर था। जो पत्रकारिता स्वतन्त्रता के पहले सत्ता की शत्रु थी, वही स्वतन्त्रता के बाद सत्ता की मित्र बन गई।

न पहले, न बाद में ऐसा था कि सारे-के-सारे समाचारपत्र और सम्पादक एकपक्षीय रूप से सत्ता का विरोध करते थे न सत्ता की आलोचना का अन्त [illegible] की प्राप्ति के [illegible] हो गया [illegible] के चौथे दशक में तो सभी सरकारों की आलोचना अति अधिक

होने लगी, और यह क्रम निरन्तर बढ़ता ही गया। लेकिन इसे उस प्रकार की अभिव्यंजना नहीं माना जा सकता, जिसने स्वतन्त्रता के पहले समाचारपत्र-लेखन को अग्निबाण बना रखा था। आलोचना होती है, उसके समाधान की अभिलाषा में, जो कमी पूरी हो पाती है, कभी नहीं। उन दिनों जो समझौताहीनता थी, वह अब बहुत ही कम व्याप्त है।

इसी का हिस्सा यह है कि जो सर्वसाधारण से सन्निकटता स्वतन्त्रतापूर्व की पत्रकारिता में विकसित हो गई थी, वह भी धीरे-धीरे सिमटती गई। आज संचालक, सम्पादक, पत्रकार सब ही कहेंगे कि उनका लक्ष्य जन-सेवा ही है, परन्तु यदि यह माना जाता है कि स्वतन्त्रता संग्राम को पत्रकारिता से सहायता मिली तो इसका क्या उत्तर है कि आधी आबादी की निर्धनता में जीवनयापन की विवशता को पत्रकारिता समाप्त नहीं करा पाई है। एक प्रकार के परिणाम पर यदि अभिमान किया जाता है तो दूसरे प्रकार के परिणाम का दायित्व भी स्वीकार करना होगा।

आज पत्रकारिता के सामने मुख्य परिस्थिति और प्रश्न यही है कि उसकी आस्था और चेष्टा कहाँ तक जनसाधारण के साथ, उसकी सेवा में, उसके कष्ट निवारण के लिए और उसके उन्नयन के लिए है, और, कहाँ तक उसकी सामर्थ्य इस दायित्व को प्राथमिकता देने की है?

दायित्व के साथ जब पात्रता को जोड़ा जाता है, चूँकि जो कुछ करना है, उसके लिए पात्रता की प्राथमिक रूप से आवश्यकता होती है, बड़ी ही उलझी हुई स्थिति सामने आती है। समाचारपत्र संख्या में बढ़े हैं, स्वरूप में सुधरे हैं, प्रसार संख्या उनकी बढ़ी है, पृष्ठ सख्या उनकी बढ़ी है, सम्पन्नता बढ़ी है, कार्यरत सम्पादकों, लेखकों, पत्रकारों आदि की भी सख्या और सम्पन्नता बढ़ी है, सभी के हितों की सुरक्षा के लिए कानून बने हैं, फिर भी (1) पत्रों और पत्रकारों का पहले जैसा प्रभाव और आदर नहीं है, और (2) विकास जो हुआ है, प्रसार संख्या की दृष्टि से ही सही, वह असन्तुलित और अपर्याप्त है, विशेषतः इसलिए कि दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, सब अपने मूल्य में वृद्धि करके सम्पन्न वर्ग के विलास की सामग्री बनते जा रहे हैं। शहरों और कस्बों तक उनका प्रसार सीमित है, ग्रामीण भारत अर्थात् अधिकांश भारत अब भी उनकी परिधि के बाहर बना हुआ है। इस भू-भाग की समस्याएँ और इसके निवासियों की आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ न समाचार स्तम्भों में, न सम्पादकीय स्तम्भों में, स्थान प्राप्त कर पाती हैं। जिस आधी आबादी की निर्धनता की ऊपर बात आई, उसे समाचारपत्र कहीं से नहीं छूते—उनके लिए समाचारपत्रों का अस्तित्व न होने जैसा ही है।

उधर, जो सत्ता में पहुँचते हैं, उनके प्रति जुझारू वृत्ति निभ नहीं पाती। जो बुराइयाँ आज शासन की इतनी की जाती हैं, उनकी शुरूआत कैसे होने दी गई, क्यों उनका उनकी जड़ें काटने लायक विरोध पल-पल प्रतिदिन नहीं किया गया कि उनको आजकल जैसा विकसित रूप मिलता ही नहीं। इस सबको यदि जनसाधारण की तकलीफ माना जाता है और माना जाता है कि यह सब बढ़ रहा है जो सरकारें गिरने से स्वत स्पष्ट है तो उत्तर

पत्रकारों और पत्रकारिता को इसका देना होगा कि उनके अस्तित्व और जनता के कष्ट के पारस्परिक निर्वहन को कैसे पत्रकारिता के सिद्धान्तों के अनुरूप माना जा सकता है। अँधेरा कर लिया गया है, जिसमें सत्ता अपने रूप में बढ़ रही है, पत्रकारिता अपने, जैसे कि इन दोनो में एक-दूसरे को प्रभावित करने का कोई रिश्ता ही नहीं हो।

और, सिर्फ सत्ता और सरकार का उल्लेख करने से काम नहीं चलेगा। स्वतन्त्रता के पूर्व जो पत्रकारिता इस देश में थी, उसका एक बड़ा भाग समाज-सुधार में भी लगा हुआ था। स्वतन्त्रता के बाद जिस तरह शासन रोगग्रस्त और जन-आकांक्षाओं की सम्पूर्ति में असमर्थ हुआ है, उसी प्रकार समाज अपने प्रत्येक अंग में, भ्रष्ट और दुर्बल हुआ है।

चिकित्सा, शिक्षा, निर्माण, कल्याण आदि की दो धाराएँ हैं--शासकीय और निजी। दोनों की दुर्दशा है। संस्थाएँ सरकार की भी बढ़ गई हैं, प्रतिष्ठान हैं, निगम हैं, आयोग हैं, संस्थान हैं—सरकारें भी चला रही हैं और गैर-सरकारी रूप से भी चल रहे हैं। हर एक की अपनी-अपनी कमियाँ और कमजोरियाँ हैं, नहीं तो सर्वसाधारण का जीवन-स्तर निरन्तर अधोमुख नहीं रहता और सर्वसाधारण में इतना असन्तोष और अविश्वास नहीं पनपता।

स्वतन्त्रता की साझीदार और संरक्षक जो संस्थाएँ होती हैं, मुख्यत: न्यायपालिका, विज्ञ एवं विद्वत् समाज, पारम्परिक नेतृत्व, चारित्रिक पुंज, जनमत निर्माता, वे कुंठाग्रस्त हैं और प्रभावहीन होती जा रही हैं।

इन सबकी स्थिति के लिए ये स्वयं उत्तरदायी हैं, परन्तु इसका उत्तर पत्रकारों और समाचारपत्रों को देना होगा कि इन पर इतना अंकुश और निरीक्षण क्यों नहीं रखा गया कि इनके द्वारा समुचित जनसेवा और मार्गदर्शन होता, क्यों ये अपने में अलग-अलग समस्या होने जाने दी गई, क्यों इनसे जन-संरक्षण और लोक-अभिवृद्धि का कार्य और दायित्व नहीं निभा?

एक ओर पिछले दशकों में औद्योगिक विकास बहुत हुआ है, दूसरी ओर आयात-निर्यात की समस्याएँ परेशान करती रहती हैं, और भुगतान का सन्तुलन बराबर बिगड़ा रहता है। कृषि उद्योग आदि में उत्पादन बहुत बढ़ा है, फिर भी मुद्रास्फीति और महँगाई काबू के बाहर होती गई है। विरोधाभास इस तरह भी देखा जा सकता है कि एक ओर 15-16 प्रतिशत लोगों का जीवन-स्तर अति उन्नत हुआ है, दूसरी ओर आधी आबादी निर्धनता मे जीवनयापन के लिए विवश है।

समाचारपत्र समय और समाज के अंग होते हुए भी इनसे भिन्न और अधिक आदरणीय माने जाते हैं, क्योंकि जो समुचित और समुन्नतिकारी है, उसका संवर्धन समाचारपत्रों का ही विशेष दायित्व है। इस दायित्व से अधिक, और अलग, जो अपने अस्तित्व का बोध कराना चाहें, वे पत्र और पत्रकार पूरी तरह पत्रकारिता की परिभाषा में नहीं आते, क्योंकि समस्त समुदाय के स्वास्थ्य और सुधार के लिए जो दायित्व पत्रकारिता का होता है, उसके निर्वहन के बिना पत्रकारिता आदर के योग्य नहीं रहती।

अनेकानेक प्रकार के विशेषाधिकार और सुविधाओं के साधन पत्रकारिता ने प्राप्त और विकसित कर लिए हैं, जिनमें कदाचित् सबसे महत्त्व का और परिणामकारी प्रश्न करने और जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है। सत्ता के जो शीर्षस्थ स्थान पर होते हैं, वे भी

पत्रकारों के प्रश्नों का उत्तर देने को विवश किए जा सकते हैं। विधायी संस्थाओं को जो इस तरह के अधिकार प्राप्त हैं, उनसे अधिक व्यापक और निरन्तर पत्रकारों के अधिकार होते हैं।

विधायी संस्थाओं, लोकसभा, विधानसभा आदि की बात आई, साथ में नगरीय स्वायत्तशासी एवं ग्रामीण पंचायती राज संस्थाओं को भी ले लें तो पत्रकारिता के लिए और भी तीखा प्रश्न बनेगा कि इनके प्रभाव का जो ह्रास हुआ है और इनके कार्यकलाप का जो स्तर गिरा है, उसमें पत्रकारों और समाचारपत्रों का क्या हिस्सा माना जाए? अब तक प्रश्न बनने लगा होगा कि पत्रकार क्या सर्वशक्तिमान और सर्वसुधारक होता है? क्या सबकी जवाबदारी उसके हिस्से में लिखी जा सकती है?

यहाँ थमकर सोचने की बात है। जो कुछ भी स्वयं पत्रकारिता की परिधि तथा संस्था के बाहर है, उसकी जिम्मेदारी यदि पत्रकारिता नहीं लेती तो समाज इस पर विचार करेगा कि क्यो उसका समादर, अस्तित्व और उसके प्रति विशेष व्यवहार हो? कोयला निकालने वाली खानों, कपड़ा बनाने वाली मिलों अथवा तरह-तरह की चीजें बेचने वाली दूकानों की तरह पत्रो और पत्रकारों से व्यवहार नहीं किया जाता। इसमें से जो विशेष दायित्व बनता है, गलतियों से आगाह करने का, उनका होने देना रोकने का और उनके कारण क्षति से बचाव करने का, उसे आदान-प्रदान के व्यावहारिक सन्तुलन की दृष्टि से भी देखें तो समाज उससे कहीं अधिक पत्रकारिता से अपेक्षा करता रहा है, जो स्वतन्त्रता के बाद वह कर पाई है।

बातें बहुत इक्कीसवीं शताब्दी की की जाती हैं। पिछले पचास सालों में पत्रकारिता का तकनीकी पक्ष बहुत परिवर्तित और समुन्नत हुआ है।

पत्रकारिता में भी मशीनें मनुष्यों का कार्यभार कहीं अधिक अनुपात में सम्भाल लेंगी। पिछले पाँच-सात वर्षों में ही तकनीकी विकास आश्चर्यकारी रहा है, आगामी आठ-दस वर्ष पत्रकारिता की प्रस्तुति को अधिक संवार और सुधार लेंगे। यह जो मानवीय तत्त्व का ह्रास होता जा रहा है, और होता जाएगा, उसका परिणाम क्या होगा? पत्रकारिता को बहुत सीमा तक उन्मुक्तता प्राप्त होगी, श्रमिक समुदाय पर निर्भरता कम होगी, और संवाददाता-सम्पादक के कार्य भी बहुत करके मशीनों को सौंपे जा सकेंगे। अखबारी कागज के बिना हो सकता है समाचारपत्र तारों पर घरों में पहुँचने लगें, जिन्हें घर पर लगे यन्त्र पर देखा जा सके। विभिन्न समाचारपत्रों के समाचार और विचार संकलित, समन्वित और विश्लेषित होकर एक साथ और तत्काल मशीनों पर उपलब्ध होने लगेंगे।

मशीनों से समाचारपत्रों की प्रतिद्वन्द्विता, वैसे प्रारम्भ हो चुकी है। आकाशवाणी के बाद दूरदर्शन ने, और अब वीडियो ने, समाचारपत्रों के पाठकों के सामने समर्थ विकल्प प्रस्तुत किए हैं। इनका आगामी आठ-दस वर्षों में विकास और अधिक होगा; तो क्या समाचारपत्रों के अस्तित्व का संकट और अधिक गहराएगा?

मनुष्य की पराजय का यह चिन्तन स्वीकार करने योग्य नहीं है। विकसित देशो मे अति विकसित प्रसार यन्त्र भी समाचारपत्रों का प्रसार और प्रभाव कम नहीं कर सके हैं जिन रेडियो और टेलीविजन संस्थाओं का सारे विश्व में समादर है उन्हें भी अपने कार्यक्रम का

अनिवार्य अंग समाचरपत्रों की सम्मति को बनाना पड़ता है, जिसे ऐसा नहीं लगता, आगामी विकासवान प्रसार साधन भी समाप्त कर सकेंगे।

अस्तित्व के प्रति आशंका इस तरह तो कम है, लेकिन समाचारपत्रों और पत्रकारों का सर्वसाधारण से लगाव और जुड़ाव कम होने से, और यह कमी बढ़ती जाने से, जो संकट बनता जा रहा है, उससे कहीं ज्यादा डरने की जरूरत है।

समाचारपत्र वह होता है जो वह अपने को बनाता है। समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता कम करने की चाह चाहे जितनी बढ़े, जैसा इस समय इतना ज्यादा दीख रहा है, और पत्रकारों की बढती हत्याओं के कारण इस ओर भय भी बढ़ रहा है, उसमें कमी हो नहीं पाएगी। हो सकता है, पत्रों और पत्रकारों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए मूल्य और अधिक चुकाने पड़े, परन्तु उनकी स्वतन्त्रता आगे चलकर भी किसी की बंधक नहीं होगी। प्रश्न यह बनेगा कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए पत्र और पत्रकार कितना मूल्य चुकाने को तत्पर रहेंगे। स्वतन्त्रता के लिए कहा गया है कि वह कोई किसी को दिया नहीं करता, उसे अपनी शक्ति और सामर्थ्य से हस्तगत करना होता है, और अपनी चैतन्यता से, अपने बल और बलिदान से, उसे अपने पास बनाए रखना होता है। यह जो चिरन्तन सत्य है, वह आने वाले वर्षों में न कम होगा, न कम कष्टकर होगा। इस पर तकनीकी उन्नति से बेड़ियाँ बढ़ने की आशंका अवश्य अधिक है, जैसे समाचार-प्राप्ति के स्रोत और उपकरण जितना बढ़ेंगे उतना ही उनका प्रदूषण और स्वार्थ-सिंचन होगा।

एक स्थान पर तैयार होने वाला अखबार कई जगहों से छपकर तो आजकल भी निकलने लगा है, परन्तु स्थानीयता पत्रकारिता की सबसे सबल श्वास होती है, वह क्या मिटती जाएगी? चाहे समाचारों को लें, चाहे विचारों को; उनके प्रति व्यवहार जो जहाँ-का-तहाँ किया जा सकता है, वह दूरी बढ़ने पर सम्भव नहीं होगा। बढ़ती हुई होड़ पत्रकारिता के वास्तविक प्रभाव को मंदा करेगी और स्थानीयता की आकांक्षा इससे बहुत मंद नहीं हो पाएगी, परन्तु स्थानीय समाचारपत्र अपने पैर जमाये नहीं रख सकेंगे, अगर उनमें जन-आकांक्षाएँ सम्पूरित करने की सामर्थ्य नहीं बढ़ी। अभी तक का हिसाब स्थानीयता के पक्ष में है। दिल्ली के दैनिक जयपुर के दैनिकों को उखाड़ नहीं सके, जयपुर के दैनिक जोधपुर, उदयपुर जहाँ गए, वहाँ के दैनिकों को उखाड़ नहीं सके। इस क्रम और यश को जारी रखने के लिए दिन-दिन ज्यादा यत्न और सामर्थ्य की आवश्यकता होगी।

इसके भीतर वह समस्या गुँथी है कि जो स्थानीय समाचारपत्र नहीं होता है, वह स्थानीय समस्याओं के प्रति अधिक तटस्थता और आलोचना का निर्वाह कर सकता है या इसकी आशा स्थानीय समाचारपत्रों से अधिक की जा सकती है? असल में इस एक सवाल के साथ पत्रकारिता का सारा भविष्य जुड़ा है—उसकी दूरदर्शन, आकाशवाणी और वीडियो से प्रतिद्वन्द्विता का भविष्य भी।

आत्मनिर्भरता के बिना पत्र और पत्रकार ऐसी स्वायत्तता निर्मित नहीं कर सकते जिसका सम्मान सबके बीच हो इस दृष्टि से अब तक बहुत निराशा रही है जो ज्यादा

समय से चलते साप्ताहिक रहे हैं, वे इस कसौटी पर कामयाब नहीं हो सकने के कारण सिमटते गए। खैर, साप्ताहिकों की जगह अब दैनिक पत्रकारिता छा गई है, परन्तु अधिकाश स्थानीय दैनिकों की स्थिति अभी ऐसी नहीं है कि वे अपनी स्वायत्तता और स्वतन्त्रता का प्रभावकारी प्रदर्शन करते रह सकें। जो बिक जाने को तैयार रहता है, उसका आदर कोई नहीं करता।

असल में, अधिकांश साप्ताहिकों ने बहुत ही बुरी परम्परा डाली। किसी-न-किसी तरह जीवित रहना उन्होंने अंगीकार कर लिया—समझौता करके, बुरे रास्ते पकड़कर। पत्रकारिता की स्वतन्त्रता और पत्रकारों की प्रतिष्ठा की इतनी बातें की जाती हैं, परन्तु पीत-पत्रकारिता और पत्रकारों में स्वार्थ-साधना है जो पत्रकारिता को पनपने नहीं दे रही। जो साप्ताहिक चालीस-चालीस सालों से निकल रहे हैं, उनका आकार, रूप और प्रसार जरा भी नहीं बदला है। जब से निकल रहे हैं, दो हजार प्रसार संख्या पर टिके हैं, चूँकि इतनी प्रसार संख्या का प्रमाणीकरण करने का यत्न सामान्यतः नहीं होता। इसके पीछे भी कितनी असत्यतता को छिपाया जाता है, इसका पता लगने पर कई बार अस्तित्व का संकट आया है।

ऐसा कम है जो शौक के लिए, सेवा के लिए, चेतना के लिए, जनसाधारण की समुन्नति के लिए ही पत्रकारिता निभाई जाती है, पत्र निकाले जाते हैं। पत्रों और पत्रकारों की स्थिति जो इसके बावजूद सुधरी है, उसने पत्रकारिता में गलत रास्तों का प्रवेश करा दिया है। यह हाल साप्ताहिकों का रहा है, और अब इसी को नए-नए निकले दैनिकों ने अपना लिया है।

इस तरह काम नहीं चलेगा। जो पत्रों और पत्रकारिता में प्रतिपादित होता है दूसरों के लिए वह सब पत्रकारों और पत्रों को अपने लिए भी अपनाना होगा।

जो अन्य अवयव हैं, भाषा के, शैली के, सामग्री के, सम्पादन के, प्रस्तुति के, उनकी दृष्टि से भी अभी बहुत अधिक परिवर्तन-परिवर्धन वांछनीय हैं। समाचार, जो मूल तत्त्व होता है, वह तक भी अभी आकाशवृत्ति पर निर्भर है—जो आ गया, छाप लिया। इसका जवाब जरूर लिया जाना चाहिए कि जो भण्डाफोड़ आडिट रिपोर्टों में होता है, वह पहले समाचारपत्रों के स्तम्भों में प्रकट क्यों नहीं होता?

इन सबकी दृष्टि से सोचे तो अब भी पत्रकारिता में बहुत कमियाँ और कमजोरियाँ हैं, परन्तु सबसे योग्य अस्तित्व बने रहने का सिद्धान्त समाचारपत्रों से परे भी नहीं है। पिछले दशक में ही कई पुराने साप्ताहिकों का अवसान हुआ है, जिसका मतलब यह नहीं होता कि राज्यों में अभी भी अपने अच्छे साप्ताहिक की आवश्यकता नहीं है। असल में तो दैनिकों से अधिक दायित्व का निर्वहन साप्ताहिक कर सकते हैं, परन्तु साप्ताहिक निकालना सारे संसार मे कठिनतर होता जा रहा है। अच्छा साप्ताहिक निकले तो हर राज्य का रंग बदल सकता है।

पाक्षिक और मासिक भी अतीतकालीन भारत में बहुत समृद्ध और प्रभावी थे। समुचित मासिक का स्थान भी कोई दूसरा नहीं ले पाता मासिकों और पाक्षिकों ने जो टीमटाम भड़क अंगीकार की है उससे चकाचौंध तो बढ़ी है और इसके बल पर बाहर से

निकलने वाले साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक हर राज्य में खूब बिक रहे हैं। एक तो इस होड़ का प्रतिउत्तर चाहिये, दूसरे सचमुच रचनात्मक पाक्षिक और मासिक की जरूरत बनी हुई है। जो घटनाएँ होती हैं, उन पर सम्यक् और सबल टिप्पणी से आगे की घटनाओं को नया रूप मिल सकता है। इस महत्त्वाकांक्षा से निकलने वाले मासिक और पाक्षिक अपना प्रभाव बना सकते हैं।

तरह-तरह के जनोपयोगी निर्माण कार्यों के लिए लोकसेवी न्यास और संस्थान स्थापित होते हैं। पत्रकारिता इससे वंचित रही है। 'ट्रिब्यून' की स्वतन्त्रता का आधार उसका निष्काम न्यास ही है। देश को ऐसे कई न्यासों की आवश्यकता है।

दूसरी आवश्यकता समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं का निरन्तर सर्वेक्षण होते रहने की है, जिसके लिए भी सुयोग्य, स्वतन्त्र, समर्थ और स्वायत्तशासी संस्थान होना चाहिए। यदि समाचारपत्र मिलकर इसकी स्थापना और संचालन नहीं करना चाहें तो किसी-न-किसी सेवाभावी दानदाता को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। जो अवकाश प्राप्त वरिष्ठ और सुयोग्य व्यक्ति हैं, और जो विश्वविद्यालयी विभाग हैं, वे भी इस ओर प्रयत्न कर सकते हैं।

तीसरी आवश्यकता पत्रकारिता के प्रशिक्षण की है—नये पत्रकारों के लिए भी और कार्यरत पत्रकारों के लिए भी। इसके लिए अलग से संस्थान आवश्यक हैं।

यह समय आने वाले अवसरों के लिए अपने को तैयार करने का है। जनसंख्या, शिक्षितों का औसत और सम्पन्न परिवारों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ेगी, समाचारपत्रों की माँग भी बढ़ेगी, परन्तु प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता का प्रवेश भी साथ-साथ बढ़ेगा। एक तरह से डरावना, दूसरी तरह से बहुत सम्भावना भरा, भविष्य पत्रकारिता के लिए है।

❑

पत्रकारिता का मुखपत्र

भारत की पत्रकारिता पर्याप्त प्रसार और प्रभाव नहीं प्राप्त कर पा रही। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार लगभग दस करोड़ भारतवासी सम्पन्न हैं। इनमें से दस–बारह प्रतिशत से अधिक समाचारपत्र नहीं प्राप्त करते। यह अन्तर और अधिक इस तरह हो जाता है कि जो ग्रामीण अँचल है, वह प्राय: पूरा–का–पूरा समाचारपत्रों से सूना है। इतने प्रसार से प्रभाव वैसे ही हो नहीं सकता, परन्तु भारत के जिन शहरों और कस्बों में समाचारपत्र पढ़े जाते हैं, उनमे भी उनका प्रभाव नगण्य है। कभी–कभी पदों, व्यक्तियों, घटनाओं को थोड़ा–बहुत हिण्डोलित करके अपने को जगमगा लेने भर से पत्रकार प्रसन्न और सन्तुष्ट हो लेते हैं, जबकि उनसे अपेक्षा देश की स्वतन्त्रता और देश के लोकतन्त्र को इस प्रकार परिपुष्ट करने की की जाती है कि संविधान के उद्देश्य और अपेक्षाएँ परिपूरित हो सकें। समस्याओं का घटाटोप, अविश्वास, अनिश्चय, अँधकार बढ़ाता जा रहा है, जिसे नहीं होने देने के लिए ही पत्रकारिता का प्रकाश होता है।

एकता और अखण्डता जो दिन–दिन दुर्बल होती महसूस हो रही है, उसे सबल करने मे पत्रकारिता सफल इसलिए नहीं हो रही, क्योंकि उसने अपने को नेताओं और घटनाओं तक सीमित कर लिया है और नकारात्मक तथा नाशकारक ही समाचारपत्रों में स्थान प्राप्त कर पाता है। पत्रकारिता को दिन–प्रतिदिन की घटनाओं और समस्याओं का विवरण और उन पर विचार प्रकट करने के साथ–साथ, जो स्थायी लक्ष्य और मूल्य हैं, उन पर भी इतना ध्यान देना होगा कि उनका लिखा मार्गदर्शन कर सके। स्वतन्त्रता के पहले कई समाचारपत्रों को इस प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। स्वतन्त्रता की सुरक्षा और सम्पन्नता में इस प्रकार का सहयोग भारत की पत्रकारिता नहीं दे पा रही।

यह स्थिति भी अच्छी नहीं है कि भारत के, भारत की भाषाओं के समाचारपत्र अब भी भारत की वाणी के प्रतिनिधि उतने नहीं माने जाते जितना यह श्रेय और अधिकार अंग्रेजी समाचारपत्रों ने प्राप्त कर रखा है। इसमें आपत्ति और ईर्ष्या से अधिक इस ओर चेतना आवश्यक है कि क्या–क्या कमियाँ हैं, जो भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों के लिए बाधाएँ बनी हुई हैं।

अंग्रेजी के समाचारपत्र कम पढ़े जाते हैं और भारतीय भाषाओं के अधिक—ऐसा संख्याओं का सन्तोष तो आ गया है लेकिन यह थोथा है जब तक एक ओर संख्या में, दूसरी ओर महत्त्वशीलता में, पर्याप्त सामान्य एवं विशिष्ट व्यक्ति भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों पर निर्भर रहने से सन्तुष्ट नहीं हों इसके लिए अभी संघर्ष सुदीर्घ और क्षमताशील करना होगा।

इसमें सहायता मिल सकती है, यदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के समाचारपत्र आपस में यह जानते रहें कि वे क्या-क्या प्रयत्न कर रहे हैं और सफलताएँ प्राप्त कर रहे हैं। देश की एकता के लिए पत्रकारिता में एकता आवश्यक है।

कोई पत्र या पत्रकार दूसरे का अनुसरण अथवा नेतृत्व स्वीकार नहीं करेगा, न इसकी आवश्यकता है। जिस तरह ऊपर एकता की बात कही गई, उसी प्रकार भारत की स्वतन्त्रता के लिए भारत के समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता आवश्यक है, परन्तु पत्रकारों में एक-दूसरे से परिचय बढ़ने से और उनके प्रयत्नो के बारे में जानकारी बढ़ने से, भारत की पत्रकारिता को व्यक्तित्व प्राप्त होगा, जो इस समय इतना विखण्डित है कि न पत्रकारिता के लेखन से, न समाचारपत्रों की संख्या से सम्मान और प्रभाव प्राप्त हो रहा।

इस प्रकार सोचा जाए तो और भी समस्याएँ तथा सम्भावनाएँ सामने आएंगी। सारे देश में पत्रकारिता के विषय में सोच और विचार बहुत कम हो पा रहा है। यही नहीं, इसके लिए जो अध्ययन-अन्वेषण आवश्यक है और जिस प्रकार की शब्दावली और अभिव्यक्ति विकसित होनी चाहिए, उसका भी अभाव है। जो पत्रकारिता में हैं और नए-नए आ रहे हैं, उनको दर्पण भी चाहिए और दिशा-निर्देश भी। इस दृष्टि से समय आ गया है—एक पत्रकारिता विषयक साप्ताहिक का। परन्तु यकायक साप्ताहिक निकालने से उसका चलाना बहुत कठिन हो जाएगा। आरम्भ मासिक से किया जाना चाहिए। यह अवश्य है कि पत्रकारिता विषयक लेखन को अति उच्च स्तर का रखना है तो त्रैमासिक अधिक कारगर हो सकता है।

इन विकल्पों में निर्णय करने में मुख्य प्रयोजन यह सामने रखना होगा कि जो वास्तव में पत्रकारिता में हैं, वे स्वयं पढ़ें और लिखें। पत्रकारिता का मुखपत्र पत्रकारों द्वारा स्वरचित और सुरचित होना चाहिए, और उसमें इतनी तेजस्विता, चमत्कार और आशंका आनी चाहिए, जैसे गलती पकड़ी जाने की, जो स्वतः श्रेष्ठ पत्रकारिता का प्रणेता होकर हर अंक में प्रकट हो। प्रस्तावित मुखपत्र आरम्भ में हिन्दी में निकलेगा और उसे यत्न यह करना होगा कि अन्य भाषाओं के पत्रकारों में भी उसके लिए उत्सुकता विकसित हो, जो आगे चलकर अन्य भाषाओं में इस प्रकार के पत्र के लिए वांछना विकसित कर सके। ऐसा होना अच्छा होगा, फिर भी हिन्दी में निकाले जाने वाले मुखपत्र को अपना महत्त्व बनाए रखना होगा। राष्ट्रव्यापी आदान-प्रदान से इसे सम्भव किया जा सकता है, जिसके लिए यत्न आरम्भ से किया जाना ही सही होगा।

पत्रकारिता का पत्र निकालना एकदम नया तो नहीं होगा। विदेशों में, विशेषतः अमेरिका में ऐसे साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक निकलते हैं। हमारे देश में भी छुटपुट प्रयत्न हुए हैं। ऐसा पत्र निकालना इतने साधन और यत्न और धन चाहता है कि अब तक का भारत मे किया गया कोई प्रयत्न सफलीभूत नहीं हो सका है। इसकी आवश्यकता इतनी है कि कोई भी, किसी तरह की भी लागत अधिक नहीं होगी।

परन्तु कोई संस्था जब यह काम हाथ में लेगी, उसे अपनी सीमा में प्रबन्ध और वित्तीय करने होंगे अतएव प्रस्ताव यह है कि दो वर्ष त्रैमासिक निकाला जाए और

आठ अंक निकालने के बाद उसे मासिक कर लिया जाए। दो वर्ष की अवधि में जो तैयारी हो, और पृष्ठभूमि बने, उसके अति उत्साहजनक होने पर मासिक श्रेणी लाँघकर साप्ताहिक भी निकाला जा सकता है।

हर हालत में प्रयत्न यह करना होगा कि पत्रकारों का पत्र पत्रकारों में आत्मनिर्भर हो। इसी से उसका पठन और प्रभाव इतना बढ़ेगा कि उसका अस्तित्व सहज ही स्वीकारा जाने लगेगा। पाठक संख्या बढ़ाने में सहयोग देने के लिए आरम्भ में, अच्छी तरह चलने वाले और इस प्रकार के प्रयत्न में विश्वास करने वाले, समाचारपत्र अपने पत्रकारों के लिए एकमुश्त प्रतियाँ खरीद सकते हैं। पत्रकारों में पत्रकारिता विकसित करने में प्रस्तावित मुखपत्र जितना सबल होगा उतनी ही इसकी सम्भावना बढ़ेगी, परन्तु कसौटी यही होगी कि पत्रकार स्वयं अपने पत्र में लिखें भी और उसे खरीदें भी। पत्रकारों तक जो पहुँचना चाहेंगे, वे इस मुखपत्र मे विज्ञापन भी देंगे। विज्ञापन दर आरम्भ से, अतएव, ऊँची रखी जानी चाहिए।

जो निजी अनुभव होता है, और जिन समस्याओं का सामना दिन-प्रतिदिन के कार्य में करना होता है, उनको लेकर जितना लेखन होगा, उतनी ही मुखपत्र में सजीवता आएगी। इसके लिए समुचित सम्पादन की सीमाएँ व्यक्तिगत सम्पर्क तक बढ़ानी होंगी, चूँकि अभी इस प्रकार के प्रकाशन के लिए न अभ्यास है, न कल्पना। कुछ अंक निकलने के उपरान्त वे स्वयं उदाहरण बनने लगेंगे।

हिन्दी को लें तो उसमें उन्नयन के अतिरिक्त प्रमाणीकरण की बहुत आवश्यकता है। हिन्दी का एक स्वरूप तक अभी नहीं बन पाया है, 'नई' भी लिखा जाता है और 'नयी' भी, जो देश की राजधानी के लिए आवश्यक"होने के कारण प्रायः प्रतिदिन उपहास और चिन्ता का कारण बन जाता है। अभिव्यक्ति की स्वायत्तता में वर्तनी और व्याकरण की स्वतन्त्रता, और शब्द को स्वरूप देने की स्वतन्त्रता नहीं आती। इसमें संयम और अनुशासन से ही हिन्दी राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त करेगी, जो एक सीमा तक अभी भी संस्कृत को प्राप्त है, अंग्रेजी के अतिरिक्त। न अंग्रेजी में, न संस्कृत में, उस तरह की आजादी चलती है, जैसी हिन्दी में निकाल ली गई है। इसका शमन उपर्युक्त मुखपत्र का दायित्व होगा। नामावलियाँ स्थानों की, पदों की, व्यक्तियों की, अवसरों आदि की सारे देश में एकरूपता प्राप्त करें, यह यत्न भी करना होगा। महत्त्वपूर्ण मसलों पर सारे देश की वाणी एक साथ अभिव्यक्ति प्राप्त करे, यह यत्न भी पत्रकारों का मुखपत्र कर सकता है।

❑

संस्कृत पत्रकारिता की सम्भावनाएँ

भारत में संस्कृत ही एकमात्र भाषा है, जिसमें देश के सभी भागों में स्तरीय रचनाएँ हो रही हैं। यह स्थिति इस समय हिन्दी और अंग्रेजी की भी नहीं है। इस प्रकार, वास्तविक राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकीकरण की भाषा का जो रूप संस्कृत को प्राप्त है, उसका आभास संस्कृत जगत में भी कम है, और संस्कृत न जानने वाले विज्ञ भारतीयों में तो बहुत ही कम है, जो संस्कृत की इस व्यापकता और सजीवता से अवगत हैं ही नहीं।

यही नहीं, ठीक से गिनती की जाए तो लगेगा कि भारत के बाहर के विद्या और शिक्षा केन्द्रों में सबसे अधिक स्थानों पर पढ़ी-पढ़ाई जाने वाली भारतीय भाषा संस्कृत ही है। सस्कृत की सुस्थापित विश्व व्यापकता है। एक तरह से इसके अनुरूप, और एक तरह से इसके प्रतिकूल, संस्कृत पत्रकारिता की स्थिति है।

भारत के समाचारपत्रों के पंजीयक की ओर से सबसे ताजे आँकड़े 1982 के प्रकाशित किए गए हैं। उनके अनुसार, तेरह राज्यों अथवा संघ राज्य क्षेत्रों से संस्कृत की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें दो दैनिक, चार साप्ताहिक, एक पाक्षिक और बारह मासिक हैं। 15 द्विभाषी और 44 बहुभाषी पत्र ऐसे हैं जिनकी एक भाषा संस्कृत भी है। यह संख्या अवश्य और अधिक होगी, क्योंकि (1) त्रैमासिक-वार्षिक इसमें सम्मिलित नहीं किए गए हैं, और (2) बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ हैं, जिनके विवरण समय पर पंजीयक के पास नहीं पहुँचाए जा सके हैं। संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की यह व्यापकता संस्कृत के भारत मे वास्तविक प्रसार के अनुरूप है।

प्रतिकूल यह बात पड़ती है कि इनमें से किसी पत्र-पत्रिका की प्रसार संख्या दो हजार से अधिक नहीं है और कुल प्रसार संख्या 1981 के मुकाबले 1982 में एक तिहाई कम हुई है, फिर भी संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की संख्या कम नहीं हुई। यह इनके प्रकाशकों तथा सम्पादकों की निष्ठा, एकाग्रता और समर्पण-भावना का द्योतक है। यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें से एक 'संस्कृत साहित्य परिषद् मासिक पत्रिका' 1919 से लगातार प्रकाशित हो रही है।

सराहना इतनी ही इन पत्र-पत्रिकाओं के लिए अपने लेख और अन्य प्रकाशनीय सामग्री भेजने वालों की भी करनी होगी। पारिश्रमिक की अभिलाषा के बिना वे अपनी कृतियाँ भेजते हैं। किसी संस्कृत पत्र-पत्रिका की स्थिति अपने लेखकों को पारिश्रमिक प्रदान करने की नहीं है फिर भी वे नियमित रूप से निकल रही हैं—ऐसा सेवाभावी योगदान अपने में एक परम मूल्यवान पूँजी हो जाता है

संस्कृत पत्र-पत्रिकाएँ जिस तरह के लक्ष्यों और प्रयोजनों को लेकर प्रकाशित हो रही हैं, उनको पकड़े रखा गया तो अधिक समुन्नति सम्भव नहीं लगती। जो जीवट और आत्माभिमान संस्कृत के विद्वानों में है, उसके रहते ये पत्र-पत्रिकाएँ चलती तो रहेंगी लेकिन इनका संचालन व्यावसायिक व्यापकता और प्रचुर प्रसार इनकी वर्तमान स्थिति में नहीं प्राप्त कर सकता।

होना यह चाहिए कि जो प्रसार और आदर संस्कृत को सारे देश में और देश के बाहर भी प्राप्त है, उसके अनुरूप एक सर्वांगीण साप्ताहिक के प्रकाशन की योजना बनाई जाए। प्रारम्भ में उसका स्वरूप दिल्ली से प्रकाशित 'दिनमान' जैसा होना चाहिए। साथ में यह महत्त्वाकांक्षा भी होनी चाहिए कि इसे 'इंडिया टूडे' के स्तर तक ले जाना है। इसके लिए धन और प्रतिभा का संकलन किया जाए, इसकी तैयारी में समय लगेगा लेकिन यह उपहासप्रद अथवा असम्भव योजना नहीं है। संस्कृत के पास जो धरोहर है और जो उसकी क्षमता है, उसके लिए ऐसी योजना सर्वथा सम्भव और व्यावहारिक है। भारत सरकार, सभी राज्य सरकारें, व्यावसायिक प्रतिष्ठान तथा सम्पन्न परिवार इस उद्देश्य से बनी व्यावहारिक और सफलीभूत होने वाली योजना को अवश्य उसे सम्भव करने योग्य सहायता देंगे।

परन्तु इस प्रस्तावित प्रकाशन का मुख्याधार तो पाठक वर्ग को ही बनाना होगा। जितनी शिक्षण संस्थाओं में संस्कृत पढ़ाई जाती है, उनमें अथवा उनके प्रयत्न से संस्थागत और व्यक्तिगत दस-दस प्रतियाँ बिकने लगें तो एक अच्छा साप्ताहिक संस्कृत में निकल सकता है। आरम्भ में आग्रह और अनुरोध करना होगा। आगे चलकर तो प्रकाशन को अपना मार्ग स्वयं बनाना होगा। उसकी पात्रता ही उसकी जीवन-रक्षा कर सकेगी।

इसके लिए यह समझना होगा कि संस्कृत समग्र जीवन की भाषा है, जो कुछ मानव जीवन से सम्बद्ध है, वह सब संस्कृत रचना का विषय रहा है। संस्कृत को धार्मिक और आध्यात्मिक सीमाओं में बाँधना हमारे देश में अंग्रेजों के आने के बाद आरम्भ हुआ। मुस्लिम आक्रमणों ने संस्कृत पाण्डुलिपियों के प्रतिष्ठित भण्डार नष्ट किए, यह बहुत ही व्याघातक क्षति थी, परन्तु वे संस्कृत को भारत के जन-जीवन से नहीं निकाल सके। उल्टे विदेशी शक्तियों के चंगुल से देश को मुक्त करने के जो प्रयत्न हुए, उनमें संस्कृत से योगदान प्राप्त हुआ। परन्तु अंग्रेज प्रशासनिक आधिपत्य स्थापित करने मात्र के लिए नहीं आए थे, उनका प्रयत्न बौद्धिक प्रभुत्व स्थापित करना भी था। यह हो नहीं सकता था, जब तक भारत में सस्कृत का प्रभुत्व बना हुआ रहता। उन्होंने संस्कृत को पृथक् प्रतिष्ठा दी, लोगों को अच्छा लगने लगा। लेकिन उन्होंने उच्च शिक्षा के समस्त क्षेत्र में से संस्कृत को काट दिया। जो नितान्त भारतीय विषय हैं, जैसे—दर्शन, इतिहास, साहित्य, अध्यात्म और धर्म, उनकी शिक्षा भी संस्कृत के बिना हो सकती है, यह स्थापना अंग्रेजों ने की, और इसके लिए अपनी भाषा अंग्रेजी को प्रतिष्ठित किया। हम भी अंग्रेजी को आदरणीय और संस्कृत को उपेक्षणीय मानने लगे। हमने यह विभाजन स्वीकार कर लिया कि संस्कृत अध्यात्म आत्मसुख और की भाषा है उपयोग के लिए अग्रेजी की ही महत्ता है सस्कृत की

सजीवता से देशभर में प्रसारण की उपेक्षा करके, नितान्त पर-भाषा अंग्रेजी को यह प्रसार दे दिया गया। जो आधुनिक चिन्तन, अन्वेषण, लेखन, शिक्षण-प्रशिक्षण भारत में, भारत की परतन्त्रता के बाद हुआ, उस सबके लिए स्वीकृत और सम्मानित, प्रचलित तथा सम्भव, एकमात्र भाषा अंग्रेजी बन गई। देश की परतन्त्रता को इस प्रकार पूर्णता प्राप्त हुई।

देश की स्वतन्त्रता के बाद स्थिति को इस प्रकार देखा नहीं गया और अंग्रेजी का प्रभुत्व जैसा-का-तैसा बना हुआ है। इस स्थिति में वास्तविक स्वतन्त्रता और सम्मान सम्भव ही नहीं है, यह हमारे कर्णधार समझ नहीं रहे।

अंग्रेजी अपने में बुरी भाषा नहीं है, और उसका विश्व रूप प्रबल आकर्षण है। परतन्त्रता के दिनों में अंग्रेजी भाषियों से जो सम्बन्ध हमारे कायम हुए, उनको स्वतन्त्रता के बाद नया स्वरूप तथा अधिकाधिक प्रसार प्रदान किया गया है। अग्रजों और अनुकरण योग्यो में अंग्रेजों की जगह अमेरिकनों ने ले ली है, लेकिन भाषागत परतन्त्रता की स्थिति पहले से विकट और व्यापक ही बनी है। जिस तरह उठती पीढ़ी को अंग्रेजी पढ़ाने का आग्रह आजकल है, उतना तो परतन्त्रता के दिनों में भी नहीं था।

इससे मनोभावना का, आत्माभिमान और आत्मविश्वास का हनन जो हो रहा है, उससे भी ज्यादा गहरी यह क्षति है कि हम भारत के ज्ञान-विज्ञान के अनुभव और आविष्कार से, इस देश की वास्तविक पूँजी से, एकदम कट गए हैं। विदेशी भाषा में विदेशी ज्ञान भारत को कभी आत्मनिर्भर और स्वसम्मानी नहीं बना पाएगा।

करना यह होगा कि संस्कृत को उच्च शिक्षा में पुनः सर्वोपरि प्रतिष्ठा प्राप्त हो। विषय कोई भी हो, सिवा भाषागत अध्ययन के, उसमें उच्चतर शिक्षा संस्कृत में होनी चाहिए, जैसे आजकल अंग्रेजी में होती है। अवश्य तब हमें आधुनिक ज्ञान अनुवाद के माध्यम से प्राप्त करना होगा। लेकिन हमारे बन्धन अंग्रेजी से टूट जाएंगे। अनुवाद हम विश्व की अन्य विकसित भाषाओं से भी करेंगे, जिनसे इस समय हम अपने को प्रायः वंचित बनाए हुए हैं। उच्च शिक्षा के लिए भारत में संस्कृत हिन्दी से भी अधिक उपयोगी है। पहले तो संस्कृत में क्षमता अधिक है—कुछ हजार वर्षों से यह उच्चतम अभिव्यक्ति का माध्यम रही है, सभी विषयों की। दूसरे, भारत का समस्त अनुभव, आविष्कार, ज्ञान-विज्ञान, मूल रूप से संस्कृत में उपलब्ध है। शिक्षा के नाम पर हमें शून्य से आरम्भ करना पड़ता है, अंग्रेजी के कारण। मानव चिकित्सा या पशु-चिकित्सा को लें। पढ़ाई ऐसे कराई जाती है जैसे इन क्षेत्रों में भारत का अपना कुछ था ही नहीं। उच्च शिक्षा का अर्थ यह होता है कि जो कुछ उपलब्ध है, उससे आगे निकला जाए। यह संस्कृत के माध्यम से ही सम्भव है। यह परम उपहास की और नितान्त अस्वीकार्य स्थिति है कि हम भारत में अंग्रेजी में तो उच्च शिक्षा का प्रबन्ध कर सकते है और भारत की अपनी प्राचीन तथा समृद्ध एवं सशक्त भाषा संस्कृत में यह सम्भव नहीं है। संस्कृत भारत की मुक्ति और समुन्नति की भाषा है।

संस्कृत के सामने इस समय दो चुनौतियाँ हैं जो भी संकलित भारतीय ज्ञान है हर विषय का, उसे देशवासियों के और विश्व विदेशियों के सामने लाया जाए दूसरे जो कुछ भी

इस युग में श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण हो रहा है, उसे संस्कृत में संजोया जाए। संस्कृत की आज की रचनाएँ पढ़कर सौ वर्ष बाद लगेगा कि संस्कृत केवल ललित साहित्य की भाषा रही है। ऐसा नहीं होना चाहिए, जीवन के प्रत्येक पक्ष की प्रस्तुति संस्कृत में होनी चाहिए, जैसा भारत में होता आया है।

यह अनुवाद के माध्यम से नहीं हो पाएगा। जो विषय के पारंगत हैं, उन्हें संस्कृत मे मौलिक लेखन करना होगा। इसका अभ्यास वे प्राप्त करें, तभी उनकी देन दीर्घकालीन महत्ता प्राप्त करेगी।

संस्कृत के पत्रकार और पत्र-पत्रिकाएँ इस दिशा में सामयिक योगदान कर सकती हैं। सस्कृत में कुछ पत्रिकाएँ निकलनी चाहिएँ, जो साहित्य-संस्कृति से अपने को निकालकर, व्यापक आधुनिक अनुभव को प्रसारित करें। अध्ययन-अन्वेषण किसी विषय में हो, उसके विषय में ज्ञातव्य संस्कृत में मिलना चाहिए।

लगता ऐसा है कि जो रचना-कार्य संस्कृत में देश के विभिन्न भागों में हो रहा है, उसका भी परिपूर्ण ज्ञान सभी संस्कृतज्ञों को नहीं है। असम और केरल से लेकर कश्मीर, गुजरात तक, हर राज्य के सभी प्रतिष्ठित केन्द्रों में संस्कृत में रचना हो रही है। उससे सभी को अवगत रखने का दायित्व भी संस्कृत पत्रकारिता को लेना होगा।

स्वयं पत्रकारिता के विकास तथा उन्नयन के लिए सर्वांगीण संस्कृत पत्रकारिता प्रतिष्ठान की स्थापना की जानी चाहिए। पत्रकारिता अब निरे निजी प्रयत्न पर निर्भर नहीं रखी जा सकती। दूसरों का अनुभव और दूसरों की सहायता अनिवार्य हो गई है। जब तक यह सम्भव नहीं हो, संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का नियमित विश्लेषण विद्वानों से कराया जाना चाहिए। भाषा की दृष्टि से, सामग्री की दृष्टि से, प्रस्तुतीकरण तथा मुद्रण की दृष्टि से अलग-अलग विशेषज्ञ अपना अभिमत प्रकट करेंगे तो सभी को नया मार्ग और नई संकल्पना प्राप्त होगी।

❑

पत्र-पत्रिकाओं में शिक्षा विषयक समाचार

पत्र-पत्रिकाओं में शिक्षा विषयक समाचार पर्याप्त प्रकाशित होते हैं या नहीं, इसका निर्णय कई दृष्टियों से करना होगा।

शिक्षा विषयक जो समाचार प्रकाशित होते हैं, उनको तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(1) अनुकूल समाचार, (2) प्रतिकूल समाचार, और (3) जनहित के समाचार।

अनुकूल समाचारों में विशेषत: होते हैं, परीक्षा परिणामों में उत्कृष्टता, विद्यार्थियो तथा अध्यापकों की विशिष्ट सफलता, पाठ्यक्रमों तथा शिक्षा-सुविधाओं का विस्तार, भवनो का निर्माण, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की विदेश यात्राएँ, विभिन्न प्रकार के समारोह और आयोजन, तथा शिक्षा संस्थाओं द्वारा जनसेवा।

प्रतिकूल समाचारों में से कुछ घटना प्रधान होते हैं, जैसे बनते हुए या बने हुए भवनो को क्षति, विशेषत: तब जब उसके कारण कुछ विद्यार्थियों की मृत्यु हो जाए। प्रबन्ध कार्य मे गडबड़ी अगर गम्भीर हो तो उसे भी स्थान मिल जाता है। विद्यार्थियों अथवा अध्यापकों को किसी भी तरह पीड़ित, शोषित अथवा बाधित किया जाता हो तो समाचारपत्र उसकी ओर भी ध्यान देते हैं। चारित्रिक वैषम्य के समाचार भी प्रकाशित होते हैं। आन्दोलन जो विद्यार्थी अथवा अध्यापक करते हैं, उन्हें समाचारपत्र स्थान देते हैं। अध्यापक अथवा प्रबन्धक यदि विद्यार्थी विरोधी अथवा अभिभावकों के हित के विरुद्ध कुछ करते हैं, तो समाचारपत्र खबर लेने से नहीं चूकते। मारपीट का मौका आता है, तो समाचार अपने आप बन जाता है। जो अनहोना है, वह सामान्यत: तभी समाचार बनता है जब वह प्रतिकूल पड़ता है, लेकिन अनुकूल होने पर भी अनहोनी बातों को स्थान कम नहीं मिलता।

जनहित के समाचार सामान्यत: शिक्षण संस्थाओं में स्थानाभाव, विद्यार्थियों को प्रवेश दिलाने में दिक्कतें और धाँधली (इसमें प्रवेश के लिए धन-वसूली भी आती है), जो कार्य शिक्षण संस्थाओं का नहीं है, उसमें विद्यार्थियों और अध्यापकों का सहयोग और उनकी सफलता, तथा अध्यापक-अभिभावक सम्पर्क से सम्बन्धित होते हैं। जनहित का कोई पक्ष हो, समाचारपत्र उसकी ओर ध्यान देने में नहीं चूक सकते।

प्रश्न दो बनते हैं—(1) जो सामान्यत: प्रकाशित होता है, उसे कैसे बढ़ाया और सुधारा जाए, तथा (2) जो सामान्यत: प्रकाशित नहीं होता, वह क्या है, और उसके प्रकाशन के लिए क्या प्रबन्ध किया जा सकता है।

तीन श्रेणियों में प्रकाशित होने वाली जिस सामग्री का विवरण ऊपर दिया गया है उसे पर्याप्त नियमित तथा परिणाम प्रेरक नहीं माना जा सकता

निरी सराहना में जो समाचार प्रकाशित होते हैं, उनको स्थान चाहे जितना मिले, जिनकी सराहना होती है, वे सदा उसे अपर्याप्त मानते हैं। फिर भी, समय पर, सुरुचि एव कुशलता तथा संयम से लिखे, अनुकूल समाचार यदि पत्र-पत्रिकाओं को और अधिक मिलने लगे तो उनको अवश्य और अधिक स्थान मिल सकता है। ऐसे समाचार क्या हो सकते हे, कैसे उन्हें लिखा और तैयार करना चाहिए, और, कैसे पत्रों-पत्रकारों तक पहुँचाना चाहिए, यह सब विशिष्ट व्यवसाय बन गया है। जो अनुकूल समाचार हैं, उन्हें अपने आप प्राप्त करन का प्रयत्न समाचारपत्र कम करते हैं, ऐसे समाचार स्वयं अपनी प्राथमिकता कम बना पाते हैं। पाठकों की रुचि, उत्सुकता, हितसाधना की परिधि में जो आते हैं, उनके लिए तो प्रयत्न पत्र और पत्रकार फिर भी कर लेते हैं। जिन समाचारों को शिक्षण संस्थाएँ, प्रबन्धक, अध्यापक तथा विद्यार्थी अपनी दृष्टि से आवश्यक अथवा प्रशंसनीय मानें, उनके प्रकाशन के लिए तो उन्हें विशेष प्रयत्न करना ही होगा। अनुकूल समाचारों में जिनको गिनाया गया, उनमे ज्यादातर ऐसे होते हैं जिनकी जानकारी अपने आप समाचारपत्रों तक पहुँच भी नहीं पाती। समय पर और समुचित रूप से उसे पहुँचाकर ही उसके प्रकाशन के लिए अधिक ध्यान और स्थान प्राप्त किया जा सकता है। यह कैसे किया जाए, इसका ज्ञान और अभ्यास बढ़ाया जाना चाहिए अथवा प्रशिक्षित एवं अनुभवी व्यक्तियों की सहायता ली जानी चाहिए। जो संस्थाएँ बड़ी हैं, वे पृथक् कार्यकर्त्ता, पूर्णकालीन अथवा अल्पकालीन, रख सकती हैं—कुछ संस्थाओ के समूह मिलकर भी ऐसी सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं। प्राय: प्रत्येक जिले में राजकीय जनसम्पर्क अधिकारी नियुक्त हैं। जिला शिक्षा अधिकारी यदि पहल करें तो उनके माध्यम से अच्छा प्रचार-कार्य हो सकता है। अनुकूल समाचार, यह दुर्भाग्य है, पत्र-पत्रकारों द्वारा सामान्यत: प्रचार-प्रयत्न ही माने जाते हैं।

प्रतिकूल समाचार और जनहित के समाचार जो सामान्यत: अपने आप प्रकाशित होते हैं, उनके द्वारा भी क्रमश: अहित कम करने और हित बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक होता है। कुछ सहानुभूति इसी से जाग्रत हो जाती है जब सम्बन्धित संस्थाएँ अथवा व्यवस्थापक स्वयं ऐसे समाचार देते हैं। उनके ऐसा करने का परोक्ष लाभ यह और होता है कि प्रतिकूल-से-प्रतिकूल समाचार का अनुकूल पक्ष भी स्थान प्राप्त कर लेता है। जो प्रयत्न प्रतिकूलता को कम करने का किया जाता है, उसे भी स्थान मिल जाता है। तीसरे, जो प्रयत्न और प्रबन्ध ऐसी परिस्थिति फिर से न होने देने के लिए किया जाता है या करने के लिए सोचा जाता है, वह भी सामने आ जाता है। समाचार प्रतिकूल है, इसलिए उसे दबाना सही नहीं होता। जो कुछ अपने आप अन्तत: पत्रों-पत्रकारों तक पहुँचने वाला है, उसकी प्रेषण एवं प्रकाशन प्रक्रिया में जहाँ तक हो सके, सहायक होना ही लाभकारी होता है।

इस विषय में शिक्षण संस्था बड़ी हो या छोटी, सामान्यत: प्रयत्न समाचारों को छिपाने या दबाने का ही किया जाता है। मानव स्वभाव के यही अनुकूल पड़ता है—अपनी कमी-कमजोरी-गलती कौन अपने आप उजागर करना चाहता है—परन्तु पत्र-पत्रकारों के स्वभाव तथा दायित्व की दृष्टि से देखें तो लगेगा कि ऐसे समाचार छिपाने या दबाने की कोशिश भी कम होती है और ज्यादातर उल्टी ही पड़ती है बड़ा मुश्किल होगा इस विषय

मे बने-बनाए दृष्टिकोण को बदलना, लेकिन जो कम हानिकारी है, उसी मार्ग को चुनना चैतन्यता और बुद्धिमानी मानी जाएगी।

जनहित के जो समाचार प्रतिकूल पड़ते हैं, उनको लेकर तो कहा यह जाना चाहिए कि शिक्षा संस्थाओं का स्वत: दायित्व होता है—जनसाधारण को वास्तविकताओं से सूचित करना और सूचित रखना। यह भ्रम यदि है तो छोड़ दिया जाना चाहिए कि शिक्षण संस्था गैर-सरकारी हो जाने से निजी सम्पत्ति हो जाती है। भावी पीढ़ियों का शिक्षण तथा निर्माण जिन संस्थाओं के हाथों में है, उनकी प्रत्येक प्रक्रिया और गतिविधि जनरुचि का विषय है, और ऐसी संस्था कुछ भी प्रकट करने से इन्कार नहीं कर सकती। यहाँ भी वही बात है—जो अच्छा है, उसके प्रकाशन के लिए भी विशेष प्रयत्न करना होगा और जो प्रतिकूल पड़ता है, उसकी पीड़ा को चतुरता से समाचार देकर कम किया जा सकता है।

समाचारपत्रों में सामान्यत: क्या प्रकाशित होता है और क्या प्रकाशित नहीं होता, इस पर शिक्षण संस्थाओं में अलग-अलग और सामूहिक रूप से, समय-समय पर, विचार होना चाहिए। जैसा कहा गया, इसके लिए विशेष विभाग और समुचित योग्यता तथा अनुभव के व्यक्ति हों तो अधिक उपयोगी होता है, परन्तु जिनके हाथों में संस्था-संचालन का भार है, वे भी थोड़े चिन्तन और अभ्यास से बहुत अधिक परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ हम पहुँचते हैं, जनसम्पर्क की आवश्यकता और महत्त्व पर। शिक्षण संस्थाएँ जनसम्पर्क का समुचित प्रबन्ध करके अपनी बहुत अधिक सेवा और हित-साधना कर सकती हैं। जन-सम्पर्क मात्र समाचार-प्रेषण नहीं है, इसका अन्त संवाददाता सम्मेलनों में भी नही होता। जन-सम्पर्क का मुख्य लक्ष्य होता है—ऐसा सुविधाजनक वातावरण बनाना कि अनुकूल समाचार अपने आप अधिक प्रकाशित होते रहें, और अपने आप पत्र-पत्रकार प्रतिकूल समाचारों के प्रकाशन में संयम तथा सहानुभूति दिखाते रहें। शिक्षण संस्थाओं का और अध्यापकों का सम्मान, समाज के अन्य वर्गों की तरह, पत्र और पत्रकार भी करते हैं। अतएव शिक्षण संस्थाओं की ओर से सम्पर्क की पहल की जाए तो प्रतिक्रिया रचनात्मक और अनुकूल ही होगी। क्षेत्र के जो पत्र और पत्रकार प्रमुख एवं प्रभावशाली हैं, उन्हें निर्धारित अवधि के अन्तराल से निरन्तर चर्चा के लिए संस्थाओं में बुलाया जाना चाहिए—यह समारोहों में पत्रकारों के आगमन से अतिरिक्त बात है। बिना स्पष्ट और तात्कालिक लक्ष्य के जब सम्पादकों तथा संवाददाताओं से सम्पर्क किया जाता है या मिलने बुलाया जाता है, तब उन्हे अपने महत्त्व का आभास होता है, और जो उन्हें महत्त्व देता है, उसके प्रति वे अपने आप अधिक अनुरक्त हो जाते हैं।

अब हमें ऐसे विषयों को, ऐसी सामग्री को लेना होगा, जो सामान्यत: समाचारपत्रो मे प्रकाशित नहीं होतीं। समस्या उसे समझने और उसका प्रकाशन प्रोत्साहित करने की है।

पत्र-पत्रिकाएँ-पत्रकार जिस दृष्टिकोण से भारत में काम कर रहे हैं, उसके कारण जो अधिक [illegible] है उसको कम ध्यान और स्थान प्राप्त हो रहा है देश की [illegible] के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है देश का नव-निर्माण इस प्रयत्न में आते हैं विभिन्न विकास-

कार्य, जिनको पंचवर्षीय योजनाओं तथा वार्षिक आय–व्ययकों में समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार जो राष्ट्रीय व्यय होता है, उसके अनुपात का प्रतिबिम्बन समाचारपत्रों में नहीं हो रहा। आखिर जो व्यय होता है, उसे जनसाधारण से संकलित किया जाता है। जनतन्त्र है—जो कर्जा या दान विदेशों से लिया जाता है, उसका भार भी भारत के निवासियों को उठाना पड़ता है। उन्हें यह बताने का प्राथमिक दायित्व, तथा समुचित आवश्यकता, बनती है कि क्या धन सकलित होता है, और किस प्रकार वह व्यय होता है। जो लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं, उनकी प्राप्ति कितनी, किस प्रकार की होती है, यह रचनात्मकता समाचारों के संकलन तथा सम्पादन एवं प्रस्तुतीकरण में प्रविष्ट ही नहीं हो पाई है।

यह निरे प्रचार की बात नहीं है। निर्माण कार्यों में व्याघात, अवधि–हनन, पक्षपात, भ्रष्टाचार और अमानवीय दुष्कृत्य भी समाचार हो सकते हैं। कहना यह है कि समाचारपत्र उनकी ओर भी उस अनुपात में ध्यान नहीं देते, जिस अनुपात में उनके लिए व्यय निर्धारित होता है।

इस तरह, राष्ट्र–निर्माण के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों पक्ष, महत्त्व के समाचार होते हुए भी समाचारपत्रों में समुचित स्थान प्राप्त नहीं कर पाते। शिक्षा विषयक समाचार भी इस अवहेलना की चपेट में आ जाते हैं।

अन्य निर्माण-कार्यों की तरह शिक्षा विषयक गतिविधि की गहराई में जाना आसान नहीं है। प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा पर व्यय में क्या अनुपात होना चाहिए? बीच में पढ़ाई छोड़ने और महिला शिक्षा कम होने की समस्या कैसे सुलझाई जानी चाहिए? प्रौढ़ शिक्षा और स्कूल छोड़े विद्यार्थियों की निरन्तर शिक्षा के लिए क्या किया जाना चाहिए? शिक्षा का कितना सरकारीकरण होना चाहिए? पाठ्यक्रम एवं परीक्षा प्रणाली में क्या सुधार वांछित हैं, कितना एकीकरण और समानीकरण होना चाहिए? विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में वर्तमान प्रणाली कितनी सहायक और कितनी बाधक है? अध्यापकों की सुविधाएँ और उनका सम्मान कैसे बढ़ाया जाए और कितने अधिक प्रभावी वे विद्यार्थियों तथा अभिभावकों से निकटतर सम्बन्ध से बन सकते हैं? शिक्षण संस्थाओं के जो निर्धारित लक्ष्य हैं, वे कहाँ तक पूरे हो रहे हैं? शिक्षण प्रतिशत बढ़ने से समाज की कितनी समुन्नति हो रही है? शिक्षा को कैसे समाजोपयोगी अधिक बनाया जा सकता है?—ये प्रश्न हैं और इनकी शृंखला को बहुत बढ़ाया जा सकता है। विचारणीय यह है कि इस प्रकार की समस्याएँ समाचारपत्रों का ध्यान क्यों कम आकर्षित कर पा रही हैं, कैसे इनके लिए अधिक ध्यान और स्थान आकर्षित किया जाए।

इस विषय में प्राथमिक दायित्व किसका है? समाचारपत्रों का ही मानना होगा। उन्हे राजनीति के प्रति अपना लगाव छोड़कर राष्ट्र–निर्माण की ओर मुड़ना होगा। जब तक ऐसा नहीं हो पाता, शिक्षण संस्थाओं को स्वयं पहल करनी होगी। जो सम्बन्धित सरकारी विभाग हैं उन्हें सम्प्रेषण तथा सम्पर्क की [illegible] सजग करनी होगी और सुधारनी होगी जो सरकारी प्रचार तथा जनसम्पर्क विभाग हैं वे मन्त्रियों के श्रीमुख से उच्चरित उद्गारों में

ही उलझे रहते हैं, चिन्तित और प्रयत्नरत रहते हैं कि कैसे अधिक-से-अधिक मन्त्रियों को पत्र-पत्रिकाओं में स्थान मिल जाए। भूल जाया गया है कि स्वतन्त्रता के बाद मुख्य लक्ष्य राष्ट्रोत्थान है—मन्त्री, सचिव, अधिकारी आदि सामयिक साधन मात्र हैं। वे विकास-प्रक्रिया के प्रेरक तथा संचालक के नाते, जन-प्रतिनिधि तथा जनसम्पर्क के नाते समाचार बनते हैं, लेकिन उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही अधिक आदर पा रहा है।

समाचारपत्र हों चाहे सम्पर्क अधिकारी, उनमें स्थिति जनजागरण से ही सुधर सकती है। शिक्षण संस्थाएँ इस कार्य में अपने को लगाकर अपनी सार्थकता अधिक बढ़ाएँगी। शिक्षण को कक्षाओं के पाठ्यक्रम तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। जो समय और समाज के विभिन्न अंग हैं, उनमें जाग्रति तथा निर्माण वृत्ति का उठाव हो—इसे भी शिक्षण संस्थाओं को अपने लक्ष्यों में शामिल करना चाहिए। एक अच्छी शिक्षण संस्था जहाँ चलती है, वहाँ का सारा वातावरण शालीन, शुभ, सन्तुलित और समाजसेवी होना चाहिए। ऐसी संस्थाएँ, अपनी व्यापक सामाजिक स्वीकृति के प्रभाव से, समाचारपत्रों तथा शासनकर्त्ताओं को भी रचनात्मक तथा राष्ट्र-निर्माणकारी दृष्टि देने में सफल हो सकती हैं, जिसके बिना शिक्षा विषयक समाचारों को भी भरपूर ध्यान और स्थान नहीं मिल सकता।

❑

पत्रकारिता का नया युग

यह बुरा है, लेकिन इसे रोका जाना मुश्किल है। समस्या शायद यह है कि इस बुराई का मुकाबला कैसे किया जा सकता है।

स्वतन्त्रता समाचारपत्रों की प्राणवायु होती है। सारे संसार में, अर्थात् जहाँ-जहाँ निजी समाचारपत्र निकालने की स्वतन्त्रता है, 'बड़े' और 'छोटे' समाचारपत्रों के बीच प्रतिद्वन्द्विता होती रहती है। मिटे न 'छोटे' समाचारपत्र हैं, न 'बड़े'। लेकिन, जो 'छोटे' हैं, उनका जीना मुश्किल जरूर बन जाता है, और उसमें से एक चैतन्यता उत्पन्न होती है, जो दोनों—छोटों को और बड़ों को—ऐसा बनाती है, जिससे छोटे और ज्यादा छोटे होने लगते हैं और बड़ो को भी अपना बड़ापन कम करना पड़ता है। प्रतिद्वन्द्विता सरल नहीं होती, उसमें जीतने के लिए आकार का ही नहीं, स्वरूप और मान्यताओं का अन्तर भी अंगीकार करना पड़ता है। पाठक, जिसकी सेवा समाचारपत्रों का अन्यतम दायित्व होना चाहिए, इस सारी कलाबाजी मे दर्शक मात्र बनकर रह जाता है, वह कुछ कर नहीं सकता, लेकिन जो कुछ उसे पढ़ने को मिलता है, उसका रूप-रस बदल जाता है।

उत्तर भारत में यह सिलसिला गुजरात से शुरू हुआ। जब महाराष्ट्र और गुजरात अलग-अलग बने, यह वास्तविकता सामने आई कि नए राज्य गुजरात का अपना कोई अंग्रेजी दैनिक नहीं है। अहमदाबाद, सूरत और बड़ौदा से कई अच्छे गुजराती दैनिक निकलते थे, लेकिन अंग्रेजी दैनिक की बात दूसरी होती है। देश की स्वतन्त्रता के बाद भी जो हम हीनता की भावना छोड़ नहीं सके हैं, उसमें से अंग्रेजी दैनिकों का स्वरूप और सम्मान उत्तरोत्तर बढता गया है।

अहमदाबाद के एक सुस्थापित गुजराती दैनिक ने अंग्रेजी का दैनिक प्रकाशित किया। इसे बम्बई के दोनों 'बड़े' अंग्रेजी दैनिक सह नहीं सके और एक-एक करके दोनो के अहमदाबाद संस्करण निकलने लगे।

ऐसा का ऐसा जयपुर में हुआ। जयपुर से एक हिन्दी दैनिक की ओर से अंग्रेजी समाचारपत्र निकलते ही, दिल्ली के 'बड़े' दैनिकों में बेचैनी फैल गई। इनमें से एक का जयपुर संस्करण निकला।

अहमदाबाद और जयपुर में बाहर के 'बड़े' दैनिकों के उदय के पीछे कारण नितान्त आर्थिक है। जब तक इन नगरों से अंग्रेजी दैनिक नहीं निकले थे, क्रमशः गुजरात और

बम्बई और दिल्ली से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिकों के के अग थे उनको इन

राज्यों के पाठक प्राप्त थे और, उस आधार पर गुजरात और क हिस्से के विज्ञापन

भी मिलते रहते थे। जो और लाभ हो सकते हैं, वे भी बम्बई और दिल्ली के दैनिकों को ही मिलते रहते थे। जो बम्बई और दिल्ली के दैनिकों के सम्पादक, संवाददाता और पत्र-संचालक हैं, उनका आदर भी अधिक होता रहता था।

पहले अहमदाबाद से, बाद में जयपुर से अंग्रेजी का दैनिक निकलते ही यह सारा का सारा जमा-जमाया साम्राज्य टूटने लगा। विशेष चिन्ता बम्बई और दिल्ली के दैनिकों को उनकी विज्ञापन-आय पर आघात होने से हुई। जो गुजरात और राजस्थान के हिस्से के विज्ञापन थे, वे क्रमशः अहमदाबाद और जयपुर के दैनिकों को दिए जाने लगे। और, पाठक-समूह पर अपना आधिपत्य बना रहना सिद्ध करने के वास्ते, उनके लिए अनिवार्य हो गया स्थानीय संस्करण निकालना।

इस सीधी और स्पष्ट आर्थिक आवश्यकता को रूप तरह-तरह के दिए जाते है, लुभावना बनाकर विभिन्न वर्गों को आकर्षित किया जाता है। उधर, जो पहले से स्थापित स्थानीय दैनिक होते हैं, उन्हें अनिवार्य रूप से कई तरह की हानि होने लगती है।

यह दर्दनाक और दयनीय वास्तविकता है कि अंग्रेजी के दैनिकों के अलग से पाठक और विज्ञापनदाता हैं—पाठक हैं, इसलिए विज्ञापनदाता हैं। पाठक कम हैं, और कम होते जा रहे हैं। तुलनात्मक दृष्टि से, इससे अंग्रेजी दैनिकों की लोकप्रियता, प्रतिष्ठा, आय और प्रभाव कम नहीं होता, क्योंकि उनका पाठक--समूह अधिक सम्पन्न, सत्तावान और अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत प्रेमी बना हुआ है। वह भारत में रहकर, उसमें से कमा-खाकर, गाने अंग्रेजों और अमेरिकावालों के ही गाता है। उसकी दुर्बलता देश के अंग्रेजी दैनिकों का संबल बन गई है।

एक बात यह भी है कि जो समाचारपत्रों का संचालन करते हैं, वे कहीं के भी हो, चाहे अहमदाबाद और जयपुर के ही, अनुभव निरन्तर यह रहा है कि वे अधिक ध्यान अपने अंग्रेजी प्रकाशनों की ओर देते हैं। बहुत दिन हुए, दिल्ली में एक विदेशी पत्रकार समूह आया था। उसके नेता ने जब एक ऐसे दैनिक का कार्यालय और मुद्रण-प्रबन्ध देखा, जहाँ से अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में समाचारपत्र निकलते हैं, तब उसने पत्र-संचालको से कहा कि शीघ्र समय आएगा जब उन्हें हिन्दी दैनिक के लिए ज्यादा बड़ी मशीनें लगानी पड़ेगी। देश को स्वतन्त्र हुए तब ज्यादा दिन नहीं हुए थे। यह स्थिति हो गई है कि सब मिलाकर अब अंग्रेजी दैनिकों से हिन्दी दैनिक अधिक बिकते हैं, लेकिन पत्र-संचालको ने इस नवीनता और वास्तविकता के अनुरूप अपना व्यवहार और दृष्टिकोण नहीं बदला है।

इसमें दोष उतना ही इन प्रतिष्ठानों में लगे पत्रकारों तथा अन्य कर्मचारियों का भी है। वे भी निरन्तर हीनता की भावना से ग्रस्त रहते हैं। जिस दैनिक की ऊपर चर्चा आई, उसके कार्यालय से प्रकाशित एक बहुप्रचलित हिन्दी पत्रिका के प्रधान सम्पादक अपना परिचय, स्वयं आगे होकर, उस समूह के अंग्रेजी दैनिक से अपने को सम्बद्ध बताकर ही देते थे। अंग्रेजी में उनकी पत्रिका के लैटरहैड और विजिटिंग कार्ड हैं। इस समूह में सब तरह के सम्मान अभी भी अंग्रेजी के सम्पादकों और संवाददाताओं का है। होगा जरूर होगा अगर हिन्दी के और स्वय का अनुभव नहीं करेंगे

लेकिन दिन-प्रतिदिन की वास्तविकताएँ आत्माभिमान उभरने नहीं देतीं। कम बिकने पर भी, अंग्रेजी के दैनिक का, उसके संगठन के भीतर और बाहर, अधिक आदर है तो कैसे हिन्दी से सम्बद्ध अधिक आत्माभिमान अनुभव कर सकते हैं!

इसमें से निकलने का जो मार्ग है, वह कठिन है। परिणाम को पहले लें। जो सामान्य पाठक हैं, वे अभी भी इससे परेशान हैं कि मूल्य में समानता ले आने के उपरान्त भी अंग्रेजी दैनिकों में हिन्दी दैनिकों से पृष्ठ ही अधिक नहीं होते, उनके समाचारों, लेखों, सम्पादकीय, अन्य सामग्रियों में व्यापकता, विविधता, विशुद्धता, सम्पूर्णता, प्रामाणिकता अधिक होती है। बहुत-से पाठक जिनमें हिन्दी के धुरन्धर विद्वान और हिन्दी के उग्र आन्दोलनकर्त्ता भी शामिल हैं, अपने पढ़ने के लिए पहले अंग्रेजी दैनिक प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस स्थिति के एक सीमा तक वास्तविक कारण हैं। अनुपात में आय अंग्रेजी दैनिकों से अभी भी अधिक होती है, उनका प्रभाव अधिक पड़ता है। जो अंग्रेजी दैनिक निकालते हैं, उनमे से अधिकांश अन्य अनेक व्यापारों-उद्योगों से जुड़े हुए हैं। उनके लिए 'प्रभाव' का प्राथमिक महत्त्व है, वही प्रमुख तत्त्व है जो उन्हें पत्रकारिता में लाया है। इसलिए वे अपने अंग्रेजी प्रकाशनों पर, जिनकी पाठक संख्या कम होने पर भी प्रभाव-प्रक्रिया कम नहीं होती, अधिक ध्यान देते हैं, उन पर अधिक व्यय करते हैं और उनसे जुड़े सम्पादकों-संवाददाताओं की अधिक सुनते हैं।

जहाँ-जहाँ से स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी के भी दैनिक, साप्ताहिक निकलते हैं, वहाँ सब कहीं पर संघर्ष है, लेकिन हिन्दी-भाषी प्रदेशों में अधिक। हिन्दी की गति, उसके राष्ट्रभाषा होते हुए भी उसका प्रसार और प्रभाव शेष अनेक भारतीय भाषाओं की तुलना में कहीं कम है। गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा, असम तक में, स्थानीय भाषाओं का उस तरह का निरादर नहीं है, जैसा हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी का हो रहा है। इस स्थिति को सुधारे बिना हिन्दी से सम्बद्ध कुछ भी नहीं सुधारा, उठाया जा सकता।

स्थानीय समाचारपत्र स्थानीय भाषा में हो—यही स्वाभाविक लगता है। इसके विपरीत विदेशी भाषा अंग्रेजी के समाचारपत्रों को प्राबल्य प्राप्त होता रहे, यह प्राथमिक रूप से राष्ट्रीय सम्मान की समस्या है। हिन्दी के अतिरिक्त जो अन्य भाषाओं के प्रदेश हैं, विशेषतः ऐसे जहाँ से पहले से अंग्रेजी दैनिक कम निकलते रहे हैं, वहाँ स्थानीय भाषाओं और उनकी पत्र-पत्रिकाओं का ही अधिक आदर एवं प्रसार है।

बंगाल इसका अपवाद है, जहाँ से प्रकाशित एक बंगला दैनिक अकेला-अकेला देश में सबसे अधिक बिकने वाला दैनिक बना हुआ है। बंगाल की राष्ट्रीयता, और वहाँ के लोगो का अपनी संस्कृति से लगाव—दोनों धाराएँ साथ-साथ उस प्रदेश में प्रबल रही हैं। वहाँ अंग्रेजी दैनिक उठे और बढ़े, लेकिन वे बंगला दैनिकों का बढ़ाव रोक नहीं सके। आज स्थिति यह है कि बंगला की पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें अंग्रेजी प्रकाशनों से कहीं आगे हैं। बंगाल भी कितनी तरह से आगे है, आगे रहा है।

मद्रास में यह बात नहीं है वहाँ का अकेला अंग्रेजी दैनिक हिन्दू सारे दक्षिण क्षेत्र पर छाया हुआ है 'हिन्दू देश के अन्य भागों में भी बहुत पढ़ा जाता है और देश के बाहर

भारत का सर्वाधिक प्रतिनिधि-स्वर माना जाता है। स्थानीयता के प्रति आग्रह, और व्यावहारिकता के कारण, अंग्रेजी के उपयोग में पारंगता ने मिलकर यह स्थिति 'हिन्दू' को दी है। साथ-साथ यह बात है कि सम्पादन और मुद्रण-तकनीक में वह देश के समस्त समाचारपत्रों में सबसे आगे है। इस पर यह बात और है कि इतना अधिक स्थानीयता का प्रतिनिधित्व कोई दूसरा दैनिक नहीं करता—बड़े आग्रह और बड़ी चेष्टा से यह किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय और स्थानीय समाचार साथ-साथ 'हिन्दू' में महत्त्व प्राप्त करते हैं।

चण्डीगढ़ का 'ट्रिब्यून' अपनी तरह का दूसरा उदाहरण है, जो सामग्री, दृष्टिकोण, स्थानीयता और प्रबन्ध-कुशलता के कारण दिल्ली के दैनिकों की प्रबल प्रतिद्वन्द्विता में अपने पैर जमाए हुए है।

मद्रासी चाहे जहाँ होगा, 'हिन्दू' पढ़ना चाहेगा। पंजाबी चाहे जहाँ होगा, 'ट्रिब्यून' पढना चाहेगा। समझा यह जाना चाहिए कि यह उतनी भाषा की बात नहीं है—इन दोनों दैनिकों ने इतना स्थानीयता और स्थानीय संस्कृति से अपने को ओत-प्रोत कर रखा है कि ये विकल्पविहीन बन गए हैं। अपने प्रति इस तरह का आग्रह दूसरे दैनिक नहीं उत्पन्न कर पाए हैं। उनकी सफलता जो तत्त्व सामने लाती है, वे ध्यानपूर्वक अध्ययन के विषय हैं।

इसमें स्थानीयता और स्थानीय संस्कृति से लगाव सबसे प्रमुख हैं—सम्पादन एव प्रबन्ध के उच्च स्तर के साथ-साथ। ये चार पाए हैं, जिन पर समाचारपत्र सुदृढ़ होता है, ये चार पहिए हैं, जिन पर समाचारपत्र आगे बढ़ता है।

सारे संसार में, और भारत में भी बहुत जगह, यह अनुभव है कि 'बड़े' समाचारपत्र छोटों का गला नहीं घोट पाए हैं। छोटों को छोटापन छोड़ना पड़ता है। बड़े हौसले से काम करना होता है। साथ-साथ उन्हें स्थानीयता से अधिक जुड़ना पड़ता है। ब्रिटेन में स्थानीय समाचारपत्रों की पुरानी परम्परा है, और अमेरिका में स्थानीय समाचारपत्र निरन्तर उन्नति कर रहे हैं, परन्तु सोते-सोते समाचारपत्र चलाने का जमाना अब नहीं रहा है, न अब फिर से कभी आने वाला है। स्थानीयता का व्यापक और विशद प्रतिनिधित्व, और उसमें स्तर तथा चरित्र की उच्चता से ही रास्ते के बढ़ते हुए काँटों की पीड़ा को कम किया जा सकेगा।

❑

नए सूर्योदय के लिए पत्रकारिता और साहित्य का सहयोग

साहित्य और पत्रकारिता पर विचार साहित्य के सन्दर्भ अथवा साहित्य पर कृपा की दृष्टि से नहीं, इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि पत्रकारिता की इस समय की सबसे प्रमुख समस्या और कठिनाई क्या है, और उसको सुलझाने में साहित्य क्या सहायता पत्रकारिता की कर सकता है, और कर रहा है।

इस समय के साहित्य पर जब विचार होगा, बहुत कम सम्भावना इस बात की है कि समाचारपत्रों और पत्र-पत्रिकाओं की ढूँढ हो, सिवा इसके कि स्थापित और सुप्रसिद्ध साहित्यकारों ने जो कुछ पत्र-पत्रिकाओं में और दैनिकों में भी लिखा, उसे संकलित किया जाए। समाचार और सम्पादकीय जो लिखे जा रहे हैं, उन्हें न इस समय साहित्य स्वीकार किया जा रहा है, न आगे इसकी सम्भावना है।

पहले इतनी शून्यता साहित्य की पत्रकारिता में नहीं थी, तब जो अपने समय के सुप्रसिद्ध और वास्तव में पांडित्यपूर्ण साहित्यकार थे, वे ही पत्र-पत्रिकाएँ चलाते थे। वह समय था, जब साहित्य और पत्रकारिता दोनों परतन्त्रता की बेड़ियाँ काटने में लगे थे। यह जो किसी को काटने में पैनापन आता है, वही उस समय के साहित्य को और पत्रकारिता को मिला हुआ था, जब हमारे देश का स्वतन्त्रता संग्राम चल रहा था।

यह केवल भारत की विशेषता नहीं है, संसार में जहाँ अस्तित्व, अभिव्यक्ति, अस्मिता और अधिकारों के लिए संघर्ष हुआ है—पत्रकारिता और साहित्य—दोनों ने संघर्ष किया है, ऐसा कि उन्होंने अपने आपसी अन्तर को इतना आत्मसात् कर लिया कि जो साहित्य था वह पत्रकारिता भी हो गई और पत्रकारिता ने साहित्य के कथन को संघर्ष का शस्त्र बनाया।

भारत में मौलाना अबुल कलाम आजाद, महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू और अनगिनत हर भाषा के राजनेता हुए, जिनके अग्रज थे 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' का मन्त्र देने वाले लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, जिनमें जितनी पत्रकारिता की शक्ति थी, उतनी ही साहित्य-रचना की और समय की चुनौती के उत्तर में उनसे जो लिखा गया, वह शाश्वत साहित्य भी हो गया और वही उस समय की सबसे तीक्ष्ण, मारक और सफल पत्रकारिता भी थी।

स्वयं महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद और आचार्य नरेन्द्र देव जैसे राजनेता इस बात के उदाहरण थे कि उनके लिखे में से एक शब्द भी काटना या बदलना कठिन रहता था और उसे जैसा का-वैसा साहित्य में भी समुपस्थित किया जा सकता है इसके पीछे अपनी या

आने वाली पीढ़ियों के लिए स्थायी साहित्य रचने की अभिलाषा नहीं थी, क्योंकि बाल गंगाधर तिलक के शब्दों को लें, ''भारत भूमि बाँझ नहीं हो गई है, जो समय आने पर समुचित साहित्यकार प्रस्तुत नहीं करेगी'', ऐसा मानने वालों की सारी कतार उन शस्त्रों को तैयार करने में और काम में लाने में लगी थी, जिससे भारत की परतन्त्रता का अन्त शीघ्रातिशीघ्र आए। उनकी आन्तरिक शक्ति ने, और उसके प्रकट स्वरूप ने, इन देशभक्त राजनेताओं से अनेक-अनेक प्रकार के कार्य कराए, जिनमें भाषण देना प्रमुख अंग था, जो समय के समाचारपत्रों की प्रमुख सामग्री बना, और जो उन्होंने स्वयं समाचारपत्रों और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखा और सम्पादकीय स्तम्भों में लिखा, उसमें से छाँटकर बहुत कुछ साहित्य के रूप में स्थान प्रदान करने योग्य है। इनमें गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे लोग थे, जिन्होंने जान देना सिखाया भी, और अपनी जान दी भी। इनमें अनेक ऐसे थे, जो अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए भी जेल भेजे जाते थे, और अपने सामयिक लेखन के लिए भी। जो साहित्यकार के रूप में अति अधिक आदर पाने के योग्य हैं, जैसे 'एक भारतीय आत्मा' माखन लाल चतुर्वेदी, उनमें से अनेक थे जो उतने ही समर्थ और सफल सम्पादक हुए। पूरी सूची ऐसे लोगों की तैयार करने के लिए सारे देश की परिक्रमा करनी होगी, क्योंकि हर भाषा ने अपने-अपने गणेश शंकर विद्यार्थी नहीं तो माखनलाल चतुर्वेदी तो दिए ही।

महात्मा गाँधी को जिस प्रकार अपने रचनात्मक और राजनीतिक कार्य के लिए ऐसे सहायक प्राप्त हुए जो अपनी-अपनी तरह दिग्गज थे, उसी प्रकार उनके सामयिक लेखन के अनुवाद के लिए उन्हें समर्पित साधक अनुवादक प्राप्त हुए, जिनमें तीन नाम विशिष्ट हैं—महादेव देसाई, वियोगी हरि और हरिभाऊ उपाध्याय। महादेव देसाई ने अपना सम्पूर्ण समर्पण गाँधीजी में इतना कर लिया था कि उन्होंने अपना किसी तरह का स्वतन्त्र अस्तित्व बनने ही नहीं दिया। वियोगी हरि को साहित्यकार के रूप में स्वतन्त्र सम्माननीय स्थान प्राप्त है और हरिभाऊ उपाध्याय अपने क्षेत्र के कांग्रेस के प्रान्तीय अध्यक्ष भी बने और मुख्यमन्त्री तथा वरिष्ठ मन्त्री भी। तीनों का उन दिनों के साप्ताहिकों में और पत्र-पत्रिकाओं में, दैनिकों में भी, ऐसा लिखा बहुत है, जिसमें से छाँटा जाए तो इतिहास और साहित्य में स्वीकार करने योग्य बहुत मिलेगा। यह समय था जब साहित्य और पत्रकारिता में अन्तर सुस्थापित नहीं था।

हिन्दी को तो उद्धार और निर्माण ही इस अवस्था से प्राप्त हुआ। जो खड़ी बोली कही जाती है, उसे खड़ा करने में उन्हीं साहित्यकारों का योगदान था जो मासिकों, साप्ताहिकों, दैनिकों में लेखन कर रहे थे। अपने समय में जितना सी.वाई. चिन्तामणि के बारे में कहा जाता था कि 'जो वे आज लिखते हैं, वही कल राजनेता सोचते हैं', वही-का-वही बाबू राव विष्णु पराड़कार के लिए भी कहा जाता था। हिन्दी को सुगढ़ता तो आरम्भिक सम्पादकों ने ही दी, जिनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी का सदा सर्वोच्च स्थान रहेगा।

पत्रकारिता में साहित्य का जो इस प्रकार का सन्दर्भ स्वतन्त्रता संग्राम के समय था वह प्राप्ति के बाद नहीं रहा है इसका एक ही और है कि

सभी कुछ जो भारत में है और हो रहा है, वह उस समय की साधना, शक्ति, चरित्र और परिशुद्धता से विहीन हो गया है—साहित्य भी, और पत्रकारिता भी। इसे ऐतिहासिक वास्तविकता मानकर जैसा-का-तैसा स्वीकार करना होगा।

साहित्य पर कृपा भी पत्रकारिता ने बहुत और बखूबी की है, जिसके उदाहरण के रूप में भी महावीर प्रसाद द्विवेदी का स्मरण श्रद्धा के साथ किया जाना चाहिए; जिन्होंने उनके समय में, और उनके बाद, नाम कमाया, उनमें से ज्यादातर को उन्होंने गढ़ा था। दूसरे, हिन्दी को साहित्य के लायक बनाने में बालकृष्ण भट्ट, लक्ष्मी नारायण गर्दे, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द जैसे सम्पादकों का सुयशकारी योगदान था। अब इन दोनों दिशाओं में पत्रकारिता का योगदान कम हो रहा है। हो यह रहा है कि जो, जैसा भी, साहित्यकार है, उसे समाचारपत्रों से काट लिया गया है, सिवा इसके कि एक तो यदा-कदा उनके बारे में प्रकाशित कर लिया जाता है, जब वे पुरस्कार या मृत्यु पाने पर 'समाचार' बनते हैं, दूसरे, जब अपनी ग्राहक संख्या बढ़ाने की होड़ होती है, कई साहित्यकारों की रचनाओं का उपयोग किया जाता है। अज्ञेय, रघुवीर सहाय और माचवे जैसे स्वयं सम्पादक भी बने, परन्तु उनके पत्र उनका मुकाबला करने वाले पत्रों की काट नहीं बन सके, उनसे आगे नहीं निकल सके। वैसे कुछ भारतीय भाषाओं में अभी भी ऐसे सम्पादक और पत्रकार हैं, जिनको साहित्यकार के रूप में प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा मिली हुई है, और हिन्दी में भी इसके लिए संघर्षरत साहित्यकार-पत्रकार हैं। इनमें से कुछ हैं जो पत्रकारों में भी आगे बैठते हैं और साहित्यकारों में भी, परन्तु उनको ले लें तो भी आजकल का पत्रकारिता का लेखन, अब उतना साहित्य में स्वीकार नहीं होगा।

साहित्य का उपयोग, कदाचित् बंगला से आरम्भ होकर, जो पत्रकारिता अपनी आर्थिक अभिवृद्धि के लिए कर रही है, वह यह है कि परिशिष्ट उसके सहयोग से सजाए जाते हैं और अधिकांश साप्ताहिक, और कुछ दैनिक, अपने हर एक अंक में ऐसी सामग्री देते हैं, जिसे हलका-फुलका साहित्य कहा जा सकता है। जो चोटी के साहित्यकार हैं, वे इन स्तम्भों में अपने को नहीं उतारते, यद्यपि बंगला की प्रतिष्ठा इसके विपरीत है। परन्तु जो साहित्यकार हैं, उनके आर्थिक अर्जन का पत्रकारिता ने, अपने उपयोग के लिए, अपने को अच्छा साधन बना लिया है और हिन्दी के भी चोटी के रचनाकारों की कविताएँ, कहानियाँ और निबन्ध साप्ताहिकों में, और कभी-कभी दैनिकों में भी, प्रकाशित होते हैं। यह साहित्य पर पत्रकारिता की 'कृपा' नहीं हुई, यह उसका साधन के रूप में उपयोग है, और साहित्यकार भी जो पत्र-पत्रिकाओं में लिखते हैं, उसे अपनी साधना के प्रसार का माध्यम नहीं मानते—इसके लिए अभी भी सबसे अधिक उपयोग पुस्तकों का ही होता है। जो बहुप्रसारित माध्यम आकाशवाणी और दूरदर्शन का आया है, उससे भी साहित्यकारों का वैसा जुड़ाव नहीं है, जैसा सुमित्रा नन्दन पंत, हरिवंश राय बच्चन, उदय शंकर भट्ट, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर, हंस कुमार तिवारी आदि के समय में था।

पत्रकारिता की इस समय की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसका प्रसार बढ़ रहा है और प्रभाव कम हो रहा है ऐसी स्थिति देश की के पहले नहीं थी उसके बाद

हो गई है, यह बताने के लिए ऊपर की बातें कही गईं। यह भी आ गया कि अपना प्रसार बढ़ाने के लिए, आज की पत्रकारिता यथा आवश्यकता साहित्य और साहित्यकारों का उपयोग कर रही है, अपना लेखक ही नहीं, अपना सम्पादक बनाकर भी, और समाचारपत्रों, साप्ताहिकों, मासिकों में लिखने वाले, उनका सम्पादन करने वाले साहित्यकारों में भी पहुँच लेते हैं। यह भी जितना है, उससे न पत्रकारिता की प्रामाणिकता बढ़ रही है, न प्रभावशीलता।

क्या यह मान लिया जाए, और इस पर सन्तोष कर लिया जाए कि प्रसार ही पत्रकारिता के लिए पर्याप्त है। एक ओर धनाढ्य-से-धनाढ्य परिवार पत्रकारिता में उतर रहे हैं, अनेक स्वयं सम्पन्न व्यक्ति सम्पादक बन रहे हैं, दूसरी ओर पत्रकारिता में वेतन और सुविधाएँ शीर्ष श्रेणी में आ रही हैं। जो संसारिक दृष्टि से अभिलषित हो सकता है, ख्याति भी, पत्रकारिता उसमें लगे लोगों को प्रदान कर रही है और राजनीति में स्थान बनाने मे भी सहायक हो रही है। पत्रकारिता में स्थान बना लेने वालों के लिए पत्रकारिता के बाहर भी ऊँचे वेतन के पद खुलते जा रहे हैं। और क्या चाहिए! ऐसा न मानने वाले पत्रकारों के लिए सम्मान भी समाज में मिल रहा है, पुरस्कार भी और उनके अस्वीकार की प्रतिष्ठा भी पत्रकारों ने अर्जित कर रखी है। व्यावसायिक श्रेणियों में पत्रकारिता ने प्रतिष्ठा का स्थान अपने लिए बना लिया है।

आयकरदाता, वेतनप्रदाता और दानदाता के रूप में अनेक पत्र-पत्रिकाओं और दैनिकों ने अपना स्थान अच्छा बना लिया है, और पाठकों की संख्या तथा विज्ञापनदाताओं की संख्या जो बढ़ रही है, वह कीर्ति, कीर्तिमान, आर्थिक अभिवृद्धि इतनी बढ़ा रही है कि प्रायः सभी पत्र-संचालकों की स्थिति सुधरी है, और कुछ अच्छे धनाढ्य हो गए हैं, उनके सिवा जो धनाढ्य होते हुए पत्रकारिता में आए हैं।

यह जीवन का मिशन हो सकता है, परन्तु पत्रकारिता का यह मिशन नहीं है। उन्नति और उसके लिए परिवर्तन का वह शस्त्र रही है, और उनकी संरक्षक जो सताए हुए, पीड़ा मे, अभाव में हैं। उनका सम्बल अपने को मानने का दम्भ अनेक पत्रकारों और सम्पादकों को इस समय भी है, परन्तु उनके लिए पत्रकारिता कुछ कर नहीं पा रही, क्योंकि अनाचार, अनौचित्य, अँधकार बढ़ता ही जा रहा है; अभाव है, असमानता है, अन्याय है, आधी आबादी निर्धनता में है, और पत्रकारिता भी है। इनका साथ-साथ सहअस्तित्व ही पत्रकारिता पर सीधा आरोप है। यह सब है, और पत्रकारिता है, यह जितना अवांछनीय है, उतना ही पत्रकारिता के प्रयोजन और 'धर्म' के विपरीत भी है। इसमें जो असफलता मिल रही है, पुण्य की जगह पाप पत्रकारिता द्वारा हो रहा है, उसी के कारण उसका प्रभाव, उसकी प्रतिष्ठा, उसकी सार्थकता कम हो रही है।

इस क्रम को उलटने में साहित्य सीधा भी, और परोक्ष भी, पत्रकारिता की सहायता कर सकता है। जो साहित्य अपने सुख के लिए लिखा जाता है, वह भी निष्प्रयोजन नहीं होता. और उससे कम सामयिक सेवा नहीं होती, जिसका तुलसीदास का 'रामचरित मानस' बहुत बड़ा ऐतिहासिक [illegible] है जिसमें उस समय लिखा गया था 'पराधीन सपनेहु

सुख नाहीं''—जब भारत देश अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए सबसे कठिन संघर्ष कर रहा था। इस सशक्त रचना के समानान्तर जो रामकथाएँ अन्य भाषाओं में लिखी गईं, उनका भी ऐसा ही योगदान रहा। समाज सुधार, समाज के बचाव और उसके पुनर्गठन में ही नहीं, समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा और स्वतन्त्रता का प्रमुख साधन भी उन साधकों की लिखी रामकथाएँ बनीं जो अपने को अपने सामने की परिस्थिति से संघर्ष में लगाए हुए थे। अन्य धार्मिक आख्यानों के भी उपयोग इसी प्रकार हुए। बंकिम चन्द्र और प्रेमचन्द का तो साक्षात् योगदान था ही। जो नितान्त रूप से समाज–सुधारक हुए—राजा राममोहन राय और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, और अनेक, देश के हर प्रदेश में, उन्होंने भी पत्रकारिता का परिणामकारी उपयोग किया। सब जानते हैं, समाज–सुधार का आन्दोलन ही हमारे यहाँ स्वतन्त्रता के संघर्ष में परिवर्धित हुआ।

वैसे सुधारक, साधक, संघर्षकारी क्या इस समय, और आगे के लिए इस देश के वास्ते आवश्यक नहीं हैं, और क्या यह भूमि 'वीर विहीन' या 'बाँझ' हो गई है! आवश्यकता है, इसीलिए उसकी सम्पूर्ति सम्भव है, और होगी, यह भी हमारे इतिहास–क्रम से सुस्थापित है, जिसे कृष्ण ने 'यदा-यदा' कहकर, सदा के लिए प्राणवान और प्रणवान बनाया है। पत्रकारों की श्रेणी में से भी ऐसे आ निकल सकते हैं, यद्यपि इसकी सम्भावना इसी समय की सांसारिकता ने कम कर रखी है। परन्तु पत्रकारिता को उसके उन्नत और राष्ट्रीय उद्देश्यो के लिए अपनाने वाले अवश्य अति अधिक संख्या में आगे आ सकते हैं।

आजकल की पत्रकारिता ने उनका अपने यहाँ प्रवेश, उनका विकास, उनका उत्थान, असम्भव बना रखा है। जो आर्थिकता से ग्रस्त पत्रकारिता में लगे हैं, उनके अलावा भी जो हैं, उन्होंने पत्रकारिता को सुस्थापित स्वार्थ और संगठन बना लिया है। इसीलिए मद्रास के 'दि हिन्दू' में सारे देश को चौंका देने वाला पारिवारिक संघर्ष हुआ। आजकल के सुस्थापित समाचारपत्रों से आशा अधिक नहीं की जा सकती, सिवा इसके कि जब उनमें अन्य–अन्य कारणों से गतिविधि और 'जाग्रति' होती है, उनकी ओर से आक्रमण की लहरें उठ लेती हैं, जो ज्वार के समान चढ़तीं और भाटा के समान उतर जाती हैं, सब कुछ यथावत्, जैसे बार–बार 'इण्डियन एक्सप्रेस' में।

दो और बातें भारतीय पत्रकारिता में होती हैं—अतिरेक और ब्लेकमेल। प्रेस कौंसिल के निर्णयों से और असंख्य अधिकारियों, राजनेताओं और सम्पन्न व्यक्तियों की साक्षियो से इसे बिना कठिनाई सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु इसे भी विचारणीय अथवा समर्थनीय नहीं माना जा सकता है, यद्यपि अनेक 'नवीन', उठती उम्र के 'पत्रकार' इस ओर आकृष्ट हो रहे हैं। यह आर्थिक अर्जन का निकृष्टतम उपाय है, और इसे 'पत्रकारिता' कतई नहीं माना जा सकता।

परन्तु जिस तरह के 'छोटे' पत्रकारों और पत्रों की यह चर्चा है, उससे ही पत्रकारिता का मिशन पूरा और मजबूत करने की आशा होती है। वे 'अनुचित' की जगह 'उचित' का मार्ग अपने लिए निर्धारित कर लें तो भी जिस ओर बढने का उनसे अनुरोध है उसमें

जीवनयापन के लिए आर्थिक अर्जन की भी सम्भावना है। परन्तु यहाँ माँग उनसे है, जो इतने लक्ष्य से भी अलग और ऊपर उठकर समय और समाज की सेवा में अपने को लगाना चाहे।

ऊपर जो देश की कठिनाइयाँ, उसके कष्ट और अभाव, गिनाए गए, उनसे देशवासियों को मुक्ति दिलाना क्या देश को विदेशियों से मुक्ति दिलाने से कम होता है—देश को एक और स्वतन्त्रता संग्राम की आवश्यकता है, इसे कई तरह से कहा ही जाता है।

इसमें पहले की तरह पत्रकारिता का योगदान हो ही नहीं रहा, और पत्रकारिता के सक्रिय, सतेज, सफल योगदान के बिना ये वांछनीय लक्ष्य प्राप्त हो नहीं सकेंगे। यही नहीं, यदि आज के अभावों और कष्टों को भावी हिंसक संघर्षों में बदलने से रोका जाना है तो पत्रकारिता ही सबसे कामयाब हो सकने वाला साधन है। लोकतन्त्र में किसी प्रकार के हिंसक संघर्ष का स्थान नहीं होता, परन्तु चारों ओर भारत में इस समय हिंसक संघर्ष हो रहे हैं। यह लोकतन्त्र की विफलता के साथ-साथ इस समय की पत्रकारिता की भी विफलता है, और उलटकर, लोकतन्त्र और उसमें सीजवता से सक्रिय पत्रकारिता ही अनिवार्य परिवर्तनो का सुफल भारत राष्ट्र को प्रदान कर सकती है।

परन्तु इसके लिए पत्रकारों और पत्रों को अपनी सामर्थ्य बदलनी और बढ़ानी होगी, जिसमें साहित्य और साहित्यकारों का वैसा ही योगदान आवश्यक है, जैसा स्वतन्त्रता संग्राम के समय में था। जो श्रेष्ठतम चिन्तन और लेखन, साध और साधना है, वह जितनी साहित्य में है, वह सबकी सब, और उसके बाहर की भी, जिस तरह पहले लगी हुई थी, उतनी की उतनी नए स्वतन्त्रता संग्राम के वास्ते आवश्यक है। साहित्यकार इसके लिए आगे आएँ, स्वय पत्रकार बनें और पत्रकारों का सहयोग लें, और पत्रकारों का हाथ बटाएँ, तभी सामर्थ्य इतनी बनेगी जो वर्तमान एवं भावी कंटकों और कष्टों की काट करेगी। इसके लिए जो छोटे और सहकारी समाचारपत्रों, पत्र-पत्रिकाओं की उपयोगिता है, उसे सम्भव और शस्त्र बनाया जा सकता है।

वर्तमान समाचारपत्र और पत्र-पत्रिकाएँ न यह काम कर रहे हैं, न कर पाएंगे, यह होते हुए भी, इसकी आवश्यकता है कि उनके लेखन और सम्पादन में सुधार और उन्नयन हो। वर्तमान पत्रकारिता जो योगदान दे रही है, और इससे भी अधिक दे सकती है, उसके सबल और प्रभावी होने में बड़ी बाधा यह है कि शैली एवं भाषागत स्पष्टता, तीक्ष्णता और प्रभावशीलता तथा सुगढ़ता और शुद्धता आज की पत्रकारिता में नहीं रही है। तुच्छता, स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचारिता जो अपने अन्य व्यवहारों में उसने अपना ली है, उसका उपयोग वह भाषा की गिरावट में अपने योगदान के प्रति बिना सावचेत रहे अपने लेखन और सम्पादन में कर रही है। जो कुछ, जैसे भी, आज के पत्र हैं, उनमें जो लिखा जा रहा है, उसका स्वरूप और स्तर उन्नत होने से कुछ-कुछ विडम्बना से वे अपने को बचा सकेंगे कि उनका प्रसार बढ़ रहा है, उनका प्रभाव कम हो रहा है। वर्तनी की सामर्थ्य और शब्दों की शक्ति होती है। इसके सम्मिलित, कौशलयुक्त और परिशुद्ध प्रवाह से ही संवेदना का प्रसार होता है इसे साहित्य स्थायी रूप से गतिशील रखता है तो इसी को हर क्षण वेगवान रखने

का दायित्व पत्रकारिता उठाती है। बिना अपनी आन्तरिक शक्ति के अभिव्यक्ति प्रभावी नहीं होती, परन्तु अगर उसके साथ भाषा का कौशल नहीं होता तो भी उसकी सामर्थ्य क्षीण होती है—आज इन दोनों दोषों से भारतीय पत्रकारिता आक्रान्त है।

आज की हिन्दी की पत्रकारिता पर यह आरोप है कि उसने विशुद्धता, एकरूपता, परम्परा, व्याकरण का हनन कर रखा है। दूसरी ओर, उसमें वह व्यंजना और अलंकरण नहीं दीखता जो पिछले समय में साहित्यकार उसे दिए हुए थे। खेल-खिलवाड़ कुछ-कुछ सन्तुलित जीवन में भी आनन्द देता है, और उत्फुल्लता आती ही है सामान्यता के अतिक्रमण से। भाषा के साथ जब-जब ऐसा किया गया है, हर देश और स्थिति में, इसका विरोध हुआ है, हिन्दी की आरम्भिक अवस्था में भी ऐसा हुआ था। ये दोनों साथ-साथ बनी रहने वाली वांछनाएँ हैं—स्वच्छन्दता भी एक मात्रा में रहनी चाहिए और उसके नियन्त्रण का प्रयत्न भी। परन्तु दोनों को एक सीमा में, एक मात्रा में रहना होगा, और नव-निर्माण और उसका प्रतिकार उन परिस्थितियों में ही हो सकेगा, जिनमें सामान्यतः परिशुद्धता के लिए आग्रह और उसका निर्वहन और नियमन है। इसमें विरोधाभास नहीं, सुदृढ़ आधार पर भावी विकास का दिशा-दर्शन है।

जो अपने को साहित्य का, भाषा का, संरक्षक मानते हैं, उनके अपने-अपने घरो-घरौदों से चिल्लाने से कुछ नहीं होगा। जो कविता लिख सकते हैं, कहानियाँ लिख सकते हैं, वे उतनी ही कुशलतापूर्वक सामयिक समस्याओं पर नहीं लिख सकते—इस भ्रम और क्षीणता को साहित्यकारों को भी छोड़ना होगा, और सम्पादकों को भी। विदेशों में ऐसे परीक्षण हुए हैं कि युद्ध जैसे विशेष अवसरों पर विशुद्ध साहित्यकार विवरण के लिए नियोजित किए गए हैं। यहाँ अनुरोध यह है कि भारत की दशा, और दिशा भी, इतनी बिगड़ती जा रही है कि जो अस्तित्व, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र का संकट सब कुछ के लिए आया हुआ है, उससे जब साहित्यकार परे नहीं हैं तो उन्हें इसे रोकने के प्रयत्नों से भी अपने को परे नहीं रखना चाहिए, और, जो पत्र-पत्रिकाएँ और समाचारपत्र, प्रतिष्ठित लेखकों के सामयिक लेखन का स्वागत और संयोजन करेंगे, वे वैसे ही अपना स्तर उन्नत करेंगे और अपने स्तम्भों को ऐसा उदाहरण बनाएंगे कि पत्रकारिता की भी सामर्थ्य बढ़ेगी।

सेवा के साथ साधना का सुयोग आवश्यक है, पत्रकारिता के लिए। अच्छे साहित्य मे वह पहले से होता है। दोनों के सुयोग से अवश्य आज के अँधकार में नया सूर्योदय हो सकता है।

❑

पत्रकारिता और साहित्य से सम्बद्ध सामयिक प्रश्न

राजस्थान साहित्य अकादमी ने अपनी वार्षिक व्याख्यान आयोजना में मेरा आह्वान करके साहित्य से पत्रकारिता के सम्बन्ध के प्रश्न को स्वयं आमन्त्रित किया था। मैंने 1981 मे गद्य की विधा का अकादमी पुरस्कार अपने 'कश्मीर चित्रण' में प्रस्तुत शब्दचित्रों के लिए प्राप्त किया था, परन्तु मैं जानता था कि साहित्यकारों की सामान्य सूची में मुझे शामिल नहीं किया जाता, न 'कश्मीर चित्रण' का प्रणयन साहित्य में प्रवेश करने के लिए किया गया था। पत्रकार में जो अज्ञात के प्रति असाधारण जिज्ञासा, अज्ञात से अधिक-से-अधिक को अवगत करने की उत्कंठ अभिलाषा, और ऐसा करने को निरन्तर अतृप्त और हो सकता है इस कारण सदा अपूर्ण, सतत जाग्रत कर्त्तव्य-बोध होता है, उसकी ही परिणति इन शब्द-चित्रों में हुई थी।

साहित्य, चित्र और पत्रकारिता में एकसूत्रता सत्य की है। जो है, उससे अलग प्रस्तुति को चित्र नहीं माना जा सकता, चाहे जितना कला का परिधान उसने ओढ़ रखा हो। अब तो कैमरे में क्षमता असत्य को सत्य सिद्ध करने की भी हो गई है और इसलिए सत्य असत्य मे छाँट करने का संकट भी बढ़ा है और पत्रकारिता की अन्य विधाओं ने भी अपने को इस संकट में डुबो रखा है लेकिन जो पत्र होता है, चित्र होता है, उसकी प्रतिष्ठा इसी से निर्मित होती है कि वह सत्य को कितना आभासित करता है। साहित्य में स्वतः सत्य समाहित है, और उससे हटकर, जिसमें सत्य को प्रतिष्ठित करने और उसे शिव और सुन्दर से अनुप्राणित रखने का दायित्व भी उतना ही आता है, साहित्य अपना क्या बनाता है, इसका उल्था मैं साहित्यकारों के सामने नहीं करना चाहूँगा।

मेरा तो मानना है कि रचना कोई हो, वह सत्य से परिपूरित होनी चाहिए। जो मुझे दिखाई दिया, उसे मैंने जहाँ-का-तहाँ उसी दिन अपनी सामर्थ्य के अनुसार अंकित कर दिया। इसी से 'कश्मीर चित्रण' बना है। यह पत्रकारिता का प्राथमिक दायित्व होता है। यह साहित्य हो गया, यह बाद का आकलन है। मैं इससे यह निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि पत्रकारिता में जितना सत्य और उसे प्रस्तुत करने की क्षमता होगी, उतनी ही वह साहित्य नहीं तो साहित्य के निकट होगी।

मैं जिस समय में आपको ले जाना चाह रहा हूँ, उस समय का सबसे बड़ा सत्य यह था कि भारतवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व समर्पण के भाव और चेष्टाओं से संग्राम कर रहे थे और साथ-साथ ऐसे भी थे जो उनका साथ दे रहे थे जो भारत को परतन्त्र बनाए रखने के लिए षड्यन्त्र और कर रहे थे जो लेखन चाहे साहित्य का हो या

पत्रकारिता का, स्वतन्त्रता संग्राम का सहभागी बना, वही स्मरणीय रह गया है, जो इसकी चेतावनी सभी रचनाकारों को देता है कि सत्य और स्वतन्त्रता से जो विपथ है या जो होता है, वह अन्तत: नहीं रहता।

यह भी इन्हीं परिस्थितियों का परिणाम था कि उस समय के साहित्यकार और पत्रकार एक साथ स्वतन्त्रता की कामना से इतने आबद्ध थे कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक बने रहे। हिन्दी साहित्य का आरम्भिक निर्माण पत्रकारिता के स्तम्भों में हुआ है। विद्वान् मानते हैं कि हिन्दी गद्य का विकास पत्रकारों के गद्य के बिना असम्भव था। उनका ही कहना है कि साहित्यिक कृतियों में सम्प्रेषण की समस्या के समाधान के लिए रचनाकारों को पत्रकारिता का ज्ञान होना चाहिए। उस समय जो साहित्यकार थे या साहित्य में उत्कृष्टता के मानदण्ड स्थापित करने में समर्थ थे, उनके लिए पत्रकारिता स्वतन्त्रता संग्राम का एक आयुध बनी और दोनों की शक्तियों ने मिलकर उस समय के समाचारपत्रों को संहारक बना दिया—इसे स्वीकार किया जाना चाहिए कि उस समय के समाचारपत्रों ने एक ओर स्वतन्त्रता संग्राम को सबलता दी, दूसरी ओर साहित्य को स्वरूप दिया।

उन दिनों की पत्रकारिता आधुनिक समय में कई प्रकार के अन्तरों से सामने आ रही है लेकिन इस पर भी मेरा कहना यह है कि इस मूल तथ्य में अन्तर नहीं आया है कि साहित्य और सत्य से पत्रकारिता जितनी विलग होती जा रही है, उतना ही उसका प्रभाव, उसकी प्रतिष्ठा और उसकी प्रतिबद्धता घट रही है। थोथे ढ़ोल की तरह उसके स्वर ज्यादा और ज्यादा दूर तक गूँजने लगे हैं लेकिन ढ़ोलों पर समाज, संस्कृतियाँ, सभ्यताएँ और स्वतन्त्रताएँ कभी नहीं उठा करतीं। पत्रकारिता थी, इसलिए परतन्त्रता विलुप्त हो गई। आज पत्रकारिता है, परन्तु स्वतन्त्रता पथभ्रष्ट हो गई है।

विधा की दृष्टि से देखें तो भी साहित्य से पत्रकारिता इसलिए दूर होती गई है, चूँकि उसने अपने को केवल दैनिकों के सुपुर्द कर दिया है। जिन दिनों हम स्वतन्त्रता संग्राम कर रहे थे, उन दिनों दैनिकों के अतिरिक्त, साप्ताहिक थे, मासिक थे, त्रैमासिक थे और पुस्तकें थीं। सबके प्रचुर और प्रतिबद्ध पाठक थे, इतने कि कुछ समाचारपत्रों की यह प्रतिष्ठा बन गई थी कि जो वे आज लिखते हैं वही कल होता है। इसमें यह समझने की बात है कि दैनिकों मे सत्य और साहित्य पर्याप्त रूप से नहीं निभ सकता। इसीलिए इस समय साहित्यकारों और पत्रकारों की पृथक् -पृथक् पंक्तियाँ हो गई हैं। यह और बात है कि सत्य की खोज एवं प्रस्तुति के लिए न एक दिन पर्याप्त हो सकता है, न कोई भी दैनिक। क्रमागत जो अवधि साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक और पुस्तकों में अन्तर लाती है, उसकी आवश्यकता उतने ही क्रम से सत्य के अवलोकन के लिए भी आवश्यक होती है, फिर भी उसकी खोज समाप्त नहीं होती; इसलिए ये सब विधाएँ निरन्तरता प्राप्त किए हुए हैं। जितने विकसित देश हैं, उनमें आकाशीय पत्रकारिता की पराकाष्ठा हो जाने पर भी, दैनिकों के साथ साप्ताहिक, मासिक त्रैमासिक और पुस्तकें समान रूप से समर्थ हैं और हमारे यहाँ विकास के अवरुद्ध होने का, कोई आधी आबादी के के पचास सालों बाद भी दयनीय निर्धनता में

जीवनयापन के लिए विवश बने रहने का, एक कारण दैनिकों के अतिरिक्त अन्य विधाओं का विलोपन भी है।

दैनिक अतिविकसित देशों में भी अपनी सामर्थ्य की सीमा समझते हैं। जब अतिविशिष्टि अवसर आए हैं, जैसे युद्ध या नए राजा-रानी का अभिषेक, ब्रिटेन के कई समाचारपत्रों ने अपने देश के प्रतिष्ठित साहित्यकारों को विशेष आलेखन के लिए आमन्त्रित किया है। हमारे यहाँ तो स्थिति बहुत समय तक यही रही कि साहित्यकार ही दैनिक और साप्ताहिक चलाते थे। उनकी सम्माननीय और स्मरणीय पंक्ति है।

अजमेर में यह व्याख्यान हो रहा है,* इसीलिए नहीं, इसलिए भी इसका दायित्व आपने जिसे दिया है, उसका जन्म दो बार अजमेर में हुआ है, यहाँ की पत्रकारिता और साहित्य की परम्परा का कुछ अवलोकन अभीष्ट हो गया है। मैं दो नाम ले रहा हूँ—'त्यागभूमि' और 'राजस्थान', जिनमें से एक भी अब जीवित नहीं है, लेकिन इनके उल्लेख के बिना भारत की पत्रकारिता का इतिहास पूरा नहीं किया जा सकता और भारत के साहित्य को भी इनका प्रत्यक्ष और परोक्ष, मूल्यवान अवदान था—इतना कि 'त्यागभूमि' के सम्पादक आगे चलकर, राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित हुए, श्री हरिभाऊ उपाध्याय जिनके बारे में कहना कठिन है कि वे अधिक पत्रकार थे या अधिक साहित्यकार अथवा और अधिक स्वतन्त्रता सेनानी अथवा मुख्यमन्त्री-उपमुख्यमन्त्री बने प्रतिष्ठित राजनेता। 'राजस्थान' से निकले कई लोग साहित्य और पत्रकारिता और स्वतन्त्रता संग्राम मे दूर-दूर पहुँचे, लेकिन उनका स्मरण समुचित रूप से नहीं होता, सिवा इसके कि उनमे से सबसे कम सम्मान के योग्य का, आज आपने इस व्याख्यान के लिए आमन्त्रित करके आदर किया है।

'त्यागभूमि' और 'राजस्थान' मासिक और साप्ताहिक मात्र नहीं थे—उस समय की समस्त प्राण-शक्ति के संवाहक और स्वतन्त्रता के लिए प्रणबद्धता के लिए प्राण एवं प्रेरक थे। इनमें भी यह हुआ कि मासिक पहले बन्द हुआ, साप्ताहिक बाद में। इसलिए जिस प्रवाह या उसके अभाव का मैंने उल्लेख किया, उसका आरम्भ बहुत पहले हो चुका था। लेकिन 'त्यागभूमि' का अवसान उतना स्वाभाविक नहीं था; जो उसे निकालते थे, वे सब अधिक तात्कालिक दायित्वों को समर्पित हो गए या जबरदस्ती जेल में डालने के लिए हटा दिए गए। 'राजस्थान' ने स्वतन्त्रता संग्राम का साथ अन्त तक निभाया।

उसके अन्त के साथ, भारत में साप्ताहिकों का युग ही समाप्त हो गया। एक से दूसरे छोर तक नामी और ताकतवर साप्ताहिक थे, जिन्होंने अंग्रेज सत्ता को और उनकी सहायक शक्तियों को हिला रखा था। वह आज इतिहास की बात हो गई है, लेकिन यह समस्या और ज्यादा उभरी है कि सम्पन्नता और सफलता का क्या सम्बन्ध है।

* साहित्य अकादमी की ओर से दे [illegible] अन्तत उदयपुर में 27 28 मार्च [illegible]997 को आयोजित हुए थे

उन दिनों की पत्रकारिता की, और साहित्य की भी, सामान्य स्थिति निर्धनता की थी। उसकी अनेक वास्तविकताओं से आश्चर्य और आदर्श और आदर के कीर्तिमान बने हैं। उनमे प्राणशक्ति और प्रभावशक्ति पराकाष्ठा की थी। आज की पत्रकारिता ने और साहित्य के एक अश ने भी सम्पन्नता से अपने को सजा रखा है। दैनिक दिन दूने, रात चौगुने बढ़ रहे हैं, जो इस तरह भी देखा जाना चाहिए कि आकाशीय पत्रकारिता जिसे मैंने कहा, उसका प्राबल्य उन्हे परास्त नहीं कर पा रहा है। सारे संसार में, विकसिततम देशों में भी, यही स्थिति है, सिवा इसके कि जो सचमुच विकसित हैं, उनमें पत्रकारिता और साहित्य की सभी विधाएँ साथ-साथ सशक्त और सुसंचारित हैं। 'यूनेस्को' को पुस्तक-विकास का जो आन्दोलन आरम्भ करना पड़ा है, वह दूषित दिशा का सूचक है, परन्तु विकास वास्तव में वहीं हो रहा है, जहाँ साहित्य और पत्रकारिता की सभी विधाएँ सबल हैं।

उनका उदाहरण आते ही, उन सबसे जुड़े रचनाकारों की सम्पन्नता का बखान होने लगता है। लेकिन अर्थ-अर्जन के जो अन्य माध्यम हैं, उनकी तुलना में विकसित देशो के पत्रकार और साहित्यकार भी सम्पन्नता का दम्भ नहीं भर सकते। उनकी वे जानें। हमें भारतीयता के इस अनुभव और आदर्श को समझना होगा कि प्रभाव और पूजन सम्पन्नता को नहीं, सेवा और त्याग को ही मिलता है। देश की स्वतन्त्रता के बाद इसकी आवश्यकता बढ़ी थी, जिसे अनुचित प्रतिस्पर्धा ने मंद और भ्रष्ट कर दिया। मंद और भ्रष्ट का अलग-अलग प्रयोग प्रयोजन से हुआ है। साहित्य की विवेचना का यहाँ समय नहीं है। पत्रकारिता अवश्य प्रभावशून्य और भ्रष्टाचार में आलिप्त हुई है।

प्रतिस्पर्धा उसने राजनेताओं से की है। इसका राजस्थान ही में क्रमागत आख्यान है। पहले अलग-अलग रियासतों में, फिर क्रमशः बने राजस्थान में जिन राजनेताओं ने मन्त्री-पद प्राप्त किए, उनके पहले के बराबरी के साथी पत्रकारों को कचोटन हुई कि उन्हें तो कुछ नहीं मिला। जिन नेताओं ने अधिकार-पद प्राप्त कर लिए थे, उनका गुणगान करके या उन्हें डराकर उन सम्पादकों और पत्रकारों ने सम्पन्नता के निकट पहुँचने का प्रयत्न किया जो देखते-देखते सम्पन्न बने राजनेताओं की धृष्टताओं और धनी होने के प्रदर्शनों को नहीं सह सके।

शुद्धता का संवरण पात्रता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। जहाँगीर का उदाहरण है, जिसके शराब के खिलाफ हुक्मनामे कारगर इसलिए नहीं हो सके, क्योंकि वह अपना शराब का शौक नहीं छोड़ सका। जहाँगीर की बात इसलिए आई, क्योंकि अजमेर की एक मामूली इमारत पर उसने लिखाया था—स्वर्ग यहीं है, यहीं है। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनो के लिए पुण्यभूमि और इतिहास की प्रभावी घटनास्थली होने के उपरान्त भी, चाहे अजमेर को स्वर्ग नहीं कहा जा सके, लेकिन स्वर्ग प्राप्ति के लिए उपदेश और उद्‌बोधन यहाँ बहुत हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। साहित्य और पत्रकारिता ही क्या, धर्म भी उस पतन को नहीं बचा सका है, जिससे हम सब इस समय बहुत चिन्तित हैं। साहित्य तो संस्कार तथा शुद्धता के लिए, सत्य-शिव-सुन्दर के लिए होता ही है, पत्रकारिता से भी जो कुछ इसके विपरीत और विरुद्ध है उसके शमन में सहायता की अपेक्षा की जाती है।

चोटी के राजनेता कारागारों और उनके निकट की अदालतों में पहुँच गए हैं। बहुत-से ऐसे पत्रकार और समाचारपत्र इसका श्रेय लेना चाहते हैं, जो कुछ समय पहले तक इनकी जय-जयकार किया करते थे। इसके व्यक्तिगत विवेचन को जाने दें, फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अपनी ज्ञात आय से अधिक सम्पन्न जीवनयापन और धन-संकलन का जो लाँछन राजनेताओं पर लगाया जा रहा है, उसके परीक्षण से पत्रकार और साहित्यकार भी अपने को बचा नहीं सकेंगे। ऐसे पत्रकार हैं, जो सत्ता के पास अपनी पहुँच को अतिरिक्त आय का साधन बना लेते हैं और पत्रकारों को प्राप्त ऐसे धन की खोजबीन शुरू हो गई है, जो उन्हें राजनेताओं के फेंके टुकड़ों में से प्राप्त हुआ है। भारतीय प्रेस परिषद बाकायदा इसकी जाँच कर रही है कि क्या अनुचित सुविधाएँ पत्रकारों को प्राप्त हो रही हैं और क्या मर्यादा इस बारे में निभाई जानी चाहिए।

विषयान्तर न माना जाए तो मैं निवेदन करना चाहूँगा कि राजस्थान के, और देश के सर्वाधिक अवधि तक जनसम्पर्क निदेशक के नाते मैंने कई दशक पहले यही अनुरोध देश के सम्पादकों के प्रमुख संगठन से किया था।

जो हो, मेरी बात यह है कि साहित्य के लिए भी, और पत्रकारिता के लिए भी, कि जो आप स्वयं नहीं करते, उसके लिए आपका उपदेश फलीभूत नहीं हो सकता। यह समस्या फिर हमें 'सत्य' के निकट ले आती है। इससे अनुप्राणित रहे बिना साहित्य और पत्रकारिता की प्रतिष्ठा और प्रभाव का निर्माण नहीं हो सकता।

❑

भाषा का सवाल

बात देश की स्वाधीनता के कोई दस साल पहले की है। इलाहाबाद में रहने के कारण, मैं वहाँ से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं से अवगत था, परन्तु बनारस और लाहौर के दैनिकों की जिस विशेषता का यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ, उसकी ओर इलाहाबाद में रहते ध्यान नहीं गया था।

बनारस और लाहौर में मेरे जिन सम्बन्धियों का निवास था, उनका उन दिनों भी हिन्दी साहित्य लेखन में ऊँचा नाम था—क्रमश: पण्डित विनोद शंकर व्यास और पण्डित उदय शंकार भट्ट। व्यास जी के यहाँ तो में जाकर ठहरा ही था, और आदरणीय भट्ट जी के यहाँ नहीं ठहरने पर भी, एक प्रकार से उन्हीं को सन्निकटता की अभिलाषा में लाहौर गया था, जो मुझे आत्मीयता की गहनता तक प्राप्त हुई। उनका, और उनके समय के दैनिको-मासिकों का विवरण भी अत्यन्त रोचक हो सकता है, लेकिन वह इस समय विचारणीय विषय नहीं है।

कुछ तो इलाहाबाद में दैनिकों से सम्पर्क के कारण, और बहुत करके बाबूराव विष्णु पराड़कर की प्रतिष्ठा के कारण, जितने दिन बनारस में रहना हुआ, मैंने प्रतिदिन 'आज' देखा। परन्तु जो मैं कहने जा रहा हूँ, उसकी ओर ध्यान लाहौर के हिन्दी दैनिकों को देखने से हुआ, जिनके सम्पादकों से उदय शंकर जी भट्ट की भाईचारे जैसी घनिष्ठता थी।

बनारस और लाहौर दोनों जगहों के हिन्दी दैनिकों का पाठक-वर्ग में अत्यधिक प्रवेश और प्रभाव था। 'आज' के बारे में कहा जाता था कि जो उसमें लिखा जाता है, वही उधर के स्वतन्त्रता समर्थक राजनेताओं के मस्तिष्क में होता है, 'आज' ही वास्तव में उनका प्रेरक और मार्गदर्शक था। लाहौर के हिन्दी दैनिकों का प्रवेश मुख्यत: परिवारों में, महिलाओं मे था, क्योंकि पुरुष-वर्ग का काम उर्दू दैनिकों के पढ़े बिना चल नहीं सकता था। इस प्रकार, लाहौर के दैनिकों का भी अपना प्रभाव था, परन्तु भिन्न प्रकार का।

जिस अन्तर की ओर मेरा अधिक ही ध्यान गया वह भाषा का था, जैसे दोनों नगरो के दैनिक दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ लिख रहे हों। 'आज' की भाषा संस्कृत के निकट थी, और लाहौर के दैनिकों को उर्दू के निकट। यह अन्तर दीखता था, परन्तु अन्दर से उसके बारे में अनुभव विभाजनकारी नहीं होता था। ध्यान में आता था उनका प्रभाव, उनका प्रवेश, उनकी सेवा और साधना जिससे, कई-कई सम्पादकों उप-सम्पादकों से परिचित हो जाने के कारण, मैं उन दिनों भी अवगत हो गया था। परन्तु, इस कारण, उन्होंने अपने पर त्याग का ऐसा आवरण नहीं ओढ़ रखा था, जो उन्हें शेष सबसे अधिक श्रद्धा देने को विवश करे। हँसी-खुशी और आनन्द का आदान-प्रदान उन सबके स्वभाव में इतना था कि उनके साथ बिताए

क्षण जीवट देने वाले हो जाते थे। उनकी प्रवीणता नहीं, उनकी स्नेहशीलता से मेरा मन अभी भी अधिक सिक्त है।

बात यह है कि संस्कृत और उर्दू के अधिक प्रभाव के कारण जो अन्तर भाषा के स्वरूप में हो गया था, वह इतिहास-निर्माण में उनके प्रभाव के, और उनकी लोकप्रियता के, रास्ते जरा भी नहीं आया था। यह अन्तर पूर्व-नियोजित नहीं था, इसीलिए स्वाभाविक तथा बिना बाधा के स्वीकार्य था, इसलिए था कि लाहौर में उर्दू का ही प्राबल्य था, और 'आज' नीची से नीची श्रेणी के अपने पाठकों को, रिक्शेवालों को भी, अपनी अभिव्यक्ति के स्तर पर ले आया था। भाषा की क्लिष्टता और विषय की दुरूहता उसके पाठकों की संख्या और उसके प्रभाव के उठने में, जरा भी बाधा नहीं थी।

कुछ तो लक्ष्य की बात थी, दोनों नगरों के दैनिक स्वाधीनता की लौ की ओर अपने पाठकों को ले जाने में लगे हुए थे। यह लौ उन दिनों कितनी धुँधली थी, यह आज के स्वाधीनता के आलोक में सरलता से अनुभव नहीं की जा सकेगी। प्रत्येक शब्द को, और हर विषय को, प्राणवान होना होता था, जो उनके रचनाकारों की सेवा और साधनों में से सृजित होता था। देने ही देने को उस समय राष्ट्रीय पत्रकारिता में था, और उसे समर्पित करने वालो के लिए आत्मसन्तुष्टि ही पुरस्कार थी। जो समाचारपत्रों, पत्र-पत्रिकाओं के रूप में प्राप्त होता था, वह उनका प्रसाद ही लगता था।

ऐसा आदर आज के लिखे का, लिखने वालों का और समाचारपत्रों का नहीं है, यही कदाचित पत्रों और पत्रकारों के सामने सबसे विकट समस्या है। परन्तु इसका अहसास सम्पादक और पत्रकार वर्ग में नहीं है। ये बुद्धिजीवी से श्रमजीवी हो गए हैं, जो कुछ उनके पास देने को है, उसका अधिकाधिक मूल्य अर्जित करने की चेष्टाएँ उनकी अन्य अनुभूतियाँ सुप्त करे रहती हैं। यह लांछन नहीं, समय की गति है, जिसमें बहना ही सरल होता है, और सामान्यत: सभी ने स्वीकार कर रखा है।

उस समय के पत्र और पत्रकारों की नियति यह थी कि जो कुछ सर्वाधिक स्थापित था देश में, ब्रिटिश शासन, उसी का का विरोध करने के लिए वे सिर पर कफन बाँधे रहते थे। ऐसे सृजनकारों के शब्द स्वत: तप:पूत हो जाते हैं। यह अनुभूति आज नहीं होती तो इसका मुख्य कारण यह है कि इस समय लक्ष्य नितान्त सीमित हो गया है—अपने को धनवान करो। ऐसी चेष्टा में शब्द की शक्ति स्वत: स्तर में गिर जाती है, और जितने समझौतो मे आज का पत्रकार जीता है, वे सबके सब उसकी रचना और शैली में उतर आते है। समझौता उठा नहीं सकता, जिस तरह स्वाधीनता-यज्ञ में आहुति देने का यत्न निरन्तर उच्चता की ओर प्रेरक बना रहता था।

भाषा की सरलता-सुगमता का आग्रह उन दिनों भी था, जैसे श्री सी. वाई. चिन्तामणि के इलाहाबाद से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' कार्यालय में निर्देश थे कि हाई स्कूल पास लोग पढ़ सकें, ऐसा ही लिखा जाए। लेकिन इस तरह का एहसास और हुक्म अंग्रेजी तक सीमित था। हिन्दी के पत्रकार का तादात्म्य इतना आपने पाठक के साथ था कि विषय और भाषा में वह वही लिखता था, जो पढ़ने वालों में चलता ही नहीं था, उनको चलाता, जगाता और उठाता था यह जो प्रेरणा पाठकों को मिलती थी उसके कारण वे उस सबको श्रद्धा से

स्वीकार करते थे जो समाचारपत्रों में आता था। भाषा ही में नहीं, 'आज' विषय, सामग्री और विचारों में भी बहुत ऊँचा उठा हुआ था, परन्तु इस कारण उसकी परमप्रियता में कभी कोई बाधा नहीं आई।

इससे सिद्ध होता है कि मुख्य बात विचार की, विषय तथा लक्ष्य की है। वह जितना पाठक के निकट होगा, उतना ही लेखन स्वीकार्य होगा। दो उदाहरण लें। क्रिकेट का खेल जब अधिक आकर्षक होता है, उसके वर्णन में उपयोग में आने वाले विशेष शब्द सबमे सरलता से चल जाते हैं। पिछले दिनों में शेयरों की खरीद-फरोक्त ज्यादा बढ़ी तो सट्टे में काम आने वाले शब्द खूब चलने लगे। और भी अधिक स्पष्टता से यह बात मद्रास के अग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' को देखकर अपने आप समझ में आती है। वह अपने पाठकों को इतना अपने निकट ले आया है कि अत्यन्त उच्चस्तरीय एवं विशिष्ट लेखन, उसकी अपनी अभिव्यक्तियों के साथ, उसके पाठकों में सहजता से स्वीकार होता है। इसे इससे ओर भी समझा जा सकता है कि दिल्ली के दैनिक उन विषयों को पचा नहीं सकते, और कलकत्ता के दैनिकों के परम प्रतिष्ठित होते हुए भी, उनके पास उतना शब्दकोष ही नहीं है। मद्रास की तुलना में दिल्ली और कलकत्ता के दैनिकों की पृष्ठ-संख्या ही देखी जा सकती है, उनकी विविधता में अन्तर अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

'हिन्दू' में वही विशेषता है, जो कभी 'आज' में थी। मद्रास का दैनिक जितना, आज भी, सेवा और साधना में लगा है, उसका सतांश भी अन्य दैनिकों में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी का परिणाम है कि आज जब संसार में भारत के अभिमत की खोज होती है, सबसे पहले 'हिन्दू' के सम्पादकीय को उद्धृत किया जाता है।

क्या यह स्थान और लक्ष्य प्राप्त करने योग्य नहीं है? इसकी जड़ में, भूलने की बात नहीं है, यह है कि 'हिन्दू' अपने क्षेत्र के सर्वाधिक स्थानों के समाचार देता है। इसीलिए उसके पाठक उससे जुड़े हैं। जो कुछ अन्य सब वह देता है, वह भी इसलिए है कि देशवासी सामान्य से सामान्य हो, स्वतंत्र, एकीकृत, लोकतंत्रात्मक, विकासशील देश होने के नाते, इतना सब सभी विज्ञ पाठकों की जानकारी में आना चाहिए।

इस दृष्टि से अंग्रेजी के अन्य दैनिक तो अधूरे हैं ही, हिन्दी के दैनिक तो कहीं ठहरते ही नहीं। इसके बाद आती है वह व्यग्रता जो देश की हानि किसी भी तरह की हो, उसकी ओर चिन्तित और सचेष्ट करती है। मैं नम्रतापूर्वक यह कहना चाहूँगा कि यह व्यग्रता भी हमारे दैनिकों में नहीं दीखती। जो इसमें अपवाद हैं, वे इस निवेदन को सबल ही करते हैं।

जब अभिव्यक्ति का यह हाल है, भाषा का हाल भिन्न प्रकार का नहीं हो सकता। उन दिनों के 'वीर अर्जुन' को ही लें, आग उसमें से निकलती थी। मौलाना आजाद के उर्दू अग्रलेखों को पढ़कर आज भी कम्पन और उत्तेजना होती है। अतएव भाषा से पहले, उसकी ओर ध्यान देना होगा, जो आज कहा जाता है, जो उसको लिखता है, और जो मतलब उसमे से अपने लिए निकालना चाहता है।

इस सबमें वह स्वाभाविकता नहीं है जो पाठकों की आवश्यकता की अनुभूति मे से अपने आप आती है। यह सीमा आ गई है शब्द की शक्ति पर। इसे पुन- प्राप्त उस सीढी से ही किया जा सकता है हम स्वय जितने पाठक के निकट होंगे चिन्तन और व्यग्रता में

उतना ही प्रभाव डालने वाला हमारा लेखन होगा। लेखन यदि रुपये मिलने के लिए है तो उसमें सामर्थ्य, शक्ति और प्रेरणा कैसे आएगी?

परन्तु यह सब कहकर भी वर्तमान पत्रकारिता की व्यवसायिकता को, उसकी अनिवार्यता को, दरगुजर नहीं किया जा सकता। जो स्थिति हो गई है, वह है। चूँकि स्थिति में समस्याएँ ही समस्याएँ हैं, इसलिए भाषा की भी इतनी समस्याएँ सामने हैं।

'जनसत्ता' ने भाषा और शैली का नया प्रयोग किया, और वह चल गया। इसलिए कि उसमें पाठक की जरूरतों को पहचान थी, भाषा ही में नहीं, विषयों में भी। विषय को भाषा से या भाषा को विषय से अलग नहीं किया जा सकता।

विज्ञान के विषयों को लेकर यह चला है कि सरलता-सुगमता से उच्चस्तरीय तथ्यों को भी जनसाधारण तक पहुँचाया जा सकता है। शैली और भाषा, इस तरह, अलग से उपकरण होती जा रही है। स्वाभाविकता से अधिक महत्त्व प्रवीणता को मिलने लगा है, वैसा लिखा जाए जो पाठक को पसन्द हो या सम्पादकों को स्वीकार हो।

सम्पादक का सवाल इसलिए आया कि अभी भी सम्पादक के बदलने से, कम सही, लेकिन बहुत बार, पत्र-पत्रिका का सब कुछ बदलता है, भाषा भी। यह जो लिखते हैं, उन्हें अवश्य सावधान करता है, कभी-कभी परिवर्तन के लिए विवश भी। जो, और जैसा, कुछ 'नवभारत टाइम्स' के लिए लिखा जा सकता है, वह 'जनसत्ता' में नहीं चलेगा, यद्यपि दिल्ली मे दोनों के दफ्तर करीब-करीब एक-दूसरे से सटे हुए हैं। अंग्रेजी का मासिक लें तो देखते-देखते यह 'डेबॅनेअॅर' में हुआ है।

अतएव शैली और भाषा भी अब उपकरण हो गई है, अभिव्यक्ति की आस्था से अलग। शैली और भाषा में भी अब उसी प्रकार अभिग्रहण आवश्यक हो गया है, जैसे नई प्रकार की मुद्रण प्रक्रिया और यंत्रों में। इसमें जो चिन्तनीय स्थिति है, उसके दो रूप हैं।

पहली बात शुद्धता की है। ऐसा विचार-मंच पहले भी था, और अब तो स्वच्छन्दता का बोलबाला है, जिसमें प्रतिपादित यह है कि भाषा लेखक की इच्छा के मातह होती है, जैसे चाहो लिखो। अगर स्वयं अपना लिखा पढ़ना हो तो भी शायद इससे काम नहीं चले, क्योंकि अपना लिखा नहीं समझने वाले बहुत होते हैं। परन्तु यह अक्षरों के स्वरूप तक सीमित बात है, संस्कार, परम्परा और व्याकरण की पकड़ के यह परे है।

संस्कार नए हों, आधुनिक हों, परम्परा परिष्कृत हों, पश्चिमी हो, और व्याकरण हो सके तो हो ही नहीं, हो तो उसे पढ़ना अनिवार्य नहीं हो, यह स्थिति, सोचने की बात यह है, क्या किसी भाषा का भविष्य बना सकती है। परम्परा और मर्यादा का विकास में अपना स्थान और प्रभाव होता है, और उसमें बदलाव वही ला सकता है, जो उसमें निष्णात हो। अभाव में से प्रभाव निर्मित नहीं हुआ करता।

साथ-साथ, देश की विशालता और पत्र-पत्रिकाओं के प्रादेशिक सीमाओं का अतिक्रमण करके प्रसार के कारण, यह समस्या आई है कि जो लिखा जाए, उसे उसी प्रकार समझा जाए। इसमें कम से कम पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता की बात आती है, और भाषा की शुद्धता तथा मानक स्वरूप की भी। यदि 'कलेक्टर' के बारे में कहा जाए तो ऐसा

शब्द होना चाहिए जिसका मतलब बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश ही में ही नहीं, तमिलनाडु, कर्नाटक, असम और कश्मीर में भी एक ही अर्थ लगाया जाए।

शुद्धता, एकरूपता और मानकरूपता की ओर हिन्दी में उतना ध्यान नहीं है, जितना उसके राष्ट्रीय स्वरूप के कारण होना चाहिए। सरलता से तो इसका इलाज सभी समाचारपत्र कार्यालयों में एक ही शब्दकोश को स्वीकार करने से हो सकता है। परन्तु स्थितियाँ नई से नई आती रहती हैं, पुरानी वस्तुएँ भी नितान्त नया स्वरूप लेती रहती हैं, नई आवश्यकताएँ उभरती रहती हैं। कोई न कोई प्रबन्ध और संस्थागत नियन्त्रण इस विषय में होना चाहिए।

वाराणसी की नागरी प्रचारणी सभा का इस ओर यशस्वी तथा सर्वस्वीकार्य योगदान रहा है। वह इस काम को क्यों नहीं ले सकती?

उसकी सहायता के लिए, और पत्रकारिता की समस्याओं को सही तौर से समझने के लिए, जिनमें भाषा की समस्या भी समाविष्ट है, यह आवश्यक है कि पत्र-पत्रिकाओं मे जो लिखा जाता है, उसका निरन्तर निरीक्षण और सर्वेक्षण हो। यह निर्धारित हो कि व्यतिक्रम और अतिक्रमण क्या-क्या हुआ, जिससे परिवर्तन और परिशुद्धि की प्रक्रिया स्वयं संचालित होती रहे। यह काम मुख्यत: विश्वविद्यालयों को करना चाहिए, विशेषत: उन्हें जिन्होंने पत्रकारिता के अध्ययन को अपने यहाँ अंगीकार कर रखा है। अमेरिका के विश्वविद्यालय, इस दृष्टि से, अनुकरणीय कार्य कर रहे हैं।

भाषा की क्लिष्टता को अलग से गिनाना आवश्यक नहीं लगता, लेकिन हमारे देश में नव-साक्षार और आधुनिक-शिक्षित बड़ी संख्या में बढ़ रहे हैं। कॉन्वेंन्ट में शिक्षित बहुत बार हिन्दी उतनी भी नहीं समझते, जितनी अशिक्षित समझ लेते हैं। पत्र-पत्रिकाओं को बढ़ना है तो उन्हें उनमें भी अपने लिए स्थान बनाना होगा। मतलब भाषा की सरलता-सुगमता स्वत: एक पृथक् अनिवार्यता बन गई है। चेष्टा इस ओर करनी होगी, चाहे स्वाभाविकता और आवश्यकता का कुछ न कुछ मात्रा में ह्रास हो।

विषय ही ऐसे आते जा रहे हैं, जो सामान्य पत्रकारों के पल्ले मुश्किल से पड़ते हैं। अब उनके लिए भी लिखना होता है, जो विषय को पत्रकारों से अधिक जानते हैं। जैसे इलेक्ट्रोनिकी, भौतिकी अथवा नवशस्त्र-सज्जा की समस्या हो। सीमित, सामान्य भाषा से काम नहीं चल सकता।

इसीलिए भिन्न-भिन्न विषयों में निष्णात पत्रकारिता में आने लगे हैं। वे आएँ, लेकिन पत्रकार ही क्या हुआ जो इस चुनौती का सामना नहीं कर सके। पत्रकारिता का आकर्षण और आदर ही यह है कि उसमें जमा व्यक्ति हर विषय के समझने योग्य लेखन कर सकता है। इसमें भाषा की निपुणता का भी स्थान है, और उपकरणों की जानकारी का भी, जो हर प्रकार के लेखन में सहायता देते हैं। उनके बारे में विचार इस समय का विषय नहीं है।

कुल मिलाकर भाषा का विषय भी ऐसा नहीं है, जिस पर सिर्फ उस तक सीमित रहकर विचार किया जा सके।

❑

समाचारपत्र और देश के निर्वाचन

समाचारपत्रों ने लोकसभा और विधानसभाओं के निर्वाचनों के विषय में अब तक जो विचार, विश्लेषण और भविष्य-दर्शन प्रस्तुत किए, स्वयं अपने, विभिन्न पक्षों के, और विशेषज्ञों एवं ज्योतिषियों के, उनमें से कितने मतदाताओं के निर्णय के अनुरूप, कितने अनुपात में, ठीक बैठते हैं, इस पर विवेचना पूरी तरह हो नहीं पाती। इस बारे में मत या अन्दाज प्रकट करना सामान्यत: होता नहीं कि कितना समर्थन समाचारपत्रों को देश के मतदाताओं का प्राप्त होता है।

दो मत इस विषय पर भी बनते हैं कि जो निर्णय किसी दूसरे के हाथ है, मतदाताओं के, उस पर अपना या उसका बताया जाने वाला अभिमत प्रकट करना कहाँ तक उचित और सम्भव है। जब एक सामान्य न्यायालय के प्रति भी ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता, कैसे यह जनता की महा महा महा पंचायत के लिए उचित और सम्भव होता है। जो यह कहकर औचित्य सिद्ध करना चाहें कि कहाँ समाचारपत्र अपने पाठकों और भारत के मतदाताओं से अलग होते हैं, उनके लिए अलग से अनेक प्रश्न हैं।

परन्तु इस तरह की ऊहापोह उस उत्साह को मंदा कर देगी, जिससे प्रफुल्लित होकर यहाँ समाचारपत्रों की, और इस देश के सौभाग्य की, प्रशंसा की जा रही है।

जिस देश में समाचारपत्र जितने स्वतन्त्र होते हैं, वह उतना ही सौभाग्यशाली होता है। जो सरकार शासनारूढ़ होती है, उसका उस समय विरोध करना या उसके विरोध में उस समय वातावरण बनाना जब निर्वाचन आने पर उसका अस्तित्व संकट में आ जाता है, अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता होती है। भारत के जिन समाचारपत्रों ने जितना उस समय के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और उनके व्यवहार तथा शैली के विषय में, उनकी कमियों और विफलताओं के विषय में, उनकी पराजय हो सकने के विषय में, प्रकाशित करना चाहा, उतनी अपने पाठकों के सामने लाने की छूट का वे उपयोग कर सके, यह हमारे देश के लोकतन्त्र को जाज्वल्यमान, सबल और सुरक्षित करता है।

यह इतने परिमाण में और इतनी स्वच्छन्दता के साथ हो सका, इसमें—(1) पाठकों का, (2) समाचारपत्रों के संचालकों, सम्पादकों और पत्रकारों का, तथा (3) प्रशासन का जो योगदान है, उसे अलग-अलग समझने से यह जो सबल उपलब्धि है, उसका आकलन और अच्छी तरह हो सकेगा।

भारत में समाचारपत्रों के पाठक अपनी क्षमता की इस सीमा में समाचारपत्रों को स्वीकार किये हुए हैं कि उनमें उनकी आशा और के अनुरूप पर्याप्त प्रकाशित

नही होता। चुनावों के सन्दर्भ में इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जो विचार, विश्लेषण और भविष्य–दर्शन निर्वाचनों के विषय में प्रकाशित होते रहे हैं, उनके प्रकाशन में जितनी स्वतन्त्रता रही है, उतने ही सत्य वे अन्ततः सिद्ध नहीं हुए। इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण यह है कि जब स्वर्गीय कृष्ण मेनन ने बम्बई से चुनाव लड़ा था, उस महानगर के तीनों बड़े दैनिकों ने उनका विरोध किया था—फिर भी वे जीते।

इस पुराने उदाहरण का उल्लेख इसलिए आवश्यक है, क्योंकि समाचारपत्रों की जिस स्वतन्त्रता की इस समय प्रशंसा की जा रही है, उसकी परम्परा पुरानी है। इस अर्थ और सीमा मे समाचारपत्र अपनी स्वतन्त्रता निभाते रहे हैं और लोकतन्त्र को सबल करते रहे हैं।

परन्तु उनकी वह बम्बई की उल्लेखनीय विफलता और पराजय में से, इस तरह के यत्न के औचित्य–अनौचित्य के अतिरिक्त, प्रश्न यह बनता है कि जो धंधा इतना खतरनाक है, जो अनुभव ऐसा है कि उसमें अधिकतर असफलता ही मिली है, उसे बार–बार, जब बडा चुनाव आता है, किया क्यों जाता है?

क्या यह समाचारपत्रों की प्रतिष्ठा के अनुरूप है कि वे निर्वाचनों के परिणामो के विषय में ऐसा प्रकाशित करें, जो अन्ततः निर्वाचकों के हाथ में होता है? यदि यह प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं बैठता तो क्यों बार–बार इसका यत्न किया जाता है? ज्यादा ही गहराई में यह प्रश्न ले जायेगा। यह देखना होगा कि जो समाचारपत्र ज्यादा आग्रह से अपना 'अभिमत' और 'अपना' विश्लेषण प्रकाशित करता है, उसका हित और स्वामित्व कितना इस आयोजन को प्रभावित करता है।

हर समाचारपत्र में संचालकों, सम्पादकों और पत्रकारों की स्वतन्त्रता अलग–अलग मात्रा में व्यावहारिक रूप प्राप्त करती है। निर्वाचनों के समय में यह नियन्त्रण और सन्तुलन जितना अन्य तत्त्वों द्वारा प्रभावित हो लेता है, उससे ही समाचारपत्रों का निर्वाचनों के समय में स्वरूप निर्मित होता है। अपनी–अपनी तरह इन तीनों वर्गों को, कम–से–कम पाठक और प्रशासक वर्ग की ओर से, परिपूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। जो आपसी क्रिया–प्रक्रिया इन तीनों वर्गों के बीच होती है, उसी से समाचारपत्र विचार, विश्लेषण और भविष्य–दर्शन निर्मित और प्रकाशित करते हैं। इस तरह यह समाचारपत्रों का भीतरी मामला हो जाता है, चाहे इसका बाहरी असर जितना पड़े। जो बाहरी असर की बात आती है, उसमें पाठक और प्रशासन आते हैं।

पाठक की असमर्थता तो है ही कि उसे उसी रूप में समाचारपत्रों को स्वीकार करना पड़ता है, जिस रूप में वे निकलते हैं। जैसे गैर–समाचारपत्र उद्योगों द्वारा संचालित और प्रभावित समाचारपत्रों के पास पाठकों की बड़ी संख्या है। यह स्वस्थ नहीं है, इसे सभी मानते हैं, परन्तु इस कारण पाठकों में इन समाचारपत्रों का प्रचलन न कम है, न कम हो रहा है। जब बड़े चुनाव आते हैं, पाठकों की संख्या बढ़ जाती है, इस पर भी उनके मत के अनुसार समाचारपत्रों में प्रस्तुति नहीं होती। पाठक झुँझलाते हैं, गालियाँ देते हैं, और 'अपने' समाचारपत्र के कहे या बताए अनुसार मतदान भी नहीं करते, फिर भी उस समाचारपत्र को

ही खरीदते हैं, जिसके लिए वे अपनी आदत बना लेते हैं। यह एक प्रकार की मानवीय दुर्बलता होती है, हम कई तरह की बेतुकी आदतें पाल लेते हैं। जो भी हो, अनेकानेक विविधताओं में समाचारपत्र इस देश में निकलते हैं। उन्हें अपना पाठक प्राप्त करने की और पाठकों को अपना समाचारपत्र चुनने की जो स्वतन्त्रता है, उसका ही लोकतन्त्र के विकास के लिए सबसे अधिक महत्त्व है।

जो प्रशासन में हैं, और फिर से निर्वाचन युद्ध के लिए आरूढ़ होते हैं, उनकी यह इच्छा रहना अस्वाभाविक नहीं है कि उनके 'हित' के अनुरूप समाचारपत्रों में चित्रण और प्रस्तुति हो। ऐसा अधिक नहीं हो पाता। दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक, बहुत कम सीमा तक मासिक भी, अपनी प्रस्तुति से, अपने विश्लेषण से, अपने सर्वेक्षण से, और अपनी भविष्यवाणियों से जो यत्न, और स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं, जिसकी यहाँ इतनी सराहना है, उस पर सत्तारूढ़ प्रशासकों का, चाहे वे मंत्री आदि निर्वाचित हों, चाहे उनकी ओर से प्रयत्न करने वाले सेवाकालिक अधिकारी हों, बहुत-बहुत कम निर्वाचनों के दिनों में प्रभाव पडता है। समाचारपत्र विपक्ष में वातावरण बनाते रहते हैं, और प्रशासन कुछ नहीं कर पाता। यह उसकी असमर्थता ही लोकतन्त्र का अलंकार है। यह जितनी सीमा तक अक्षुण्ण और निष्कलंक रह पाती है, उतनी ही समाचारपत्रों की और देश के सौभाग्य की प्रशंसा कर ली जानी चाहिए।

प्रशासन से जुड़ा एक और अस्तित्व है, जो निर्वाचनों के दिनों में उतना ही सकट झेलता है, वह है—प्रशासन से जुड़ा राजनीतिक दल। जितना खतरा हर एक चुनाव प्रधानमंत्री के लिए बन जाता है, उतना ही खतरा उसके राजनीतिक दल को उठाना पड़ता है। इसलिए, जितना प्रयत्न पुनः जीतने का वे करते हैं उतना ही उनका दल करता है। जब प्रधानमंत्री ही सगठन का अध्यक्ष भी होता है, दोनों में अन्तर अति अल्प हो जाता है, परन्तु जो सन्दर्भ यहाँ है, उसमें दल को प्रशासन से अलग करके देखना ज्यादा ठीक होगा।

कांग्रेस-इ दल ने लोकसभा के चुनावों में जितना और जिस तरह का उपयोग समाचारपत्रों का किया, वह विज्ञापन-विधा में अलग से अध्ययन का विषय हो गया है—सब दृष्टियों से, विज्ञापनों के आकार, उनके स्वरूप, उनकी आकृतियाँ, उनकी भाषा, उनकी शैली और सबसे अधिक उनका प्रभाव। इतने विस्तार में तो यहाँ नहीं उतरा जा सकता, न अभी इसका अवसर है, परन्तु इसे समाचारपत्रों की शक्ति और महत्ता के रूप में स्वीकार करना होगा कि देश का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और संकटग्रस्त राजनीतिक दल इतना महत्त्व समाचारपत्रों को देता है। रेडियो और टेलीविजन इस तरह के उपयोग के वास्ते उपलब्ध नहीं थे, इस कारण इन विधाओं की आनुपातिक प्राप्ति और उपलब्धि का अध्ययन नहीं किया जा सकता। लेकिन इसमें सन्देह करने के लिए ज्यादा गुंजाइश नहीं है कि रेडियो और टेलीविजन के साथ-साथ भी समाचरपत्रों को प्रचारअंश अधिक ही उपलब्ध रहता। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक क्षणिक नहीं होते, वे आवेग देर में बनाते हैं तो उनका प्रभाव भी देर तक रहता है। परन्तु वास्तविकता वास्तविकता है। भारत में इस समय चुनाव प्रचार के लिए आकाशवाणी और दूरदर्शन उपलब्ध नहीं हैं। इसका लाभ समाचारपत्रों को भरपूर मिला है। जो आय मे

वृद्धि उनकी निर्वाचनों के कारण हुई है, उससे लोकतन्त्र और समाचारपत्रों की पारस्परिक अन्योन्याश्रितता को भली प्रकार समझा जा सकता है।

कांग्रेस-इ ने बिना इसका विचार किए अपने विज्ञापन दिए हैं कि उनका विज्ञापन प्रकाशित करने वाले समाचारपत्र की उस दल के बारे में क्या राय है। विज्ञापन-विधा के अनुसार यही उचित था।

एक नैतिकता का प्रश्न इससे अवश्य जुड़ा है। जो विज्ञापन मूल्य लेकर प्रकाशित किया जाए, उसके उपहास में उसी तरह का विज्ञापन अधिक प्रमुखता से प्रकाशित करना क्या उचित होता है? जिस विज्ञापन के प्रकाशन से एक पृष्ठ का दसवाँ अंश बाकी बच जाए, उस जगह पर ही उस विज्ञापन के आशय के विपरीत सामग्री प्रकाशित करना क्या उचित होता है? एक सामान्य उद्योग अथवा व्यापार के विषय में ऐसा नहीं किया जा सकता था। तब क्यो एक विज्ञापनदाता दल के साथ ऐसा व्यवहार हो लेता है? दल की विवशता स्पष्ट है, उसे उसका सुनियोजित कौशल भी कहा जा सकता है कि अपना विरोध करने वाले समाचारपत्र में उपलब्ध स्थल का उसने इतना-इतना अंश तो अपने मत और अपने हित से आच्छादित कर लिया। फिर भी, विज्ञापन-विधा की नैतिकता का प्रश्न परेशान किए बिना नहीं रह रहा।

नैतिकता की दूसरी बात उनके विषय में है जो अपनी स्वतन्त्रता पर भारत के समाचारपत्रों से भी अधिक अभिमान करते हैं। यहाँ एक ही उल्लेख के लिए स्थान है—ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन। सामान्यत: यह समाचार सेवा अधिक प्रसारण अभिमतों का करती रही है, और इसमें पलड़ा उसका भारी रहा है जो कांग्रेस-इ के विरुद्ध पड़ता है। निर्वाचनों के आरम्भ के ठीक तीन दिन पहले इस अभिमानी प्रसारण सेवा ने भारत से निकलने वाली (पता नहीं कितनी भारत की) एक पाक्षिक पत्रिका के निर्वाचन सर्वेक्षण को अपने समाचार प्रसारण में इतनी प्रमुखता दी कि उसे एक शीर्षक भी उस दिन बार-बार, कई भाषाओं में बनाया। इस सर्वेक्षण में उस समय के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की पराजय की सम्भावना अधिक उभरकर आई थी—कदाचित् यही इतनी प्राप्त-प्रमुखता का कारण था। भारत से उठकर भारत की पत्र-पत्रिकाएँ विश्वभारती बनें, एक स्वतन्त्र और सम्मानित प्रसारण सेवा के माध्यम से, यह तो हमारा और हमारे समाचारपत्रों का गौरव है, परन्तु इस भारत के मानस पर अपना अधिक आधिपत्य मानने वाली संस्था ने क्यों उन भविष्यवाणियों की उपेक्षा की जो राजीव गाँधी की जीत की सम्भावना अधिक बता रही थीं? इसके पक्ष में एक ही बात है, नहीं दो। ऐसे समाचारपत्र उस समय कम थे। दूसरे, जो कुछ इस तरह के अभिमत और सर्वेक्षण के विरुद्ध स्वयं राजीव गाँधी ने उसी दिन कहा, उसे भी बी.बी.सी ने साथ-साथ प्रसारित किया। परन्तु एक कड़ी और जोड़ है भारत के कुछ समाचारपत्रों और कुछ विदेशी हितों के बीच जो कई तरह की शंकाएँ बढ़ाता है। इसका जितना विश्लेषण होना चाहिए, हो नहीं पाता, क्योंकि भारतीय समाचारपत्रों के विभिन्न पक्षों के व्यावहारिक अध्ययन का प्रबन्ध हो नहीं पाया है।

फिर भी निर्वाचन का समय भारत के की जय- का हो जाता है निर्वाचनों ने उनका महत्त्व और प्रभाव पुन-पुन रेखांकित और प्रमाणित किया है

भ्रांति और शक्ति

ये सब एक साथ आए—हमारे लिए तो सिर्फ उस दिन के समाचारपत्रों के प्रमुख आकर्षण थे, परन्तु प्रचलित प्रणालियों पर, जिनका सम्बन्ध पत्रकारों और पर्यवेक्षों से बहुत है, ऐसे आघात हैं जो वर्तमान सामाजिक-शासनिक व्यवस्थाओं को आतंकित करते हैं, और उनके प्रति एक ओर अविश्वास अतिरंजित करते हैं, दूसरी ओर उन तक बहुत सहानुभूति और खेद, क्षमाप्रार्थना पहुँचाते हैं।

इनमें विरोधाभास भी है, और विपर्यय भी, यह विचित्र स्थिति कि जिस पर, जिन पर, इतना विश्वास किया जाता है, व्यय किया जाता है और व्यवस्थाएँ एवं भविष्य जिनसे इतना प्रभावित होता है, उनका अपना अस्तित्व और स्वयं उनकी अस्मिता कितनी संदिग्ध हो गई है।

एक भारत की बात लें, एक अमेरिका की, यह साबित करने के लिए कि जो संस्थाएँ तथा वास्तविकताएँ होती हैं, उनका प्रभाव और परिणाम हर जगह एकसा रहता है। दो बीच के प्रकरण हैं जिनका सम्बन्ध सारे संसार से हो जाता है।

भारत में जो दो लोकसभा निर्वाचन हुए, 1996 में और 1998 में, उनके पूर्व, और तत्काल बाद परिणामों के आकलन और प्रकाशन के पहले जो पर्यवेक्षण और सर्वेक्षण हुए, उनकी सत्यता इतने अपर्याप्त अंशों में सिद्ध हुई कि इनकी आवश्यकता और औचित्य आपत्ति मे आ गया है।

सत्रह की पर्याप्त और प्रतिष्ठित संख्या में ये थे, प्रतिष्ठित अधिक इन आयोजकों की सुप्रचारित सुविज्ञता, विस्तृत सर्वेक्षण क्षेत्र और व्ययसाध्य व्यवस्थाओं के कारण। निष्कर्ष यह रहा है—कदाचित ही किसी को भविष्यवाणियाँ पूरी तरह सही उतरी हैं। भविष्यवाणियों से सामान्यतयः आभास ज्योतिष की गणना से होता है, लेकिन निर्वाचनों में भावी परिणाम विश्लेषणकर्ताओं के ऐसे समूहों ने प्रकट एवं प्रचालित किये थे जो अपने को प्रायः वैज्ञानिक मानने लगे हैं—तकनीक और साधन ऐसे अपनाते हैं जिनकी आधुनिकता और विश्वव्यापी स्वीकृति उन्हें अति विश्वास योग्य और प्रभावी बनाने लगी है। उदाहरण यह दिया जाता है कि तमिलनाडु में जो आश्चर्यकारी और सफलतादायी गठबंधन हुआ, वह इसी प्रकार के एक सर्वोक्षण से प्रेरित हुआ था। महाराष्ट्र और राजस्थान में जो उलटफेर हुए, उन्हें इससे उलटे, इनके लिए कलंकारी कहा जा रहा है। जो सदा सत्य नहीं हो वह विज्ञान नहीं होता—इस तर्क से इस समस्त सर्वेक्षण व्यवस्था को नकारा जा रहा है।

इसका अधिक विवेचनीय पक्ष यह है कि निर्वाचनों के पूर्व किए गए सर्वेक्षणों के परिणामों के प्रकाशन से मतदाता प्रभावित हो सकते हैं, जिससे बचाने के लिए निर्वाचन आयोग ने कुछ प्रतिबन्ध लगाए थे। लेकिन उनकी अवधि की समाप्ति के एक मिनिट बाद

प्रसार साधनों ने जो विस्तृत एवं व्ययकारी 'एक्जिट पोल' कराया, नमूने के मतदाताओं से जानकर बताया कि उन्होंने किसको अपना मत दिया, और विज्ञापित किया, वह तो चारो खाने चित गिर गया।

आवश्यकता का प्रश्न दोनों के साथ है, ज्यादा तीखा निर्वाचन के उपरान्त के आकलन के विरुद्ध। निर्वाचन हो ही गया था, परिणाम के लिए निर्धारित अवधि तक प्रतीक्षा क्यों नहीं की जा सकती थी? सामान्य नागरिकों में धैर्य और मितव्ययता होती है। ऐसे सर्वेक्षणों के लिए कोई व्यापक वास्तविक जिज्ञासा नहीं रहती है—इसके असत्य होने की आशंका भी सभी को रहती है। ये व्यापाराना उद्देश्य हैं जो इतना प्रयत्न और व्यय कराते है—इतना इंतजाम कराते हैं, और लोगों से इतना अपना 'बहुमूल्य' समय खर्च कराते हैं। इनकी कतई आवश्यकता नहीं है, सिवा उनके लिए जो ऐसे आयोजनों से स्वयं लाभान्वित और प्रसिद्ध होना चाहते हैं, और विज्ञापनदाताओं को सारे राष्ट्र में व्याप्त जिज्ञासाओं और आशंकाओं का उपयोग करने देना चाहते हैं। मुख्य तर्क आवश्यकता और उपयोग का है, जो निर्वाचनों के उपरान्त होने वाले आकलनों के साथ कतई नहीं है।

जो पर्यवेक्षण-सर्वेक्षण निर्वाचनों के पहले होते हैं, हफ्तों पहले, और कुछ ही दिन पहले भी, दोनों मतदाताओं की निर्णय-स्वतन्त्रता के विपरीत, उनकी निर्णय-बुद्धि के प्रति अपमानजनक और देश की निर्वाचन-व्यवस्था को दूषित करने वाले हैं। प्रत्येक निर्वाचन से अपेक्षा होती है कि मतदाता स्वविवेक से, बिना बाहरी प्रेरणाओं के, अपना मन बनाएँगे, और मत देंगे। जो दूसरा पक्ष है—मत माँगने वालों का, उसका भी हक बनता है मतदाताओं के सामने अपने को उपयुक्त सिद्ध करने का। यह मतदाता पर निर्भर करता है कि वह किसके आग्रह का आदर करे। परन्तु मतदाता क्या करेगा, इसका पूर्वानुमान, और उसका प्रकाशन-प्रचार, अवांछित, अनुचित और अनावश्यक है। यह मतदाताओं पर दुष्प्रभाव है, अलोकतांत्रिक है कि ज्यादा इसको मत दे रहे हैं, तुम भी इस को मत दो। या यदि तुमने इसे मत दिया तो वह बेकार जाएगा। अनुकूलता-प्रतिकूलता जो भी निर्वाचन-पूर्व सर्वेक्षणों से निर्मित होती है, सामान्य प्रक्रिया में बाधक, अतएव आपत्तिजनक है। यह ऐसा व्यय है धन का, शक्ति का, समय का, जिससे कम से कम इस निर्धन देश को बचाया जाना चाहिए। कुछ के शौक और स्वार्थ के लिए समस्त मतदान प्रक्रिया को कलुषित नहीं किया जाना चाहिए।

परन्तु मुख्य प्रश्न इनके सत्य सिद्ध नहीं होने से बन गया है। साथ-साथ उन समाचारपत्रों-दैनिकों, साप्ताहिकों को लिया जाना चाहिए जो (1) ऐसे सर्वेक्षण बाहरी विशेषज्ञ सेवाओं से कराते हैं, और (2) स्वयं भी अपने संवाददाताओं आदि के माध्यम से भविष्यवाणियाँ करते रहते हैं। इन दोनों वर्गों के असत्य सिद्ध होने पर इनकी प्रतिष्ठा की हानि इन तक सीमित प्रक्रिया और परिणाम नहीं है। पाठक जो प्रभावित होते हैं, उसका प्रश्न अलग है। समाचारपत्रों के स्वामी और सम्पादक जो सर्वसामान्य पाठकों से, जिनमें सभी विचार और दलों के होते हैं, लाभान्वित होते हैं, किसी एक पक्ष या प्रकार के प्रत्याशियों का प्रचार कैसे कर सकते हैं। यह नैतिक और सैद्धान्तिक प्रश्न है। परन्तु यह तो नितान्त अनुचित

और आपत्तिजनक है कि समाचारों को उद्देश्यपूर्वक अतिरंजित किया जाए—किसी के पक्ष में, किसी के विरोध में। लहर ऐसे बताई जाती है, जिसमें संपादक जी स्वयं डूब जाते हैं। यह भी क्या अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार में आता है—समाचारों-विचारों द्वारा धोखा।

भारत को छोड़ें, अमेरिका चलें। वहाँ के राष्ट्रपति बिल क्लिंटन उन दिनो आपत्तिजनक यौनाचार के आरोपों से ग्रस्त थे। इनका सूत्रपात 1993 में प्रकाशित इस विषय के विशेष आलेख से हुआ था, जिसके रचयिता डेविड ब्रोक ने क्लिंटन से क्षमायाचना की और इसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। परन्तु इसका इस मामले की प्रगति और परिणाम पर प्रभाव नहीं पड़ा—जो हानि होनी थी, हो चुकी थी। मामला जाँचकर्ताओं और न्यायालयो के हाथों में पहुँच चुका था।

इन स्थितियों ने पत्रकारों की तथाकथित स्वतन्त्रताओं और विध्वंसकारी चेष्टाओ पर चारों ओर गम्भीर प्रश्न उठाए।

इनमें सबसे पहला है कि क्या राष्ट्र और राष्ट्र की राजनीति को क्षतिग्रस्त करने की अनुमति दी जा सकती है। डेविड ब्रोक ने कह लिया कि मूलतः 'अमेरिकन स्पेकटेटर' में प्रकाशित उनके आलेख का जो कुप्रभाव हुआ उसकी अपेक्षा उन्हें नहीं थी। वार करने वाला उसका परिणाम पहले से नहीं जाने तो उसे 'पागल' कहा जाता है। ऐसे पागल पत्रकार वर्ग में रहने देने योग्य हैं या नहीं, इस पर समस्त ऐसे देशों में विचार होना चाहिए जिनमें आधुनिक पत्रकारिता विकसित हो गई है।

इसके साथ प्रश्न उठे हैं—(1) जिन स्रोतों से जानकारियाँ प्राप्त करके समाचार अथवा आलेख तैयार किए जाते हैं उनकी प्रमाणिकता तथा विश्वसनीयता, (2) दो दल हों, जैसे इसमें राष्ट्रपति डेमोक्रेट और उनके विरोधी सदन-अध्यक्ष न्यूट गिंगरिच रिपब्लिकन, तो केवल एक के समर्थकों, वह भी वित्तीय सहायकों, द्वारा दी गई जानकारियों के आधार पर कैसे कोई सार्वजनिक रूप से प्रकाश्य आलेख तैयार किया जा सकता है, (3) जो प्रत्यक्षतः और दीर्घकालीन विरोधी हो उसकी दी जानकारियों को कैसे उनके स्वतन्त्र और पर्याप्त परीक्षण के बिना आलेख का आधार बनाया जा सकता है, जैसे इस मामले में क्लिक जैकसन थे, (4) ऐसे अंगरक्षकों अथवा सहायकों-कार्यकर्ताओं पर कैसे समाचार के लिए विश्वास किया जा सकता है जो जाने हुए लालची हों, और जिनके लक्ष्य 'गंदे' हों, और जिन्हें उससे अपनी आर्थिक शिकायतें हों जिसके बारे में वे समाचार-सामग्री दे रहे हैं, और जो स्वयं भी इस सामग्री का मूल्य माँग रहे हों। ये सामान्य आरोप नहीं हैं—आपत्तिजनक और अब क्षमाप्रार्थी-आलेख के रचयिता डेविड ब्रोक की सार्वजनिक स्वीकृतियाँ हैं। उन्होंने बिल क्लिंटन से सभी समाचारपत्रों में प्रकाशित क्षमायाचना (इसे खेद प्रकाश भी बताया गया है) में कहा : "आपके व्यक्तिगत जीवन की जो छानबीन मैंने की उससे आपके राजनैतिक विरोधियों को—जो आपके विरुद्ध चल रहे यौन दुराचार के मुकदमे में वित्तीय योगदान कर रहे हैं—अवसर प्राप्त हुआ है न्यायिक व्यवस्था का उपयोग उस प्रक्रिया को पूरा करने में करने का जिसका प्रारम्भ मैंने किया था अर्थात् बिल क्लिंटन के शत्रु डेविड ब्रोक की

सामग्री का उपयोग राष्ट्रपति को 'समाप्त' करने में कर रहे थे। विस्तार में नहीं जाकर, ध्यान देने की यह बात है कि इस प्रकार ये समस्त समाचार साधन, उपाय और आलेखन आपत्तियों मे आ गए हैं।

दूसरी ओर इस पर 'प्रकाश' पड़ा है कि अनेक देश—93 में से 47—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की ओर से जो वार्षिक सर्वेक्षण उनकी आर्थिक परिस्थितियों के सम्बन्ध किए जाते हैं, उनके सार्वजनिक रूप से प्रकाशन पर आपत्तियाँ कर रहे हैं। अर्थात् वास्तविकताओं के प्रकट किए जाने पर आपत्तियाँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी 'इस युग में' की जा रही है। ये सर्वेक्षण सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए कभी-कभी आवश्यक चेतावनी बन जाते हैं, इससे उन्हें किसी राष्ट्र के शासन के स्वार्थ के लिए वंचित करना उचित नहीं माना जा सकता।

उधर, विश्व स्वास्थ्य संगठन को ब्रिटेन में प्रकाशित ऐसे समाचारों पर आपत्ति है कि उसने सिगरेटों के प्रभाव के सम्बन्ध में किए गए एक सर्वेक्षण को 'दबा रखा है'। इसकी सत्यता की बात छोड़ें, सवाल दोमुखा यह है कि जो नहीं है उसको प्रकाशित अथवा प्रतिपादित कैसे किया जा सकता है? और जो है उसे किसी के कहने से दबाया कैसे जा सकता है?

दिन ऐसा था जिसमें ऐसे सवालों के जवाब उसी दिन प्रकाशित अन्य 'सामग्री' मे मिले। चाहे डेविड ब्रोक हों, चाहे उन्हें 'स्वार्थी सामग्री' देने वाले क्लिंटन के अंगरक्षक, सामाजिक ईर्ष्याओं ने धन लिप्सा को बढ़ाया है—आसपास जो हैं उनसे 'उन्नत' हमारे जीवनयापन का स्तर होना चाहिए, ऐसी अभिलाषाएँ अति और अनुचित अर्जन की ओर ले जाती हैं। जो चतुर हैं, वे चरित्रवानों को पीछे छोड़ रहे हैं। अपनी सामर्थ्य से अधिक सहारा दूसरों के दोष-दर्शन से लिया जा रहा है।

दिल्ली के समाचारपत्रों में ही उसी दिन दो प्रवचन भी छपे थे। इनमें से एक विश्वविख्यात प्रतिपादक डॉ. दीपक चौपड़ा का था। अनुकरणजनित आचरण को उन्होंने भी आपत्तिजनक बताया, भौतिक भ्रांतियों से सावधान किया, वास्तविकताओं की ऐसी व्याख्याएँ कीं जो सामान्य विचारों के विपरीत हैं। जैसे, उन्होंने कहा मानस मस्तिष्क में नहीं होता, शरीर के हर अंग और पोर में अवस्थित है। सच भी है, स्पर्श किसी अंग का किया जाए प्रतिक्रिया पूरी होती है। सम्पूर्ण शुद्धि ही संस्कार दे सकती है।

स्वयं समाचारपत्रों के कैसे संस्कार हो गए हैं, इसने इस दिन के इस आधुनिकता-प्राचीनता के अद्भुत सम्मिश्रण से प्रणीत दिव्य उद्बोधन को दी गई महत्ता के अनुपात में आशंकाएँ निर्मित कीं। नगण्य नेताओं के पारस्परिक द्वेष व्यक्त करने वाले और बढ़ाने वाले वक्तव्य अतिविस्तार से प्रकाशित किए जाते हैं, और ऐसे उच्च चरित्र उत्प्रेरित करने वाले प्रवचन छोड़ दिए जाते हैं या बहुत कतरव्योंत पा लेते हैं। जिसका प्रभाव उचित हो उसका संक्षिप्तीकरण आधुनिक पत्रकारिता हो गई है।

जिस दैनिक ने डॉ. दीपक चौपड़ा के व्याख्यान को सबसे अधिक स्थान दिया उसी ने धर्म को कभी नहीं छोड़ने का आह्वान श्री जयेन्द्र सरस्वती स्वामी की ओर से भी प्रकाशित किया। दैनिक जीवन के सामान्य व्यवहार से कैसे देवत्व की ओर उठा जा सकता है, इसको स्वामी जी ने समझाया था। उन्होंने भी उचित व्यवहार से उन्नति की प्राप्ति का प्रतिपादन किया था।

इसमें जोड़ें—न्यायाधीश वी. एस. मालीमथ के विचार। वे सदस्य तो थे राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के परन्तु प्रतिपादन कर्तव्यों-दायित्वों का कर रहे थे, दायित्व-बोध से ही देश का उद्धार होगा, इस विश्वास से वे इसके वास्ते राष्ट्रीय आन्दोलन आवश्यक बता रहे थे—स्वार्थ-भावनाओं ने देश की बहुत हानि की है, पशुत्व की ओर ले जाने वाली यह वृत्ति निराकरण के योग्य है। संविधान ने अधिकारों को प्राथमिकता दे रखी थी—26 वर्ष लगे कर्तव्यों का महत्त्व स्वीकार करने में; अब तो इनकी ओर ध्यान दिया जाए।

यह 'कर्तव्य' ही है जो जब चाहे जैसा रूप ले लेता है। कुछ 'बुरा-बुरा' डेविड ब्रोक को मिला, और उसे प्रकट करना उन्होंने 'कर्तव्य' बना लिया। कर्तव्य सदा स्पष्ट नहीं होता, स्वार्थों से सदा रुंधता रहता है, अपने भी और दूसरों के भी। मनुष्य जो होता है, उसके लिए मनुष्योचित व्यवहार बहुत कठिन होता है। इसी तरह से तो हमने संसार को स्वर्ग की जगह स्वर्ग में बाधक बना लिया है। इस समय संसार सिकुड़ गया है। इसलिए घटना या प्रक्रिया कहीं हो, कम्पन, परिणाम दूर-दूर हो जाते हैं। भारत के लिए विश्व जितना विशाल है, उतना ही उसका अपना अतीत विस्तृत है। दोनों का समन्वय समुचित सिद्धान्त दे सकता है, परन्तु सिद्धान्त और स्वार्थ के संघर्ष में विजय तो अपनी निष्ठा और शक्ति से ही मिल सकती है।

❑

पुलिस और अखबार

पुलिस और अखबार सबसे अधिक अनुभव में आने वाले अस्तित्व हैं। इनकी साथ-साथ विद्यमानता पर विचार उन परिणामों का ध्यान रखकर किया जाना चाहिए, जो इनसे अपेक्षित हैं। ये परिणाम ही इन दोनों के अस्तित्व के औचित्य का निर्धारण करते हैं, और इनसे ही इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं।

पुलिस सरकार का और अखबार सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं और चूँकि सरकार का लक्ष्य भी सर्वसाधारण की सेवा होता है, और उससे भी अधिक होना चाहिए, इसलिए पुलिस और अखबार के लक्ष्य, कर्त्तव्य और कार्य बहुत करके एक समान होते हैं। संक्षेप में, इन्हें समाज-सुधार और समाज-संरक्षण कहा जाना चाहिए। इसमें जो क्षरण हो रहा है, उसने दोनों के अस्तित्व और आपसी सम्बन्धों पर प्रश्नचिह्न लगाए हैं।

ऐसा समय कभी नहीं था, जब समाज सम्पूर्णतः समस्याहीन और क्षरणविहीन रहा हो। इसीलिए पुलिस सदा से रही है। अखबारों का आरम्भ और प्रसार भी समाज-सुधार के लिए हुआ है, इसलिए दोनों में पारस्परिक पूरकता भी सदा से रही है। परन्तु जब सामाजिक विसंगतियाँ, विच्छिन्नताएँ, विकार और विघटन उत्पीड़क और पतनकारी हो जाता है, जैसा आजकल है, और शासनिक प्रचुरता भी इस क्षरण को संयमित करने में पर्याप्त नहीं लगती—पुलिस और अखबार दोनों का पारस्परिक व्यवहार पुनर्विवेचना का विषय बन जाता है।

यह पुनर्विचार स्वतः अखबारों के लिए पुलिस से उनके सम्बन्ध पुनर्निर्धारित करा रहा है। अखबारों का जबसे आरम्भ हुआ है, 'पुलिस बीट' उसमें काम करने वालों के लिए रोजाना का चक्कर रहा है। इससे ताजी खबरें मिलती रही हैं, परन्तु इससे यह भी हुआ है कि अखबार वाले स्वयं वहाँ कम पहुँचने लगे हैं, जहाँ खबरें बनती हैं, और उस स्थल पर उनकी निर्भरता बढ़ती गई जहाँ खबरों को भी हथियार बना लिया जाता है। जो खबरें स्थिति को और ज्यादा बिगाड़ें, ऐसी खबरों से अखबार वाले खुद बचना चाहते हैं, और पत्रकार अपनी मर्यादा के लिए प्रतिष्ठित रहे हैं। परन्तु मर्यादा भी सामाजिक समुन्नति के लिए होती है। आज जब समाज में दुर्दशा बढ़ रही है, पुलिस बार-बार दोषी होकर सामने आती है, जैसे अनुचित बल का प्रयोग, जिसमें हिरासत में मौतें भी आती हैं। पुलिस दूसरों के प्रभाव में आकर, जो अनेकानेक प्रकार के हो गए हैं, जो शासन में हैं उनकी मंशा और हित के अलावा, जो अनौचित्य करती है, अथवा कर्त्तव्य-पालन नहीं करती, उससे वह स्वयं अवगत कराएगी यह होने वाली बात नहीं है और, छोटी-से छोटी चोरी से लेकर [illegible] स्तर के [illegible] तक ऐसे अनेक [illegible] होते हैं जिनकी उपेक्षा पुलिस द्वारा की जाती है पुलिस

है तो समाज में वह गिरावट और दुराचार होना ही नहीं चाहिए, जिससे वह इस समय परम ग्रस्त है।

और अखभार हैं तो भी ऐसी गिरावट और दुराचार नहीं होने चाहिएँ। समान दिखने वाला यह कर्त्तव्य, दोनों की प्रक्रिया में अन्तर ही नहीं, दोनों में पारस्परिक विरोध और टकराव भी सृजित करता है। इससे जितना अखबार वाले बचते हैं, उतना ही उनसे समाज की, परोक्ष रूप से शासन की, और स्वयं उनकी, कुसेवा होती है। अनुपात के अनुसार विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि जितना सामाजिक समस्याओं से उत्पीड़न और अत्याचार बढ़ा है, उतना ही पुलिस और अखबारों का प्रभाव और सम्मान कम हुआ है, और यह भी स्वतः प्रकट हो रहा है कि अखबारों का हित और दायित्व उन्हें पुलिस का पिछलग्गू, परिपोषक अथवा उनसे परिपूरित होने से उतना ही रोकता है।

पुलिस ड्यूटी रूम के बाहर खबरों की, खास करके उनके कारणों की, खोज के लिए अखबार वालों को अपना आलस्य त्यागना होगा और साधन बढ़ाने होंगे। जिस दिन ये पंक्तियाँ लिखी जा रही थीं, उसी दिन दिल्ली के एक दैनिक के सम्पादकीय स्तम्भ के ऊपर यह 'योग वाशिष्ठ' की उक्ति प्रकाशित हुई थी—"आलस्य के कारण सागर तक फैली हुई यह पृथ्वी नरपशुओं तथा निर्धनों से भरी हुई है।" वशिष्ठ मुनि ने श्री रामचन्द्र को जो शिक्षा हजारों साल पहले दी थी, उसे आज के अखबार वालों को भी अपनाना होगा। ऐसा लगता है कि नरपशु और निर्धन तबसे हमारे साथ हैं, परन्तु दोनों से निवारण सद्शासन का सदा सर्वप्रमुख कर्त्तव्य रहा है। समाचारपत्र यदि अपने को शासन का चौथा स्तम्भ मानते हैं तो उन्हें अपने को आलस्य से मुक्त करना होगा। विदेशों में कई अखबारों ने समानान्तर व्यवस्था की है, जिसमें उनके पत्रकारों के पैर पुलिस वालों के साथ-साथ भी चलते हैं और टकराते भी हैं, कभी-कभी तो ये दोनों को सर्वथा भिन्न दिशा और परिणामों पर ले आते हैं। इससे पुलिस वाले अप्रसन्न होते हैं, परन्तु 'सत्य' का उदय होता है, जो होना तो पुलिस वालों का भी लक्ष्य चाहिए।

यह आलस्य के अतिरिक्त साधनों की और उनके नियोजन की भी बात है, जिसके बारे में विस्तार से यहाँ विवेचन नहीं किया जा सकता। समाचारपत्र कितना वित्तीय एवं संगठनात्मक, नियोजन 'समाचार' के लिए करते हैं, इस पर ही उनका प्रसार और प्रभाव निर्भर करता है। आज जब प्रसार के साथ प्रभाव नहीं बढ़ रहा है, समाचारपत्रों को अपने वित्तीय विनियोजन को पुनः संगठित करने पर विचार करना होगा। ऐसी स्थिति आ गई है कि पुलिस पर अधिक निर्भर रहने से, उसकी प्रसन्नता और अनुकम्पा पर अधिक आश्रित रहने से, अखबार वालों के उनके प्रति अपने अलग कर्त्तव्य होते हुए भी, समाज में अनाचार और अत्याचार बढ़े हैं, जिनमें स्वयं पुलिस की अतिशयोक्तियाँ ही नहीं, उसके जवानों के शौक और उनके लिए किये गए दुर्व्यवहार भी आते हैं। पुलिस भी शासनिक प्रबन्ध का अंग है, जिसमें दोष उससे कम नहीं हैं जो अन्य विभागों में बैठते हैं पुलिस के दोषों से उत्पीडन अधिक इसलिए होता है क्योंकि पुलिस हर तरह के उत्पीडन से सुरक्षा के लिए है बार बार

रक्षक–भक्षक की बात आती है जो समय पर उजागर अखबार वालों के प्रयत्न के बिना हो ही नहीं सकता, और यह दायित्व उन्हें पुलिस का प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, आलोचक ही नहीं, विरोधी भी बनाता है। यह कठिन दायित्व पुलिस के सम्बन्ध में और अधिक कठिन हो जाता है, इसलिए नहीं कि इससे पुलिस वालों में नाराजगी बढ़ती है, इसलिए भी कि पुलिस वालो के हाथ-पैर संख्या में कहीं अधिक और बल में और भी अधिक भयानक हैं, परन्तु पत्रकारिता ने सदा सबलता का सामना करके अपना निर्माण किया है और जो पत्रकारिता में नई पीढी आई है, उस पर अपने पूर्वजों से कम, कम कठोर, दायित्व नहीं हैं।

यह रास्ता ऐसा है जो पुलिस से मुठभेड़ की ओर ले जाता है और अकारण नही है कि पिछले वर्षों में अखबार वालों पर अत्याचार और उनकी हत्याएँ बढ़ी हैं। हत्याएँ किसी की हों, पुलिस वाले उन्हें रोकने के लिए होते हैं, और अगर अखबार वालों की हत्याएँ बढती हैं, आशंका पुलिस वालों पर बढ़ती है। चूँकि हर हत्या की जाँच पुलिस वालो के हाथों में होती है, 'सत्य' तब तक स्थापित नहीं हो सकता-जब तक समाचारपत्र अनुसंधान का स्वतन्त्र प्रबन्ध नहीं करें। यह एक उदाहरण है, जो समाचारपत्रों की ओर से स्वतन्त्र और समानान्तर प्रबन्ध के लिए विचार के वास्ते विवश करता है।

ऐसा प्रबन्ध बढ़ेगा तो अखबारों में पुलिस वालों का हस्तक्षेप बढ़ेगा। अभी ही अधिक आलोचना करने वाले बहुत सताए जाते हैं। ऊपर का सिलसिला लें तो, ट्रक के नीचे कुचल दिए जाते हैं, और ट्रक का कभी पता नहीं चलता जबकि पुलिस हर अपराध का पता लगाने के लिए होती है। इस हस्तक्षेप से बचने के लिए अखबार वालों को जो कुछ वे प्रस्तुत करते हैं, उसकी प्रामाणिकता और अपने प्रत्येक व्यवहार की परिशुद्धि बढ़ानी होगी। यह काँटों भरा रास्ता है, और संकट से बचने का स्वभाव समाचारपत्रवालों में बढ़ता जा रहा है। दोनों बातें साथ-साथ चलने वाली नहीं हैं। यह भूला नहीं जाना चाहिए कि पत्रकारिता निरन्तर कंटकाकीर्ण रही है, और भिन्न मार्ग पकड़कर यह अपनी तेजस्विता के क्षरण को, प्रभाव की कमी को, नहीं रोक पाएगी।

दायित्व के अतिरिक्त छवि की भी बात होती है, यद्यपि छवि भी वही ध्यान देने योग्य होती है, जो कर्त्तव्य और दायित्व के निर्वहन में से प्रतिष्ठित होती है। पुलिस वालों की छवि उत्पीड़क की हो गई है और अखबार वालों की स्वार्थ-साधकों की। दोनों को इनसे मुक्ति प्राप्त करनी होगी। यहाँ ऐसे प्रयत्न आते हैं, जो जितने एक-दूसरे के विरुद्ध, परस्पर घातक और संहारक होंगे उतनी ही अच्छी पुलिस और उतने ही अच्छे अखबार समाज को प्राप्त होंगे। पुलिस से सहयोग की अखबारवालों के लिए सीमा है, न वे पुलिस का गजट बन सकते हैं, न पुलिस के प्रवक्ता। पुलिस की हर उक्ति की समालोचना की सामर्थ्य उन्हे बनानी होगी और इस समालोचना में से पुलिस सुधरे, यह अपना प्रयत्न रखना होगा। यह प्रयत्न पुलिस के प्रति अन्य सरकारी अधिकारियों से अधिक तीव्र रखना होगा, क्योंकि पुलिस की उपस्थिति और उसके अधिकार, अन्य सब अधिकारियों से अतिरिक्त और अधिक हैं।

पुलिस चाहे तो कृपा भी बहुत कर सकती है, करा सकती है। जो गरम होता है, उसके नरम होने पर जो खतरे बढते हैं वे तरह तरह के प्रलोभनों का रूप ले लेते हैं जिनमें यह अत्यन्त सहज है कि पुलिस वाले हमारी सुनते हैं प्रलोभन और पत्रकारिता का साथ

नही है, यही कहना यहाँ पर्याप्त होगा, यद्यपि प्रलोभनों का विस्तार से विवरण कुछ अखबारवालों ने ही बहुत दिया है। ऐसे पत्रकार अखबारों में प्रकाशित होने वाले अतिरंजन और असत्य चित्रण से भी अत्यन्त उद्विग्न हैं। अरुण शौरी ने लिखा है—"वे जो कुछ लिखते है, वह दरअसल किसी साधनसम्पन्न चतुर व्यक्ति ने उनके गले उतारा होता है।" ऐसा व्यक्ति पुलिस वाला भी हो सकता है, यद्यपि अरुण शौरी के सन्दर्भ में उस आलेख में भिन्न स्रोत थे। "नतीजतन, लोगों की ओर से प्रहरी होने के बजाय जो जननीतियों पर लाबियो और स्वार्थों के असर को निष्प्रभ कर दें, हमारे पत्रकार यह दोगुना साबित कर देते हैं कि नीति उन्हीं स्वार्थों से निर्धारित हो। विनाशकारी प्रभाव अनेक कारणों से जटिलतर होते जाते हैं। पहले तो तथ्यों की सटीकता और शुद्धता को लेकर, यहाँ तक कि प्राथमिक तथ्यों की शुद्धता को लेकर भी आपराधिक रूप से लापरवाह रवैया होता है।" उन्होंने आगे और भी कठोर लेकिन और अधिक ध्यान देने योग्य बात कही है—"अपने मिथ्या दावों और आडम्बरों के बावजूद अखबार समाज के लिए अड़ंगा हैं, रुकावट हैं, वे आने वाले कल के विरुद्ध एक ताकत हैं। मैं समझता हूँ कि यह एक प्रमुख कारण है, जिसके चलते अखबार पाठकों का ध्यान खोते जा रहे हैं।" अरुण शौरी बहुत निराश हैं—"अखबार अपने आलमबरदारों की इस तरह जकड़न में हैं कि स्वयं को बचाने के लिए भी उनके बदलने की सम्भावना मैं नहीं देखता।" अखबार जो चलाते हैं, वे इतने निराश नहीं हो सकते, न इतना आत्मविश्वास खो सकते हैं। पुलिस के प्रति वे क्या रवैया बनाते हैं, इससे उनकी प्रामाणिकता के अतिरिक्त यह भी सिद्ध होगा कि क्या उनमें आत्मविश्वास इतना है जो अँधकार का अन्त करके, नया सूरज ला सकता है। चूँकि हर सुबह नया सूरज उदित होता है, आशा को तिलांजलि देनी जितनी अनास्था अखबारवालों के प्रति नहीं बनने दी जानी चाहिए।

❑

जनसंचार माध्यम और सांस्कृतिक प्रदूषण

प्रदूषण का भय सदा रहता है, खासकर उनके लिए जो स्वतः या तो अनुभवहीन होते हैं अथवा असमर्थ होते हैं। प्रदूषण परतन्त्रता के परिणामस्वरूप भी आता है, जिसका हमारे देश भारतवर्ष को बहुत अधिक अनुभव है; चूँकि कम देश हैं, जिन पर इतने आक्रमण हुए हैं। भारत तो ऐसा देश है जहाँ आन्तरिक आक्रमण भी होते रहे हैं, सीमोल्लंघन एक संस्कार इस देश में बना लिया गया था। यह सब विवशता से सम्बद्ध हुआ, परन्तु अपनी इच्छा से, अपने शौक से, मिले अवसर और प्रलोभन से, संस्कृति में परदृव्य बहुत आया है और इस समय प्रदूषण का जो स्वरूप चर्चा में ज्यादा है, वह यही है। इसके उपचार अथवा बचाव के नाम पर संस्कृति के प्राचीन तत्त्वों की पुनर्स्थापना के जो प्रयत्न हो रहे हैं, वे वास्तव मे सस्कृति के मूल स्वभाव के विपरीत हैं—संस्कृति जल-प्रवाह के समान होती है, जिसकी धारा को पीछे की ओर नहीं मोड़ा जा सकता, जो वह छोड़ चुकी होती है, उसे उसमें फिर से स्थापित नहीं किया जा सकता।

संस्कृति संस्कारवान होने से बलवती होती है। जिन देशों की ओर से सांस्कृतिक आक्रमण की भारत में इस समय अधिक चिन्ता है, पश्चिम के समृद्ध और समर्थ देश, विशेषतः अमेरिका, उनमें और हमारे देश में अन्तर ही यह है कि वह नव-उदित हैं, हमारे सहस्रों वर्ष के संस्कार हैं। समय की यह जो आयु होती है, वह संस्कृति को निरन्तर उलझाती जाती है, और अमेरिका में ही भीतरी सांस्कृतिक संघर्ष कम नहीं हो रहे। वहाँ का और भी बुरा दोष यह है कि उन्नति की परिभाषा में धनाढ्यता के सोपान ही अब तक पहचाने गए हैं जबकि भारत में अति धनाढ्यता और धनहीनता के असंख्य अनुभवों मे से कुछ निष्कर्ष और मूल्य ऐसे निकले, जिन्होंने सुख, सन्तोष, सबलता दी, बुराई की पहचान दी, दान-त्याग-धनहीनता को अपार आदर दिया। धन-अर्जन अथवा धन-संग्रह से प्रतिष्ठा हमारे यहाँ स्थापित हो नहीं पाई, जो जितना दे पाता था उतना ही वह आदरणीय होता था। अर्जन के साथ जो मर्यादाएँ भारत में विकसित हुईं, वे सभ्यता के कीर्तिमान हैं। सर्वस्व त्याग के ऐसे उदाहरण संसार में मिलने मुश्किल है। धन जो दोष, अपराध और अनाचार निर्मित करता है, उससे सबसे अधिक चरित्र प्रदूषित होता है, जो संस्कृति का सक्रिय स्वरूप होता है।

चरित्र पर चोट दूसरे देशों के आक्रमण से भी होती है, परन्तु हाल तक भारत में ऐसी आन्तरिक व्यवस्था और सम्पुष्टता रही है कि आगत नवीनताओं का सम्मिश्रण और समावेश अपने आप होता रहा है आक्रमण भौगोलिक और शासनिक मात्र रह जाते थे केवल उनमें परिवर्तन करते थे, वह भी सीमित जो शासन के निकट अपने को ले जाते थे उससे स्वार्थ-

साधना में लगे रहते थे या अनुकरण से चाटुकारिता प्रदर्शित करने लगते थे। अत्याचार के रूप में परिवर्तन बहुत थोपे गए, धार्मिक परिवर्तन तक, परन्तु दोनों, संख्या और प्रभाव, में ये अधिक नहीं हो पाते थे और थोड़ी ढील मिलते ही उलट जाते थे। मुसलमानों और ईसाइयों के पहले जो आक्रमणकारी इस देश में आए, वे सब इस देश की संस्कृति में समाहित हो गए, जिसका सबसे ताजा, फिर भी चार सौ साल पुराना, उदाहरण असम का है—अहोम बर्मा से अपनी सुविस्तृत संस्कृति लेकर आए और कुछ ही दशकों में असम में ऐसे घुल-मिल गए कि ये भारतीय संस्कृति के प्रख्यात उन्नायक बन गए। उन्होंने यह सबलता और प्राप्त की कि मुगलकाल में अपने यहाँ मुगल साम्राज्य नहीं होने दिया और अंग्रेजों ने भी वहाँ आधिपत्य धोखे से प्राप्त किया। सांस्कृतिक सम्मिश्रण यदि सदाशय और सहानुभूति से हो तो उससे प्रदूषण नहीं, प्रसन्नता होती है।

इसे नितान्त धार्मिक दुराग्रह और साम्प्रदायिक वितंडा माना गया तो स्थिति को समझने में कठिनाई होगी। जो आक्रमण इस समय आशंकित और आतंकित हैं, उनमें मुस्लिम देश पाकिस्तान का सशस्त्र प्रयत्न और ईसाई मतावलम्बी पश्चिमी देशों का सांस्कृतिक आक्रमण ही प्रमुख हैं। चीन से सीमा-विवाद है और इस भू-भाग में वर्चस्व की ईर्ष्या। इसने चीन को पाकिस्तान का प्रमुख समर्थक बना दिया है।

जो सशस्त्र प्रयत्न हो सकते हैं, उनसे सुरक्षा देने के लिए भारत सैनिक तैयारियाँ मजबूत कर रहा है, परन्तु भारतीय संस्कृति में अधिक ही श्रद्धा व्यक्त करने वाली भारतीय जनता पार्टी के उन्नत संस्कृति से अपने को प्रबुद्ध मानने वाले प्रधानमंत्री से गलती यह हुई कि उन्होंने पाकिस्तान और चीन को पहले शान्ति, सहानुभूति और समझदारी से जीतने की कोशिश नहीं की, जो ही अधिक संस्कारवान और सुसंस्कृत मार्ग माना जाता। दम्भ, सैनिक शक्ति का दम्भ भी, दूषण होता है, और सांस्कृतिक निर्धनता दर्शाता है।

इसके भीतर यह बात है कि जो संख्या में स्वल्प थे, उनके भय, उनकी निर्धनता, असुविधा, असमानता दूर करने के पर्याप्त प्रयत्न देश की स्वतन्त्रता के बाद नहीं हुए। उल्टे, जातिगत छोटेपन से बड़े राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के प्रयत्न निरन्तर बढ़ते रहे। आरक्षण इसका उत्तर नहीं है कि जो पिछड़े थे, उन्हें उठाया क्यों नहीं गया।

जनसंचार माध्यमों का जुड़ाव इस समस्या से यहीं से शुरू होता है। थोड़ी इससे भी पहले की बात है। स्वतन्त्रता संग्राम में जितने राजनेता लगे थे, उतने ही सम्पादक और पत्रकार। सत्ता-प्राप्ति से जो सम्पादक और पत्रकार वंचित रह गए, वे सब सत्ताभिमुख हो गए। कुछ उस पर क्रोध करने वाले बन गए, ज्यादा उससे लाभ उठाने में लग गए। बुरा असर इसका पड़ा कि जब सत्ता में पहुँचने वाले अनाप-सनाप, गलत-सही रास्ते से, धनोपार्जन करने लगे, पत्रकारिता ने भी इसके रास्ते खोज लिए। दोषी और अपराधी राजनीति में जाने वाले बने तो पत्रकारिता में रहने वाले भी बन गए। कुछ लेकर जब राजनेता सुविधाएँ देने लगे तो कुछ लेकर पत्र-संचालक भी कुछ स्थान देने लगे—दोनों यह भूल गए कि सुविधाएँ उनकी नहीं राष्ट्र की सम्पत्ति हैं में स्थान स्वार्थ साधना के लिए नहीं जन

सेवा के लिए होता है। परिणाम दोनों को भुगतने पड़े हैं—वे सब राजनेता मतदाताओं द्वारा दुतकारे और दूर किये गए हैं, और पत्रकारिता की प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता चूर-चूर हुई है।

स्वतन्त्रता संग्राम से निकले राजनेताओं का यह हाल था कि विदेशों को जाने की सुविधाएँ बढ़ते ही वे सब विदेशी सामग्रियों से अपने घर सजाने लगे। देश का निकृष्ट और विदेश का श्रेष्ठ होता है, यदि यह वास्तविकता भी ऐतिहासिक कारणों से थी तो इसे दूर करने के प्रयत्न की जगह, हमारे राजनेता विदेशी श्रेष्ठता की मूल्यवानता बढ़ाने में लग गए। स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों से प्रारम्भ हुआ यह प्रदूषण अब तक चल रहा है। हम विदेशी पूँजी, विदेशी तकनीक, विदेशी उपचार, विदेशी निर्यात, विदेशी आयात और अनुकरण से इस समय बहुत अधिक आबद्ध हैं। यह आधारिक प्रदूषण है, जिसने सांस्कृतिक प्रदूषण के लिए दरवाजे खोले हैं।

धन का प्रलोभन नवसृजित पश्चिमी संस्कृति का मुख्याकर्षण है, सर्वोच्च मूल्य है, यह भी कहा जा सकता है। कलाकार है, संगीतकार है, नृत्य-निपुण है, अभिनेता है, साहित्यकार है, उसका भी तोल यह बनाया जाता है कि उसकी आय कितनी होती है। कोई सीमा इसकी नहीं रही है, जिसे खेलों के मैदानों में इस तरह देखा जा सकता है कि स्वर्ण और रजत पदक प्राप्तकर्त्ता भी अनुचित आचरण के कारण इन पारितोषिकों से वंचित किये जाते हैं। पत्रकारिता में भी उच्चतम पुरस्कार अनुचित आचरण के कारण छीने गए हैं। पुरस्कार जब निर्धारित होते हैं, मापदण्ड दूषित कर लिए जाते हैं। नोबेल पुरस्कार तक के बारे में शिकायतें हैं। ये सब पुरस्कार सम्बन्धित संस्कृति के उच्चतम प्रतिमान होते हैं और जब दोष इन तक पहुँच गया है, इसका आन्तरिक प्रदूषण स्वतःसिद्ध होता है।

और हम इसके आयात में जुट गए हैं। जनसंचार माध्यमों के बारे में यह चेतावनी आरम्भ से रही है, विशेषतः टेलीविजन को लेकर कि यदि संख्यात्मक विकास के साथ देश में प्रदर्शनीय सामग्री की समृद्धि की समुचित व्यवस्था नहीं की गई तो आयात और अनुकरण के दोष दूषित और जर्जरित कर देंगे। जनसंचार माध्यमों में सांस्कृतिक प्रदूषण की आशंकाएँ इस प्रकार से प्रारम्भ से रही हैं।

इसे भी शुभ नहीं माना जा सकता कि रेडियो और टेलीविजन ने अपने प्रसार के साथ कार्यक्रमों की बढ़ती आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए सिनेमा की शरण ले ली, जो पहले से ही सांस्कृतिक प्रदूषण के लिए 'प्रसिद्ध' हो गया था। सिनेमा जैसे-जैसे बढ़ा, उसका पतन हुआ। दर्शकों और धन की बढ़ती होड़ ने स्तर और मान्यताएँ दोनों गिराईं और उन्हे टेलीविजन तथा रेडियो ने अपना लिया।

यह स्थिति ज्यादा खुलती, इसके पहले विदेशी टेलीविजन संचालकों के कार्यक्रम भारत में आने लगे—पहले दूरदर्शन पर, फिर स्वतन्त्रत चैनलों पर। अब तो तकनीक इतनी बढ़ गई है कि आयातित सम्पूर्ण का आनन्द' घर घर में प्राप्त किया जा सकता है

एक प्राचीनता से प्रतिबद्ध विचारधारा है। संकीर्णता इसमें अवश्यम्भावी है जबकि सारा संसार अपनी समस्त सीमाओं से उन्मुक्त हो रहा है। दुनिया एक गाँव तेजी से बनती जा रही है—यह सम्भव हो गया है कि पुस्तक हो या कोई कार्यक्रम, कहीं से तत्क्षण लेकर आप अपने घर पर उसका लाभ और आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

यह बहुत सही है कि अपने को मजबूत करके ही ऐसे प्रवाहों का सामना किया जा सकता है। सैनिक आक्रमण तक सांस्कृतिक सशक्तता के बिना परिणामहीन नहीं किये जा सकते। बात इससे ऊपर और आगे की हो रही है।

इस सन्दर्भ में देश की स्थिति सब तरह सुधारने का सवाल उठाया जाए तो इसे जनसंचार माध्यमों के प्रश्न के परे माना जाने लगेगा, परन्तु जनसंचार माध्यमों पर यहाँ स्वतन्त्रत रूप से विचार नहीं है—वे देश के भीतर क्या कर रहे हैं, क्या प्रभाव उनका देशवासियों पर हो रहा है, यही तो प्रश्न है। आक्रमण की जब बात उठती है, कोई टेलीविजन केन्द्र या रेडियो केन्द्र या समाचारपत्र कार्यालय की बात नहीं करता।

इन सबसे जो प्रसारित और प्रकाशित होता है, वही यहाँ मुख्यत: विचारणीय प्रश्न है। परन्तु इससे विलग मान कर भी इसका सामना किये बिना काम नहीं चल सकता कि प्रदूषित जो है, उसका प्रभाव जो निर्बल और अस्वस्थ शरीर है, उसी पर अधिक होता है। मुख्य बात यह होती है कि हम भारत के दिल–दिमाग को मजबूत कैसे बनाएँ! बड़ा विषय यह है, इतना कि इसे विगत पचास वर्षों में विचार में ही पूरी तरह नहीं लाया गया। बिना कार्यक्रम और सुनियोजित प्रयत्न के कुछ नहीं होने का, और अगर देशवासियों की चारित्रिक गिरावट नहीं रोकी गई तो प्रदूषण और भी भयंकर रूप लेगा, जिसमें यह भी शामिल है कि स्वतन्त्र देशों की स्वतन्त्रता निरन्तर संकट में रहती है।

यह पारस्परिक निर्भरता का प्रश्न भी है। जनसंचार माध्यम देशवासियों की चारित्रिक सशक्तता बनाने-बढ़ाने में बहुत योगदान कर सकते हैं, और यदि देशवासी उचित, उन्नत अपेक्षाएँ करें तो जनसंचार माध्यमों द्वारा प्रस्तुत सामग्री स्वयं उचित, उन्नत हो सकती है।

जिसे 'प्रिन्ट मीडिया', मुद्रित जनसंचार माध्यम कहा जाता है, उनमें यह अलग से दूषण हो गया है कि इसमें दैनिक ही मुख्य रूप से सामने हैं। स्वतन्त्रता के बाद हमने साप्ताहिकों, पाक्षिकों, मासिकों, त्रैमासिकों आदि को समाप्त कर लिया है। यह सांस्कृतिक प्रदूषण से बहुत अधिक सम्बद्ध बात है, क्योंकि देशी-विदेशी विज्ञापनदाताओं के अतिरिक्त हमारे दैनिक विदेशी समाचार समितियों और समाचारपत्रों पर भी बहुत निर्भर हैं। वाशिंगटन और पेरिस की बातें हमें पहले बताई जाती हैं। गोहाटी या भोपाल अधिक निकट हैं, इसकी याद कोई नहीं रखता। पश्चिमी पत्रकारिता से हमने यह बहुत लिया है कि जो अनुचित और आश्चर्यकारी होता है, वही अधिक प्रकाशनीय होता है। स्वतन्त्रता ने जो रचनात्मकता की अपेक्षा बनाई थी, उसको भारतीय पत्रकारिता ने अंगीकार नहीं किया। दोष-दर्शन और क्रोध-प्रदर्शन तक में वह राजनेताओं की भृकुटि-संचालित बनी रही। यदि पाठकाभिमुख वह रहती तो [illegible] पर इतने [illegible] नहीं होते इतनी अभाव–[illegible] नहीं सतातीं और

अज्ञान-शोषण का ऐसा ताण्डव नहीं होता। पत्रकारिता जो कवच और प्रत्याक्रमण होती है, उससे उसने भारतीय जनता को वंचित रखा। दयनीय स्थिति यह है कि जिन्हें मतदाता चुनाव में हराते हैं, उनकी प्रशंसा में समाचारपत्र चुनावों के पहले तक लगे रहते हैं। हित की बात ले या रुचि की, समाचारपत्र उनके साथ नहीं रहे जो इस देश की प्रभुसत्ता के वास्तविक स्वामी हैं।

यह उनकी उपेक्षा उनसे सांस्कृतिक सामग्री और कर्त्तव्यों का ध्यान रखाए, यह होने वाला ही नहीं था। हमारे यहाँ जो धनाढ्य वर्ग बढ़ा है, वह संख्या में ही अमेरिका की समस्त जनसंख्या के बराबर नहीं है, सब तरह से अमेरिका से बराबरी करने में जुटा है। सांस्कृतिक दुर्बलता यह होती है, जिससे लाभार्जन जनसंचार माध्यम सांस्कृतिक प्रदूषण फैलाकर प्राप्त कर रहे हैं। स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र राष्ट्र की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं।

जनसंचार माध्यमों से सम्बन्धित प्रश्न विचार-सभाओं और विद्वत्जनों की संगोष्ठियों में आने लगे हैं लेकिन जिनके हाथों में इनका संचालन है, वे राष्ट्रभक्ति और राष्ट्र के प्रति दायित्वों से अपने को दूर बनाये हुए हैं। स्वतन्त्रता किसी की हो, किसी भी प्रकार की हो, उसके लिए सशक्तता-सावधानी की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही परित्याग और बलिदान की। देश में धूम्रपान कम हो, इसके लिए प्राप्त विज्ञापनों का प्रभाव क्या होगा, जब ज्यादा बड़े विज्ञापन सिगरेट कम्पनियों के छापे जाते हैं। धूम्रपान यदि हानिकारक है तो जनसंचार माध्यमों को उसकी आय से अपने को वंचित करना होगा। यह एक उदाहरण है, इस बात का कि चरित्रहीनता में से चरित्र-निर्माण के उपदेश दिए जा रहे हैं। सांस्कृतिक प्रदूषण इसी प्रकार की मानसिकता का प्रसार है, और चूँकि संस्कृति और भी गहरी और व्यापक वस्तुस्थिति होती है, जनसंचार माध्यमों को स्वयं अपने पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण पर पूरी तरह विचार करना होगा।

❑

सूचना के अधिकार का आकार

यह समय ऐसा है जब हर विषय पर विचार पिछले अनुभव और अपेक्षाओ के आधार पर करना होगा। देश की स्वाधीनता को पचास वर्ष हुए हैं और भारत में गणतन्त्र पद्धति पचास वर्ष पूरे करने जा रही है। स्वाधीनता ने क्या वह मुक्ति, शान्ति और समरसता दी जिसकी अपेक्षाएँ स्वाधीनता संग्राम के समय से की जा रही थीं, जिसका उत्तर अधिकाश मे इस समय नकारात्मक है। गणतन्त्र से हमें वह न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता मिलनी थी, जिसे संविधान का उद्देश्य बनाया गया है। स्पष्ट है कि स्थिति इस दृष्टि से भी सन्तोषप्रद नहीं है। जो उपलब्धियाँ भारत देश की उसके स्वतन्त्र होने के बाद से रही हैं, उनका ज्ञान और सम्मान उन्हें कम नहीं है, जो अर्ध-शती का सिंहावलोकन अधिक मूलभूत आधारो पर करते हैं, अथवा मानते यह हैं कि शासन संचालन और उसकी सफलताएँ चाहे जितनी हों, जो स्थिति सामान्य और अधिकांश देशवासियों की है, वही कसौटी होगी अब तक के प्रयत्नों के परीक्षण की।

असल में ऐसा ही हो रहा है। देश की दृष्टि से जो नरसिंह राव सरकार थी, वह गई ही इस पछतावे के साथ कि उसकी उपलब्धियों का पर्याप्त आकलन नहीं हुआ। राज्य (राजस्थान) स्तर पर भैरोंसिंह शेखावत सरकार की पराजय का परिमाण उन तक के लिए आश्चर्यकारी रहा जो विरोध में निर्वाचन-संग्राम में उतरे थे। दोनों धरातलों पर वास्तविकता यह थी कि सफलताओं से अधिक वे समस्याएँ थीं, जिनसे सामान्य देशवासियों को जूझना पड़ रहा है। इसे सम्पूर्णत: समझा जाना चाहिए कि शासन-कार्य चाहे जितने विभागों मे विभक्त हो, उसके प्रयत्नों के परिणाम का आकलन सामूहिक रूप से होता है, सरकार अच्छी है, बुरी है, काम की है, नाकाम है। मतदान जब होता है, दृष्टिकोण इसी प्रकार से समग्र स्वरूप ले लेता है। यह सही है, चूँकि संविधान में शासन संचालन की व्यवस्थाओं के जो प्रावधान हैं, उनके परिणाम उन उद्देश्यों की परिपूर्ति से ही नापे जाएँगे, जिन्हें 'उद्देशिका' में अंकित किया गया है।

कोई भी प्रयत्न परिपूर्ण परिणाम प्रदान नहीं करेगा, इतनी व्यावहारिक बात मतदाता भली प्रकार से समझते हैं—असम्भव की अपेक्षा वे नहीं करते। जो कष्ट और कठिनाइयाँ अनायास आ जाती हैं, उनका आकलन भी रहता है। भारत शासन संचालन का स्वतन्त्रता के प्रथम पचास वर्षों में यह निष्कर्ष रहा कि शासन सुचारुता से नहीं चलाया गया, जिस कारण एक ओर समुन्नति, सुविधा और सुरक्षा की अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुईं, दूसरी ओर अक्षमता, अपराध और अनाचार शासनकर्ताओं में इतना फैला कि देश के अधिकांश लोगों का जीवनयापन का स्तर उठने की जगह गिरता गया और उन्नति तथा समृद्धि के साधन संख्या मे अल्प वर्ग के बंधक हो गए। प्रगति अथवा विकास के जो मंसूबे बने चाहे स्थानीय रूप से चाहे विदेशी सहयोग से उनके पूरे होने में घुन शासन की और खराबियाँ बन

गई। इसलिए जो संगठित दल—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस—स्वतन्त्रता के साथ देश के शासन पर आरूढ़ हुआ और जिसके हाथ में इस अवधि के अधिकांश भाग का शासनाधिकार रहा, वह इस अवधि की समाप्ति के समय केन्द्रीय शासन से सम्पूर्ण रूप से बहिष्कृत था और इस दल के उम्मीददारों से बचने के लिए मतदाताओं द्वारा शासन में ऐसे भेजे गए थे, जो काम चलाऊ प्रबन्ध से ज्यादा कुछ कर ही नहीं सकते थे, लेकिन इनके लच्छन ऐसे रहे कि मतदाता इनके पक्ष में भी नहीं हो सका। शासन की असफलता में से शासन की अस्थिरता उत्पन्न हुई है। इतनी ही गनीमत है कि अभी लोकतन्त्र पद्धति से आशाएँ समाप्त नहीं हुई हैं। बार-बार सबल लगने वाले दल और उम्मीदवार निर्वाचकों द्वारा परास्त किए गए, परन्तु जो निर्वाचन बाद में हुए, उनमें मतदान का औसत कम नहीं हुआ। भविष्य के सम्बन्ध मे जो आशावादिता बनी हुई है, उसका यह आधार है।

जो असफल होता है, उसका आदर कम हो जाता है। जो भारत का और राज्यों के रूप में उसके अंगों के शासन हैं, उनके प्रति बढ़ता अनादर चिन्ता का तो विषय है, परन्तु इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। दूसरे, जो सफल नहीं हो पाता, उसके तौर-तरीके, पिछली कारगुजारियाँ और भविष्य की योजनाएँ, सब निर्मम निरीक्षण में आ जाती हैं। जो सूचना के अधिकार की आवाजें पिछले कुछ वर्षों में उठी हैं, वे मूर्त रूप से भारत के शासनों के दोषो, दुर्गुणों और निर्धारित कार्यक्रमों की परिपूर्ति के अभावों में से निकली हैं।

दो-तीन चीजों को लें। 1998 में मानवाधिकारों की विश्व-घोषणा ने पचास वर्ष पूर किए। हमारे संविधान ने जो 'मूल अधिकार' और 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' निर्धारित किए थे, उनको भी पचास वर्ष हो रहे हैं। समानान्तर रूप से इस अवधि में एक ओर पंचवर्षीय योजनाएँ रही हैं, दूसरी ओर विभिन्न राजनीतिक दलों के निर्वाचन-घोषणा-पत्र। सार्वजनिक क्षेत्र में जो संस्थाएँ हैं, उनकी ओर से विधायिकाओं में, और उनके बाहर, अनेकानेक आश्वासन दिए जाते रहे। इन सबके प्रत्येक अंश पर विचार का नहीं, इसका जवाब लेने का यह समय है कि इनके अनुसार इस अर्ध-शताब्दी में कार्य क्यों नहीं हुआ। उदाहरण के रूप में कुछ बातें लें। मानवाधिकार घोषणा में कहा गया है कि किसी को अमानवीय यातनाएँ नहीं दी जाएँगी, और पुलिस हिरासत में मौतें हो रही हैं। संविधान के मूल अधिकार मानव का दुर्व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलात् श्रम प्रतिनिषिद्ध करते हैं, और बालकों का कारखानों या खानों में नियोजन को प्रतिबन्धित करते है। इनकी समाप्ति नहीं हो सकी है, और बलात् श्रम शासनारूढ़ व्यक्तियों के यहाँ बलात्कार तक का होता है अथवा अवस्था ऐसी बना दी जाती है जब ऐसी यातनाएँ सेवा का सामान्य संकट माना जाने लगता है। नीति के निदेशक तत्त्वों में बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के उपबन्ध तो थे ही, परन्तु सर्वोपरि था—"राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था को, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।

समस्या यह है कि यह प्रयास इतना और इस तरह नहीं हुआ कि सर्वसामान्य को सन्तोष हो। ये सर्वसामान्य ही सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य के स्वामी हैं, इसे समझा तभी जाता है जब सामान्यतः सदा सर्वथा के लिए शासन पर अपने एकाधिकार के विश्वासी, इन्हीं सर्वसामान्य द्वारा शासन से बहिष्कृत किए जाते हैं, परन्तु पहले तो यह बार-बार नहीं हो सकता। दूसरे शासन सिर्फ शासन के लिए नहीं बनाए जाते। विगत पच्चीस वर्षों में शासन स्थायी निश्चिन्त अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सके, यह उनका अपना दोष है। जो उन्हें निर्वाचित करते हैं, उन्हें चिन्ता शासन के स्वरूप अथवा अवधि की नहीं, उन अपेक्षाओं की परिपूर्ति की रहती है, जिनका वचन उपर्युक्त दस्तावेजों द्वारा दिया जाता रहा है।

अतएव सूचना के अधिकार के सम्बन्ध में यह समझा जाना चाहिए कि इसका औचित्य, प्रयोजन अथवा विस्तार केवल मात्र शासनिक प्रक्रिया तक सीमित नहीं है—यह तो साधन की परिशुद्धि एवं परिणामशीलता तक की ही बात हुई। ऊपर जो दस्तावेज उल्लेख मे आए, मानवाधिकार घोषणा से सार्वजनिक घोषणाओं तक, वे सबके सब, उनके परिणाम के सन्दर्भ में, छानबीन का विषय होते हैं, और इन सबके सन्दर्भ में शासन की जिम्मेदारी बनती है और उससे सवाल लिए जा सकते हैं। यह दया या उदारता, सुविधा अथवा प्रक्रिया का प्रश्न नहीं है। जैसे यदि किसी सूचना से कोई कार्यरत सरकार गिर सकती है तो इसको उस सूचना को नहीं देने का अधिकार नहीं बनाया जा सकता। सूचना का अधिकार उन वादो मे से निकला है, जिनका समावेश उपर्युक्त घोषणाओं आदि में है।

सत्ता के जो साझेदार बनते जाते हैं, उन सब पर भी यह अधिकार लागू होता जाता है। जो राजनीतिक संस्थाएँ निर्वाचन प्रक्रिया से शासनाधिकार प्राप्त करती हैं, उनके सम्बन्ध मे माँगने पर हर एक सूचना देनी होगी। इसमें यह आता है कि वे अपने कार्य-संचालन के लिए धन कहाँ से, कितना प्राप्त करती हैं अथवा अपने नियमित निर्वाचन निर्धारित समयावधि से कराती हैं या नहीं, उनके आय-व्यय की समुचित जाँच होती है या नहीं।

जो भी व्यावसायिक, औद्योगिक, व्यापारी और इनसे सम्बद्ध प्रतिष्ठान देश के या किसी राज्य के शासन से किसी भी प्रकार से लाभान्वित होते हैं, वे सबके सब सूचना के अधिकार की परिधि में आते हैं। इसका आधार यह है कि जब आप शासन से सुविधा, संरक्षण और लाभार्जन के अवसर प्राप्त करते हैं, जो शासन के वास्तविक स्वामी हैं—देश के नागरिक—उनकी निगरानी से अपने आपको नहीं बचा सकते। उदाहरण के रूप में इसे लें कि एक अधिकारी घूस लेता है। घूस देने वाले के हिसाब की जाँच से ही इसे प्रमाणित किया जा सकता है। गलत माल दिया जाता है, देने वाले के विवरण ही यह बताएँगे कि धोखा कैसे हुआ है।

इस सम्बन्ध में भय जो हैं, उनके नानारूपी आकार हो गए हैं, जैसे अब एलोपैथी की दवाओं के साथ यह जानकारी होती है कि इनमें क्या-क्या कितना-कितना है, तब आयुर्वेदिक और यूनानी दवाओं के बारे में ऐसा क्यों नहीं है, जिनमें सोना-चाँदी से भी अधिक मूल्य की सामग्री होने का दावा किया जाता है। सूचना के अधिकार से ही तो यह पोल खुली कि जो पेय केसर कस्तूरी के नाम से बिकता था उसमें इस बहुमूल्य सामग्री का

कोई अंश नहीं होता था, जबकि रंग उसका दिया जाता था। मिलावट, जिससे सारा देश परेशान और बदनाम है, सूचना के अधिकार से कम की जा सकती है।

अधिकार के उपयोग की सम्भावना को समुचित व्यवस्था से जहाँ तक हो सके, कम किया जाना चाहिए, ऐसे नियम बनाकर कि वांछित सूचनाएँ स्वतः प्रदान करना अनिवार्य हो जाए। दवाओं की बात ऊपर आई। उपभोक्ता सामग्री जितनी है, उस सब पर इसे लागू किया जाना चाहिए, जैसे 'ऊनी' कपड़े में वास्तव में ऊन कितनी है। हमें हर तरह से धोखे देने के मौके बन्द करने होंगे, इस सूचना के अधिकार को विस्तृत करके। देश के शासन ने जब देश के बाहर के प्रतिष्ठानों के लिए देश के द्वार खोले हैं, देश के अन्य नियमों-कानूनों के साथ सूचना का अधिकार भी उन पर लागू होता है। इन प्रतिष्ठानों में से पचास से अधिक ऐसे बताए जाते हैं, जिनका वित्तीय आकार संसार के अधिकांश राष्ट्रों से अधिक विशाल है। अत्यन्त शंकास्पद है कि कोई शासन इन पर सूचना का ऐसा अधिकार लागू कर पाएगा, जिससे भोपाल गैस-नरसंहार जैसी दुःखान्तिकाएँ नहीं हों। परन्तु असमर्थता को औचित्य नहीं बनाया जा सकता। सूचना का अधिकार प्रत्येक शर्तनामे में शामिल करके नियन्त्रण को कारगर बनाया जा सकता है।

जहाँ तक स्वयं सरकारों का क्षेत्र है, शासन का विकेन्द्रीकरण उनके अब तक के स्वरूप और प्रयत्न का परिणाम है। अब जब हर गाँव, कस्बे और नगर में स्वायत्त शासन का विस्तार हो रहा है, सूचना के अधिकार को भी साथ-साथ हर स्तर पर लाना होगा। अवश्य धीरे-धीरे इस अधिकार से अपेक्षाएँ करने वाले ही साक्षात् शासनाधिकार प्राप्त करेंगे, परन्तु प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था फिर भी लागू रहेगी और जो उसके बाहर रहेंगे, उनके लिए सूचना का अधिकार आवश्यक रहेगा।

स्वयं शासन के अन्तरंग में सूचना प्रबन्ध की व्यापक व्यवस्था है—ऊपर के अधिकारियों को सामयिक कार्य-विवरण, विधायिका को वार्षिक विवरण, सार्वजनिक रूप से निकाले गए विवरण, पत्रकारों द्वारा प्रश्नोत्तर आदि। जो आन्तरिक रूप से और बाह्य रूप से हिसाब के निरीक्षण होते हैं, उनमें भी जानकारियाँ निरन्तर माँगी जाती हैं। इस समस्त व्यवस्था को पंगु बनाया गया है, इसमें से रास्ते निकाले गए हैं जो भ्रष्टाचार के रूप में उजागर होते रहते हैं। व्यवस्था को और कड़ा करके स्थिति को सम्भाला जा सकता है। यह देश के लिए बहुत बुरा है कि भ्रष्टाचार की एक मात्रा को शासनिक स्थितियों का स्वाभाविक अंग माना जाने लगा है।

जो आन्दोलन समानान्तर रूप से चल रहे हैं, जैसे—मानवाधिकार, महिलाओं के अधिकार, दलित और पिछड़ों को अधिकार, कार्यस्थलों पर सुरक्षा-प्रबन्ध, समान कार्य के लिए समान वेतन, कार्यस्थलों पर यौन-उत्पीड़न, पर्यावरण संरक्षण, सबके लिए शिक्षा, सबके लिए स्वास्थ्य, बाल श्रम निषेध, हिरासत में मौतें आदि, सूचना के अधिकार को उनका भी आन्तरिक अंग बनाना होगा। वास्तविकताओं से अवगत हुए बिना इनमें से किसी आन्दोलन में से परिणाम नहीं प्राप्त किए जा सकते। चिन्ता के नए नए क्षेत्र बनते जा रहे हैं जैसे बाल-वेश्याएँ, पर्यटकों को धोखा, संरक्षित पशुओं का पोषाहार मानव समुदायों में भूख

से मौतें, वृद्ध सहायता, पुलिस और सेना द्वारा हत्याएँ, परीक्षणों में अनियमितताएँ, प्रसूतियो के लिए पर्याप्त पोषण आदि, जिनमें मूलतः कुप्रबन्ध ही शोषण का कारण और आधार बनता है। सूचना का अधिकार विस्तार प्राप्त करके ऐसे क्षेत्रों में राहत दिला सकता है।

रचनात्मक क्षेत्र में गैर-सरकारी संस्थाओं और उनके बहुआयामी कार्यक्रमों का बहुत विस्तार हुआ है। इनमें से अनेक ने पक्षपात और दुराचार इतना फैलाया है कि एक अलग से आन्दोलन इनके लिए नैतिक संहिता निर्माण का आरम्भ हुआ है, जो अपने आप इस क्षेत्र के लिए भी सूचना के अधिकार को अनिवार्य बनाता है।

हर एक अधिकार उसके प्रयोजन और प्रयोग से ही बल प्राप्त करता है। प्रयोजन की जितनी बात ऊपर आई, उसके पीछे यह है कि जो निर्वाचित संस्थाएँ रही हैं, संसद मे पचायतों तक, उनकी शासन व्यवस्था को परिणामशील बनाने और परिशुद्ध रखने के जो दायित्व थे, उन्हें इन संस्थाओं ने भली प्रकार नहीं निभाया। केन्द्र और राज्यों में विधायिकाओ की लोकलेखा परीक्षण, प्राक्कलन और आश्वासन समितियाँ होती हैं—ये सब मिलकर ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित नहीं कर सकीं कि घोटाले नहीं हों, यद्यपि यही इनका प्राथमिक कर्त्तव्य था। इसलिए सूचना का अधिकार व्यापक बना है, और इसीलिए यह आवश्यक हो गया है कि गैर-सरकारी क्षेत्र में, हर स्तर पर जहाँ जनजीवन से सम्बन्धित गतिविधि होती है, उनके आकार एवं प्रभाव के अनुरूप, समितियाँ और संगठन बनें जो जनसाधारण के हितों की देखभाल कर सकें। ऐसे संगठन बन रहे हैं, यही इनकी आवश्यकता का प्रमाण है। भारत के समुन्नत महानगर मुंबई में विभिन्न व्यवसायों से जुड़े कोई एक दर्जन उत्साही युवको ने 'प्रजा' नाम से स्वयंसेवक संगठन बनाया है, जिसने पहले वृहद मुंबई नगर निगम की सुविधाओं का विवरण देने वाला सूचना-पत्र तैयार किया, जिसमें यह भी वर्णित है कि सम्बन्धित सुविधा कितनी अवधि में, कहाँ, कितने आकार में प्रदान की जानी है, जैसे—कूडा उठाने वाली गाड़ी कहाँ कितने दिन में पहुँचती है। फिर इस सूचना-पत्र को नगर निगम से स्वीकार कराया गया। इस तरह आम लोगों में भावना बनी कि उनके लिए क्या-क्या सुविधाएँ उपलब्ध हैं और नगर निगम अधिकारी समय पर सुविधाएँ देने के बारे में सावधान हुए। फिर निगम के कर्मचारियों को इससे अवगत करने के लिए अभियान हुआ। अब सर्वसाधारण तक यह सूचना-पत्र पहुँचाया जा रहा है। 'प्रजा' जहाँ घोषित सुविधाएँ नहीं मिले, वहाँ का मामला अपने हाथों में लेने को तैयार रहती है।

इस अनुभव के कुछ निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं। कुछ थोड़े-से लोग ही आगे आ जाएँ तो सार्वजनिक हित की सुविधाओं को सर्वसाधारण तक वास्तव में पहुँचवा सकते हैं। दूसरे, वातावरण ऐसा बनाया जा सकता है कि जिन संस्थाओं पर सुविधाएँ नहीं देने के आरोप होते हैं, वे ही आन्दोलन-प्रक्रिया में सहभागी बन जाती हैं। तीसरे, ऐसे आन्दोलन अधिक व्यय-साधक नहीं होते, इनके लिए सेवा-भावना और सफलता का संकल्प होना चाहिए। चौथे, ऐसे आन्दोलन आवश्यक नहीं है कि प्रतिकूल अथवा विरोधी हों। जिस प्रयत्न का प्रयोजन जनहित हो उससे सेवा की सस्थाएँ अपने को अलग नहीं रख सकतीं

हर अधिकार की दुरुपयोगकारी आशंका रहती है। ब्रिटिश संसद, जिसे समस्त संसदीय संस्थाएँ अपना प्रेरक और प्रतिमान मानती हैं, उस तक में प्रश्न स्वार्थी हितों से घूस लेकर उठाए गए हैं। व्यापक हित और सीमित हित में अन्तर का विवेक ही समाचार के अधिकार को परिशुद्ध रखेगा, जो उसके सफल होने के लिए आवश्यक है।

भारत जैसे देश में जितनी अनिवार्यता स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की है, उतनी ही नैतिकता और सत्यता की। हर बात में होड़ और नकल ठीक नहीं होती, और जब भ्रष्टाचार को विश्वव्यापी बनाकर उसके संकटों का अवमूल्यन किया जाता है, तब ध्यान इसका रखा जाना चाहिए कि भारत से अपेक्षाएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। जो अतीत रहा है उसी के कारण नहीं, हमारे गाँधी जी के नेतृत्व में लड़े गए स्वतन्त्रता संग्राम ही ने उच्चता और पवित्रता के आदर्श अनुकरण के लिए निर्मित किए हैं। उनको छोड़कर हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते। सूचना का अधिकार इसमें सहायक होकर उभरा है।

❑

समाचारपत्र सम्पादक एवं समाज

मैंने अपने वर्षों से संचित अनुभव के आधार पर धीरे–धीरे एक आदर्श समाचारपत्र की धारणा बनाई है। ऐसा समाचारपत्र अपने प्रकाशित होने वाले स्थान के लोगों से अन्तरग रूप में जुड़ा हुआ रहेगा, साथ ही उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ भी अपेक्षित हैं—(1) वह स्थानीय जनजीवन एवं परम्पराओं से जुड़ा हुआ हो। वह उस क्षेत्र की आर्थिक समस्याओ, भौगोलिक परिस्थितियों, व्यापार, उद्योग, कृषि एवं श्रमिक वर्ग से भी सुपरिचित हो। (2) उसे अपने समुदाय पर गर्व हो और उसकी शान्ति तथा विकास में जो भी बाधक तत्त्व हो, उनसे वह लड़ सके। धोखाधड़ी करने वालों, उत्तरदायित्वहीन व्यवसायियों एवं नगर–अधिकारियों, भ्रष्ट पुलिस वालों और अन्य सभी विनाशकारी अथवा असामाजिक तत्त्वों का पर्दाफाश करने को वह सदा तत्पर रहे। अपना अभियान प्रभावशाली रूप में चलाने हेतु उसमे तकनीकी क्षमता भी हो। (3) स्थानीय संस्थाओं में उसकी गहरी रुचि हो—शालाए, अस्पताल, विश्वविद्यालय, शोध संस्थाएँ, पुनर्वास केन्द्र, युवा क्लब, महिला मण्डल, बच्चो एवं पशुओं के प्रति निर्दयता रोकने के लिए गठित संस्थाएँ, और इनके विपरीत कार्य करने वालों की भर्त्सना। आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि समाज कल्याण संस्थाएँ किस प्रकार समाचारपत्रों से मिले समर्थन के कारण कृतज्ञ महसूस करती हैं। समाचारपत्र से सम्बद्ध समालोचक स्थानीय समुदाय की कला, रंगमंच अथवा संगीत सम्बन्धी गतिविधियो को सतत तथा सुचारु रूप से चलते रहने में सहायक हो सकते हैं। वे इससे ज्यादा भी कुछ कर सकते हैं। पत्र के संवाददाता और खोजी लेखक सार्वजनिक सेवाओं को भ्रष्टाचार के दलदल में फँसने से बचाए रख सकते हैं। (4) उन्हें विभिन्न विषयों को पाठक के दृष्टिकोण से समझना और समझाना होगा—ऐसी सरल भाषा में जो वे तत्काल समझ लें। डेनियल डीफो की इस सन्दर्भ में कही गई उक्ति अभी भी उतनी ही प्रासंगिक है, "यदि मुझसे कोई पूछे कि उपयुक्त भाषा शैली कैसी होती है तो मैं यही कहूँगा कि वह ऐसी हो जो साधारण–से–साधारण व्यक्ति समझ सके।" पाठक को किसी बात को सम्प्रेषित करने का अर्थ है, उन्हे सोचने में तथा उदारवादी दृष्टिकोण अपनाने में सहायता देना। इस सन्दर्भ में उपयुक्त यह होगा कि पत्र में स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर चर्चा में सन्तुलन रखा जाए। (5) समाचारपत्र को समाज का एक आधार स्तम्भ होना चाहिए, एक ऐसी शक्ति जिसका समर्थन किसी भी समाज–सुधार अथवा परिवर्तन के अभियान में आवश्यक हो। यदि अनाज की कमी से राशनिंग आवश्यक हो जाता है, तो पत्र को उसे सफल बनाने में सहायक होना चाहिए यदि अपना सैनिकों को भूल जाता है तो भी पत्र को तो उन्हें याद रखना चाहिए यदि घरेलू नौकरों का शोषण होता है तो पत्र को उनका बचाव करना चाहिए

यदि एक व्यक्ति को भी अनुचित रूप से दण्डित किया जा रहा है, तो पत्र को व्यापक जाँच-पडताल के बाद उसे न्याय दिलवाने में सहायता करनी चाहिए। उसे घटनाओं का पूर्वानुमान लगाने में और घटित हो जाने पर उन पर बारीकी से नजर रखने में सक्षम होना चाहिए। अपने पाठकों के लिए वह नए विचारों का स्रोत हो। (6) उसे स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर संवाद का एक मंच होना चाहिए एवं विभिन्न विचारधारा रखने वाले लोगों के लिए अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का एक साधन। (7) अन्त में उसे समाज के सदस्यों को एक बेहतर जीवन बिताने में मार्गदर्शन देना चाहिए। विज्ञान द्वारा उपलब्ध साधनों का कैसे बेहतर उपयोग हो सकता है, कैसे अवकाश का उत्तम उपयोग सम्भव है, कौनसे स्थान पर्यटन के लिए उपयुक्त हैं, क्या खाना और पहनना चाहिए, कैसे स्वस्थ एवं चुस्त-दुरुस्त रहा जाए आदि ऐसे विषय हैं, जिनकी जानकारी पत्र दे सकता है।

ऊपर हमने समाज एवं समाचार के अन्तर्सम्बन्धों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ये सम्बन्ध निश्चित रूप से बहुत अन्तरंग एवं रचनात्मक हैं। अगला प्रश्न है—पत्र का गुणात्मक स्तर कैसा हो? इस सन्दर्भ में सबसे प्रमुख भूमिका स्वभावत: पत्र-सम्पादक की होती है। एक अच्छे सम्पादक में निम्नलिखित विशेषताएँ होना वांछनीय है—

(1) अब वे दिन लद गए जब सम्पादक के कार्य की इतिश्री केवल सम्पादकीय लिख देने भर से हो जाती थी। अब उसका कार्य एक ऐसे वाद्य समूह के संगीत निदेशक जैसा हो गया है, जो समूह के प्रत्येक सदस्य से उत्कृष्ट काम करवा सके। वह अपने कार्यालयीन परिवार के सभी सदस्यों के प्रयासों को संयोजित कर एक ऐसा समाचारपत्र निकालने में सक्षम होता है, जिसकी अपनी अलग से पहचान हो।

उसमें यह क्षमता भी होनी चाहिए कि वह समाचारपत्र के प्रत्येक विभाग के कार्यों से सम्बन्धित आयोजन कर सके और उन्हें अपने सामान्य नियन्त्रण में रख सके। यह तभी सम्भव है, जब उसका व्यक्तित्व बहुआयामी हो, उसकी रुचियों में विविधता हो, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह किसी भी विभाग का संचालन कर सके।

(2) लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है नेतृत्व गुण। वह अपने पत्र को तथा अपने स्टाफ दोनों को ही नेतृत्व देने में सक्षम हो।

उसे बहुत कल्पनाशील होना चाहिए ताकि वह ऊपर से साधारण एवं महत्त्वहीन दिखने वाली खबरों के आन्तरिक महत्त्व को तत्काल समझ सके और अच्छी समाचार कहानी की सम्भावनाएँ वहाँ देख सके जहाँ साधारण पत्रकार को ऐसा कुछ नहीं दिखता। समाचारपत्र को ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने चाहिएँ जो के मन को आन्दोलित करते हैं लेकिन अनुत्तरित रह जाते हैं

के अल्पसंख्यकों का, चाहे उनका आधार किसी भाषा, धर्म, आर्थिक आय या बौद्धिक स्तर का हो, उनकी चिन्ताओं एवं समस्याओं का, अन्तरंग ज्ञान होना चाहिए। उसे समस्याओं को किशोरों, गृहिणियों और अन्य वर्गों के साधारण लोगों के कोण से देखते रहना चाहिए ताकि समस्याओं का उसका विश्लेषण केवल बौद्धिक या सतही होकर न रह जाए।

आम आदमी के अन्तरंग में पैठकर देखने की क्षमता ही एक महान सम्पादक को जन्म देती है। इसी से पत्र के मानवीय मूल्य स्पष्ट होते हैं।

उसे अपने समाचारपत्र का हर दिन एक बिल्कुल नया दिन लगना चाहिए, उसमें अपने समुदाय और नगर को नएपन से देखने की क्षमता हो, तभी वह अपने पत्र को पठनीय और रुचिकर बना सकेगा।

यदि उसे किसी समाचार या उसके शीर्षक में कोई दोष दिखे तो उसे दोष को तत्काल सुधार लेना चाहिए। यदि वह पारखी है तो उसे ऐसे दोष फौरन नजर आ जाएँगे। उसमें घटनाओं के लम्बे विवरणों में से महत्त्वपूर्ण तथ्यों को निकाल लेने की क्षमता भी होनी चाहिए।

(3) इन आन्तरिक गुणों के अतिरिक्त उसे पर्याप्त तकनीकी जानकारी भी हो। वह पत्र के रंगरूप और छपाई के स्तर के प्रति भी संवेदनशील हो, साथ ही वह अच्छे समाचार-चित्रों का भी चयन कर सके। ऐसे गुणों के बिना समाचारपत्र को आकर्षक स्वरूप देना सम्भव नहीं है।

लेकिन तकनीकी गुणवत्ता साधनमात्र है, साध्य नहीं। मूल उद्देश्य तो समाज कल्याण हेतु सतत प्रयास है, हालाँकि आजकल बहुत-से सम्पादक यह भूल जाते हैं। वे पत्र को आकर्षक ले-आउट दे देते हैं और खूब सनसनीखेज खबरें छापते हैं, बड़े-बड़े उत्तेजक शीर्षक देते हैं ताकि पत्र खूब बिके। शायद बिक्री बढ़ाने में वे सफल भी हो जाते हैं लेकिन फिर भी वे भटके हुए लोग हैं। एक अच्छे पत्र का उद्देश्य केवल व्यावसायिक सफलता या सस्ती लोकप्रियता प्राप्त कर लेना भर नहीं है।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि सम्पादक पत्र के व्यावसायिक पहलू से पूर्णतः अनभिज्ञ हो। इस व्यवसाय के मूल तत्त्वों की उसे अच्छी जानकारी होनी चाहिए—उत्पादन की लागत, मशीनरी व प्लांट की सीमाएँ, बेहतर कार्य कर पाने की सम्भावनाएँ।

उसे अपने स्थान विशेष की विविध और व्यापक जानकारी होनी चाहिए—उस स्थान के इतिहास, उसकी विभिन्न संस्थाओं और उसके महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के विषय में। उसकी भौगोलिक विशेषताओं, सामाजिक संरचना, आर्थिक व्यवस्था, श्रमिक वर्ग, उसके पार्क, रेस्टोरेन्ट, उसकी गन्दी बस्तियाँ और कलानिधियाँ सभी उसकी जानकारी की परिधि में हो। सामाजिक परिवर्तन एवं सुधार, अल्पसंख्यक, महिलाओं की समस्याएं जैसे विषयों में उसकी गहरी रुचि होनी चाहिए

(4) अपने कार्यालय में विभिन्न रुचियों के एक व्यक्ति समूह का नेतृत्व करने की उसमें क्षमता हो। यह सम्भव है कि अपने विशिष्ट क्षेत्रों में ये व्यक्ति उससे अधिक प्रतिभाशाली हों। उसमें इन सभी को प्रेरित करने और उनसे सहयोग प्राप्त करने की क्षमता हो ताकि वे महसूस कर सकें कि समाचारपत्र एक जीवन्त वस्तु है—समाज का जागरूक जीवन बनाने का एक आवश्यक साधन। उसे अपने उन साथियों का आदर करना चाहिए जो उससे कुछ विषयों पर असहमत हों और उनको दूर रखना चाहिए जो केवल जी-हजूरी करना जानते हैं। किसी भी समाचारपत्र को नए विचार प्राय: उन लोगों से ही मिलते हैं जो दिन-रात उससे सम्बद्ध रहते हैं। अत: सम्पादक को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे वे प्रतिभाशाली व्यक्ति जो सुझाव देने में सक्षम हैं, आसानी से उससे मिल सकें। बाहर के लेखकों से भी वह अच्छी सामग्री मँगा सकने में समर्थ हो।

समाचारपत्र को राजनीतिक स्तर पर अपनी निष्पक्षता बनाए रखनी चाहिए। समाचारपत्रों के व्यापक प्रभाव के कारण राजनेता उसके सम्पादक से सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाने हेतु उत्सुक रहते हैं। सौहार्द्र वह भी बनाए रखे, लेकिन उनके फुसलाने में न आए, न ही राजनीतिक दबाव के समक्ष झुके।

समाज की अन्य संस्थाओं से उसके सम्बन्धों के विषय में भी यही तरीका उचित है। रचनात्मक कार्यों से सम्बद्ध होने के लिए उसे सदा तत्पर रहना चाहिए लेकिन निष्पक्ष आलोचना करने और कमजोरियों को उजागर करने का अपना मूल कर्त्तव्य छोड़कर नहीं। अधिकारी वर्ग के समक्ष झुकने से वह साफ मना कर दे, साथ ही अपने मित्रों का भी अवांछित रूप से बचाव करना उसके लिए उपयुक्त नहीं है।

जहाँ तक भारतीय समाचारपत्रों का प्रश्न है, मुझे उनमें सम्पादकीय गुणों की अभिव्यक्ति कम ही दिखती है। इसके कई कारण हैं—

(1) प्रथम तो तकनीकी ज्ञान और विशेषज्ञता की कमी है। इसके अभाव में सम्पादक अपने संवाददाताओं, सह-सम्पादकों, कॉलम लेखकों, कार्टूनिस्टों, औद्योगिक संवाददाताओं और अन्य विशेषज्ञ लेखकों का ठीक से उपयोग नहीं कर पाता और ऐसा न कर पाने के कारण उसे पर्याप्त और अच्छे समाचार भी नहीं मिल पाते। एक अच्छे सम्पादक को पुनर्गठन सर्वप्रथम इसी स्तर पर करना चाहिए और अपने संवाददाताओं को बहुत सक्रिय रखना चाहिए।

दिल्ली को ही लें। यहाँ के सार्वजनिक जीवन में बहुत-सी कमजोरियाँ हैं, लेकिन वे अखबारों में क्यों नहीं आ पातीं? उदाहरणार्थ, राजदूतवासों की सहायता से आयातित वस्तुओं का अवैध व्यापार बड़े पैमाने पर चलता है, लेकिन किसी ने उसकी खोजबीन नहीं की है। हर कोई चिकित्सकों के आर्थिक लाभ की बात करता है, लेकिन कोई भी इस सन्दर्भ में जानकारी क्यों नहीं प्रस्तुत करता? हमारी पाठशालाओं में किस प्रकार का इतिहास पढ़ाया जा रहा है? ट्रेनों वायुयानों में खाली सीटें रहते हुए भी हमसे यह क्यों कह दिया

जाता है कि आपका नाम वेटिंग लिस्ट में 30वें नम्बर पर है? जनसाधारण ऐसे अनगिनत प्रश्नों के स्पष्ट तथ्यात्मक उत्तर चाहता है, लेकिन सम्पादक उसे इस दिशा में अपना सहयोग देने में असमर्थ रहते हैं।

हमारे समाचारपत्रों के विभिन्न स्थानों से अलग-अलग संस्करण निकलते हैं लेकिन उनमें स्थानीय तत्त्वों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है, जो अनुचित है।

एक और समस्या भी है। कुछ अच्छे स्थापित प्रादेशिक समाचारपत्र हैं, लेकिन वे यह निश्चित करने में असमर्थ हैं कि वे प्रादेशिक ही रहें या राष्ट्रीय बनें। उनमें छपी जिलो की खबरें उबाऊ होती हैं और सम्पादकगण अपने जिला स्तर के संवाददाताओं में इस स्तर पर आवश्यक गुणात्मक सुधार लाने में असमर्थ हैं।

(2) दूसरा बड़ा दोष समाज से अलगाव है, जो प्राय: सम्पादक के कारण ही होता है। उदाहरणार्थ, बंगाल और महाराष्ट्र में अब ऐसे कई समाचारपत्र हैं, जो पिछले कुछ वर्षो से सम्पादन शैली में पूरी तरह बदल दिए गए हैं और वे जनसाधारण की समस्याओं एवं रुचियों के अधिक निकट हैं, लेकिन वे अपवाद हैं। अधिकांश अखबार और उनके सम्पादक यह जानने की ज्यादा कोशिश नहीं करते कि उनका पाठक वर्ग किस प्रकार का है।

इनमें से अधिकांश के कार्यालयों में आधारभूत सामग्री भी नहीं होती—उनके प्रदेश के सम्बन्धित नक्शे, ऐतिहासिक पुस्तकें, गजेटियर, आँकड़े, आर्थिक सर्वेक्षण आदि। सवाददाताओं एवं सहसम्पादकों को उस स्थान अथवा क्षेत्र के स्मारकों एवं विभिन्न संस्थाओ की अधिक जानकारी नहीं होती। कभी-कभी वह शहर जहाँ से वह समाचारपत्र निकलता है, पहले पृष्ठ से प्राय: गायब ही रहता है, जैसा मैंने गुजरात में देखा। सही प्राथमिकताओं का निर्धारण सम्पादक ही कर सकता है। भारत भर में समाचारपत्र कार्यालयों को देखने से मुझे अधिकांश में उस उत्साह का अभाव दिखा जो वहाँ होना चाहिए, क्योंकि समाचारपत्र एक क्षेत्र विशेष के हृदय के स्पन्दन की भाँति है।

वाल्टर लिपमैन ने एक बार देश की राजधानी में स्थित संवाददाताओं को सामयिक इतिहास का अनौपचारिक लेखक बताया था। उत्कृष्ट पत्रकारों की भूमिका का यह सही वर्णन है लेकिन जिसकी वह सेवा करता है, उस स्थानीय समाज के सन्दर्भ में भी अखबार की भूमिका समझ लेना आवश्यक है। कुछ वर्ष पूर्व टोकियो में हुई एक विचार गोष्ठी में एक जापानी पत्रकार श्री नीरो निशिमूरा ने एक शोधपत्र पढ़ा था, जो बहुत ही उत्कृष्ट स्तर का था। सामुदायिक सेवा की उनकी धारणा (और उनके अखबार 'निगाथा निप्पो' की व्यावहारिक नीति) केवल महत्त्वपूर्ण समाचारों की निष्पक्ष प्रस्तुति ही नहीं है। उनके समाचारपत्र ने कृषि प्रोत्साहन हेतु एक कृषि मेले का आयोजन किया, भाषण मालाएँ करवाईं, प्रदर्शनियाँ एवं संगीत सभाएँ भी हुईं। तरह-तरह के खेल भी आयोजित किये गए, एक बाल कला मेला लगाया गया कैंसर के इलाज के लिए धन एकत्रित किया गया उपभोक्ताओं के सहायतार्थ शोध की गई

हमारे युग में लोकोपकार ने दान-दक्षिणा मात्र न रहकर, जनसेवा का रूप ले लिया है, और अखबारों को ऐसी जनसेवा में अधिकाधिक भाग लेना चाहिए। विश्व के कई देशों में ऐसे फाउण्डेशन जनकल्याण हेतु बनाए जा रहे हैं जो समाचारपत्रों द्वारा अर्जित लाभ से चल रहे हैं। भारत में भी ऐसे कुछ बिरले समाचारपत्र हैं, जो अपने आर्थिक लाभ की अपेक्षा जनकल्याण की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। ऐसा व्यवहार और व्यापक स्तर पर होना वांछनीय है, हालाँकि ऐसी सामान्य प्रवृत्ति अभी तक नहीं बन पाई है।

(संकलित)

❑

राजस्थान का विकास और राजस्थान के समाचारपत्र

इस बात को स्पष्टतः सुस्थापित किए जाने की आवश्यकता है कि राजस्थान के विकास का राजस्थान के समाचारपत्रों से सीधा सम्बन्ध है। यदि राजस्थान का विकास होता है तो, समाचारपत्रों का अपने आप विकास होगा।

यहाँ 'अपने आप' ऐसी उक्ति है जो कई तरह के प्रश्न और कई तरह की शंकाएँ उत्पन्न करती है। मानवीय शरीर अथवा जंगली पौध के समान समाचारपत्र अपने आप विकसित नहीं हो सकते, वे तो अपने आप चल भी नहीं सकते। और, अपने आप विकसित मानवीय शरीर भी मनुष्य के काम का नहीं होता, पालन-पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण, संगत-प्रतियोगिता, अवलोकन-अध्ययन, न जाने कितनी प्रक्रियाएँ हैं जो मनुष्य को समाज के योग्य बनाती हैं। और, जंगली उपज का आनन्द जंगल में जाकर ही उठाया जा सकता है। जो कुछ आदमी के संसारिक दैनिक जीवन में काम आता है, उसे तो प्रयत्न, साधन, लागत और कौशल से ही प्राप्त किया जाता है। कुल आबादी के अनुपात में पत्र-पत्रिकाएँ इतनी कम हैं कि यह स्पष्टतः प्रकट है कि आदमी उनके बिना काम चला सकता है। उनके बिना जीवन का स्वरूप भिन्न अवश्य होगा, लेकिन समाचारपत्र मानव जीवन के लिए अनिवार्य नहीं है।

इस तरह ये दो स्थितियाँ हुईं। पहली यह कि बिना प्रयत्न, साधन, लागत और कौशल के आदमी के सांसारिक जीवन के काम आने वाली सामग्री नहीं बना करती। दूसरी यह कि मनुष्य के जीवन के लिए अनिवार्य नहीं होने के कारण, समाचारपत्रों का प्रणयन विशेष प्रयत्न अपेक्षित करता है।

सुधार और स्वतंत्रता मनुष्य के स्वभाव के अन्तरंग अंग हैं। इनके लिए आदमी ने आरम्भ से अधिकतम यत्न किया है। इस यत्न के साधन के रूप में समाचारपत्रों का विकास हुआ है, क्योंकि दूसरों को यह बताना आवश्यक हुआ कि क्यों सुधार होना चाहिए, क्या सुधार हुआ है, क्या सुधार शेष है। स्वतंत्रता और उसके संरक्षण के सम्बम्ध में भी यही बात है, उसके लिए किए गए प्रयत्न के प्रत्येक पक्ष का प्रकाशन, हर एक पक्ष को प्रोत्साहन देता है।

स्वतंत्रता के बाद जो कुछ देश में किया जा रहा है, वह सुधार में आता है। इसलिए इसे विकास कहा गया है। विकास की यह विशेषता मानी गई है कि उसमें बिना निज का आधार छोडे परिवर्तन होते हैं और समस्त परिवर्तन, उन्नयन के लिए होते हैं। इन परिवर्तनों का स्वरूप समय और स्थान निर्धारित करता है यह विज्ञान और तकनीक का समय है सारे

संसार में। भारत में भी परिवर्तन इसी ओर हो रहे हैं। विकास का अर्थ विज्ञान और तकनीक का अधिकाधिक उपयोग हो गया है, इतना कि जिसे ऊपर 'निज का आधार' कहा गया, उसके आदमी से अलग होने की आशंका होने लगी है। मनुष्य का विकास होगा, मनुष्यता का नहीं—यह डर बढ़ने लगा है।

कदाचित विकास विषयक ये पहलू ऐसे हैं जिनकी ओर न ध्यान जाता है, न इन्हे जरूरी माना जाता है। अंकों और आँकड़ों में विकास को नापा जाता है। अंक और आँकडे आदमी नहीं होते, उनको आदमी बनाता है, लेकिन उनसे आदमी बनता नहीं है। अतएव, आदमी और आदमियत किस-किस से बनती है, और आदमी का 'निज का आधार' क्या है, इसका ध्यान विकास के हर चरण पर रखना होगा।

आदमियत के विषय में ज्यादा विवाद नहीं है—जो जितना दूसरों के काम आता है, वह उतना ही अच्छा आदमी माना जाता है। जो जितना ज्यादा अपना मतलब निकालना चाहता है, उतना ही बुरा आदमी हो जाता है। ऐसा आदमी ऊँचा माना जाता है जो अपने-पराए का भेद भुला देता है। यह आदमियत का आधार हुआ, इसको भुलाकर या मिटाकर जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें विकास नहीं कहा जा सकता।

भौगोलिक परिस्थितियाँ जिस प्रकार शेष समस्त को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के स्वरूप को भी। परम्पराएँ मनुष्य के चरित्र को प्रताड़ित करती रहती हैं। इसे मनुष्य की शक्ति मानें चाहें दुर्बलता, परिस्थितियाँ और परम्पराएँ भी मनुष्य का मूल स्वभाव अधिक परिवर्तित नहीं कर पातीं। अच्छे और बुरे आदमी हर युग में होते हैं। मनुष्य ने निरन्तर बुरे आदमियों के खिलाफ, और बुराई के विरोध में, संघर्ष किया है। यह संघर्ष जब कम हुआ, तभी बुरा युग आया है। बुराई नहीं मिटती, इसलिए बुराई के खिलाफ लड़ाई जारी कहती है, रहनी चाहिए। यह लड़ाई आदमी को, आदमियत को, जंगलीपन से, और जानवरी आदतो से, अलग करती है। इस लड़ाई को विकास से अलग नहीं किया जा सकता। आज विकास की बातों में आदमी का यह 'निज का आधार' खोता जा रहा है। अतएव प्रश्न यह उत्पन्न हो गया है कि क्या वास्तविक विकास हो रहा है।

अंकों और आँकड़ों पर तो आना ही होगा, विकास की बात उनके बिना हो नहीं पाती। विधिवत, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत, विकास का यत्न करते इतने साल हो गए हैं। इस अर्से में, राजस्थान को हमने कितना आगे निकाला है?

आकार में देश के इस दूसरे बड़े राज्य को, राजस्थान सरकार के शासकीय प्रकाशनो में निरन्तर 'अपर्याप्त रूप से विकसित' माना जा रहा है, और स्वीकार किया जाता है कि विकास की दौड़ में यह राज्य अन्य राज्यों की तुलना में 'बहुत पीछे' रह गया है। केन्द्र ने 1979-80 में 'विकास के लिए आवश्यक आधारिक साधनों का' जो देशव्यापी सर्वेक्षण किया था, उसमें राजस्थान को नीचे उतरते क्रम में 19वां स्थान दिया गया। नीचे की सूची स्थिति को और स्पष्ट करेगी

विषय	इकाई	वर्ष	समस्त देश	राजस्थान	सर्वेक्षित राज्य	राजस्थान का स्थान
1. प्रतिव्यक्ति राज्य की आय	रुपए	1981–82	1758	1441	19	11
2. साक्षरता	प्रतिशत	1981	36	24	22	22
3. कृषि						
1. कृषि अन्तर्गत क्षेत्रफल में से सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत	प्रतिशत	1977–78	31	18	14	11
4. कृषि भूमि में प्रति हैक्टर रासायनिक खाद का उपयोग	कि.ग्राम	1980–81	32	8	14	12
5. सामाजिक विकास						
1. स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे–						
क. 6–11 वर्ष के	प्रतिशत	1978–79	84.5	56.9	22	22
ख. 11–14 वर्ष के	प्रतिशत	1978–79	38.0	27.2	22	20
2. अस्पताल प्रति एक हजार वर्ग कि.मी.	संख्या	1981	2.0	0.7	22	21
3. शैयाएँ प्रति एक लाख जनसंख्या पर	संख्या	1981	71.0	49.9	22	17
4. पीने का सुरिक्षत पानी प्राप्त गाँव	प्रतिशत	1973	17.4	9.3	22	19
6. आधारिक साधन						
1. बिजली प्राप्त गाँव	प्रतिशत	1981	41.7	45.5	14	9
2. प्रति व्यक्ति बिजली उपयोग	कि.वाट	1982–83	181	102	14*	10
3. सड़कें प्रति 100 वर्ग किमी	किमी	1979	49	13	22	21

*जो राज्य सर्वेक्षण में नहीं आ सके हैं, वे हैं मणिपुर, नागालैण्ड, असम, त्रिपुरा, मेघालय हिमाचल प्रदेश जम्मू–कश्मीर और सिक्किम।

इसके साथ यह जोड़ा जाना चाहिए कि विकास की विकटता किस प्रकार हमारे राज्य मे बढ़ती जा रही है। 1951 में राज्य की जनसंख्या 1.59 करोड़ थी : तीस वर्षों में यह दूनी से ज्यादा हो गई है। 1961–71 में बढ़ोतरी की दर 2.44 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जो 1971–81 में बढ़कर 2.87 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई। यह दर राष्ट्रीय दर से ऊँची बैठती है, और यह अपने आप बताती है कि राजस्थान के विकास की समस्या अन्य राज्यों की तुलना में कहीं कठिन है। सरकारी तौर पर स्वीकार किया गया है कि जनसंख्या की दर बढ़ने से विकास के लाभ सर्वसाधारण तक पहुँचने में मुश्किलें बढ़ी हैं। परिवार परिसीमन–अभियान की असफलता इससे, इसके अतिरिक्त, सिद्ध होती है।

इसका यह परिणाम तो होना ही था कि राष्ट्रीय औसत की तुलना में राजस्थान मे (1) उत्पादन तथा (2) प्रति व्यक्ति आय निरन्तर अधिकाधिक कम होती जा रही है। यह स्थिति निराशा, नाराजी और गुस्से के लायक है। इस लायक है कि इस तरह हमारे राज्य को पिछड़ा बनाए रखने वाले एक-एक आदमी को सरे बाजार सजा दी जाए।

उधर, दूसरी तरफ से देखें, तो उत्साह और उत्फुल्लता बढ़नी चाहिए। राजस्थान कहाँ था, और हम उसे कहाँ ले आए हैं! नीचे के आँकड़ों में 1950–51 और 1985–86 (अक्टूबर 85 तक) के बीच पैंतीस वर्षों की प्रगति प्रस्तुत हो रही है—

क्षेत्र	इकाई	वर्ष 1950–51	वर्ष 1985–86 (अक्टूबर 85 तक)
1	2	3	4
1 कृषि			
अ खाद्यान्न उत्पादन	लाख टन	24.46	100.57
ब. अधिक उपज देने वाली फसलों का क्षेत्र	लाख हैक्टेयर	–	28.91
2. सिंचाई			
कुल सिंचित क्षेत्र	लाख हैक्टेयर	11.71	40.88
3. विद्युत			
अ उपलब्ध विद्युत क्षमता	मेगावाट	8	1753.17
ब विद्युतीकृत नगर/कस्बे	संख्या	42	20,362
स. कुओं पर बिजली	संख्या	–	2,81,950
4. उद्योग			
अ औद्योगिक इकाइयाँ	संख्या	–	1,12,018
ब. औद्योगिक क्षेत्र	संख्या	–	161
5. पशुपालन			
पशु चिकित्सालय एवं औषधालय	संख्या	145	1028

6 चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाएँ			
अ एलोपैथिक चिकित्सालय औषधालय एडपोस्ट	संख्या	390	1549
ब आयुर्वेदिक एवं युनानी चिकित्सालय एवं औषधालय	संख्या	150	3,118
स होमियोपैथिक चिकित्सालय	संख्या	–	80
द चल चिकित्सालय	संख्या	–	3
7 पेयजल			
अ नगरीय योजनाएँ	संख्या	5	राज्य के सभी 201 नगरों में उपलब्ध
ब ग्रामीण योजनाएँ	संख्या	–	22,262 ग्राम
8. शिक्षा प्रसार			
अ प्राथमिक विद्यालय	संख्या	4494	27,558
ब उच्च प्राथमिक विद्यालय	संख्या	834	7,950
स माध्यमिक एवं उच्च मा. विद्यालय	संख्या	209	2,944
द महाविद्यालय	संख्या	51	133
ड विश्वविद्यालय	-	1	5
ढ साक्षरता	प्रतिशत	8.95	24.38
9 सड़कें	किलोमीटर	18,749	48,811
10. सहकारिता			
अ.सहकारी समितियाँ	संख्या	3,590	18,440 (जून, 1984)
ब. सदस्य संख्या	संख्या	1,45,000	56,91,000

पीछे मुड़कर देखो तो लगता है बहुत आगे बढ़ गए हैं। आसपास, इधर-उधर, देखो तो लगता है कि हम पिछड़े के पिछड़े बने हुए हैं। इस भेद या अन्तर को दूर करने के लिए लम्बी छलांग, कई दिशाओं में और कई विषयों में, आवश्यक थी। न इसके लिए हम मन बना पाए हैं, न वातावरण-साधनों की कमी कितनी और क्यों रही है, यह अलग से जाँच और जवाबतलब करने की बात है।

इस बात को छोड़ा नहीं जा सकता, और राज्य के समाचारपत्रों की दृष्टि से यही सबसे जरूरी बात है। मन मानस और ——— की बात का भी इसी तरह समाचारपत्रों से ही सीधा है

राज्य की कुल आबादी लगभग 359 लाख है। इनमें लगभग 88 लाख (24 38 प्रतिशत) साक्षर हैं। राज्य के निकलने वाले समस्त, सब प्रकार के, समाचारपत्रों की प्रसार संख्या देखें तो लगता है कि कितना कम दोनों के बीच का औसत पड़ता है।

यह सही-सी बात है कि यहाँ समाचारपत्रों की वास्तविक प्रसार संख्या भी दी जानी चाहिए। लेकिन स्वयं समाचारपत्रों ने इसे नामुमकिन बना रखा है। इसमें जो आरोप बनता है, उसे दरगुजर करके प्रस्तुत विषयों पर विचार नहीं किया जा सकता। समाचारपत्रों को प्राथमिक रूप से इस स्थिति को सुधारना होगा। भारत के समाचारपत्रों का जो अधिकृत विवरण 1983 में प्रकाशित हुआ, उसके अनुसार राजस्थान के समाचारपत्रों की कुल संख्या 1,109 है। यह देश के राज्यों में राजस्थान को छठा स्थान दिला देती है। लेकिन, इस वरीयता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि 1,109 में से केवल 283 ने प्रसार संख्या आदि के वांछित आँकड़े भेजे थे। और, ये आँकड़े कितने अविश्वसनीय हैं, यह इससे सिद्ध होता है कि जिन नमूने के थोड़े से समाचारपत्रों की जाँच की गई, उनमें से 14 समाचारपत्रो के आँकड़े 'अप्रमाणित' घोषित किए गए—इस तरह इस 'सम्मान' को अर्जित करने वालो मे राजस्थान ने चौथा स्थान प्राप्त कर लिया। अतएव, राज्य के समाचारपत्रों के वास्तविक आँकड़े लेकर कोई स्थापना नहीं की जा सकती।

जो आँकड़े भारत सरकार की ओर से प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह अवश्य स्पष्ट होता है कि जो राज्य अधिक विकसित हैं, उनमें ही पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार भी अधिक है, और बढ़ रहा है। दैनिक-साप्ताहिक आदि में महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, केरल और आंध्र प्रदेश आगे हैं। आवधिक पत्रों में भी ये राज्य ही आगे हैं। इस बात को ज्यादा अच्छी तरह अखबारी कागज की हकदारी से समझा जा सकता है : महाराष्ट्र ने सर्वाधिक अश प्राप्त किया। इसके बाद आते हैं—तमिलनाडु-11.26, पश्चिमी बंगाल-10.61, केरल-9 21 और उत्तर प्रदेश-5.66, जबकि समाचारपत्रों की संख्या उत्तर प्रदेश में ऊपर उल्लिखित राज्यों से अधिक है। जो अन्य राज्य हैं, राजस्थान सहित, उनमें अखबारी कागज इतना कम खपता है कि उनमें पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार वास्तव में तो नगण्य-सा माना जाना चाहिए।

समाचारपत्रों की ओर से, उनकी प्रसार संख्या न बढ़ने का दोष दूसरों पर रखा जाता है। वास्तविकता यह है कि जो समाज की और पाठकों की प्राथमिकताएँ हैं, उनसे पत्र-पत्रिकाओं ने अपने को परे रख रखा है। दैनिक-साप्ताहिकों के विशेष स्तम्भों में खेलकूद, वाणिज्य-व्यापार, फिल्में, कला और महिलाओं से सम्बन्धित सामग्री अधिक स्थान प्राप्त करती है। आवधिक प्रकाशनों में भी समाचार और सामयिक विषयों (7,274) के बाद, साहित्य-संस्कृति (2,872) और धर्म-दर्शन (1,595) पर ही अधिक पत्र निकलते हैं। वित्त, विज्ञान, परिवहन, संचार, कृषि, पशुपालन, इंजीनियरी, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, श्रम, चिकित्सा, स्वास्थ्य, वाणिज्य, उद्योग, बीमा, बैंकिंग, सहकारिता, समाज कल्याण ऐसे विषय हैं, जिनमें कम पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। स्वाधीनता के बाद सारे देश में विकास की जो प्राथमिकताएँ रही हैं उनसे देश के समाचारपत्रों ने नहीं निभाया है

इसे यों देखें कि केन्द्र के और राजस्थान के वार्षिक आय-व्ययक में आय और व्यय के मुख्य स्रोत निम्न हैं—

भारत 1986-87

	मद	प्रतिशत
आय	कर-राजस्व	50
	कर-भिन्न राजस्व	11
	विदेशी सहायता	5
	देश के भीतर ऋण	14
	अन्य पूँजी प्राप्तियाँ	14
	घाटा	6
व्यय		
	केन्द्रीय आयोजन	22
	ब्याज की अदायगी	14
	रक्षा	14
	राज्यों को सहायता	12
	आयोजना भिन्न सहायता	3
	करों के भाग के रूप में	14
	आर्थिक सहायता	8
	अन्य आयोजन-भिन्न व्यय	13

राजस्थान 1985-86

	मद	प्रतिशत
आय	कर-राजस्व	60.24
	अकर-राजत्व	20.49
	सहायतार्थ अनुदान	19.27
व्यय		
	सामान्य सेवाएँ	32.40
	सामाजिक सेवाएँ	40.62
	आर्थिक सेवाएँ	26.93

सामान्य सेवाओं में संसद, राज्य-संघ क्षेत्र, विधानसभा, मंत्री परिषद्, न्याय-प्रशासन, निर्वाचन आदि राज्य के अंग, कर-वसूली सहित राजकोष सम्बन्धी सेवाएँ, ब्याज और ऋण सेवा, प्रशासनिक सेवाएँ, पेंशन तथा विविध सामान्य सेवाएँ, स्थानीय निकायों तथा पंचायती राज संस्थाओं को मुआवजा आदि आते हैं। सामाजिक सेवाओं में शिक्षा-कला-संस्कृति, चिकित्सा-परिवार-कल्याण, जनस्वास्थ्य, सफाई, जलपूर्ति, श्रम-रोजगार, प्राकृतिक आपदाओं से राहत, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण तथा अन्य विविध विभाग आते हैं। आर्थिक सेवाओं में सहकारिता, कृषि, उद्योग, खनन, सिंचन, परिवहन, संचार आदि कार्यक्रम आते हैं।

इन प्राथमिकताओं से देशवासियों का दो तरह से सन्निकट सम्बन्ध है : (1) व्यय होने वाला समस्त धन देशवासी कर के रूप में देते हैं या उनके नाम पर ऋण और अनुदान के

रूप में आता है। (2) व्यय का अधिकांश भाग उनकी समुन्नति और सुरक्षा पर व्यय होता है। परन्तु समाचारपत्र इन प्राथमिकताओं का आदर अपने पृष्ठों पर नहीं करना चाहते : आय और व्यय के जो सब से ऊँचे मद हैं, उन पर सबसे कम सामग्री प्रकाशित होती है।

इससे यह कैसे स्थापित हो सकता है कि समाचारपत्रों का देश के विकास से कोई सरोकार है। अवश्य राज्य और शासन, उसे स्वरूप देने वाली राजनीति और व्यवस्था का महत्त्व है, परन्तु उनका भी अधिक ध्यान और समय विकास के विभिन्न पहलुओं पर लगता है, कम से कम लगना तो चाहिए। इसे लेकर ही ऊपर 'मन, मानस और वातावरण' की बात आई है। जब स्वयं समाचारपत्रों का 'मन, मानस और वातावरण' विकास के प्रति अनुरक्त और निरत नहीं है तो वे कैसे विकास के पक्ष में अपने पाठकों में 'मन, मानस और वातावरण' बना सकते हैं?

यहाँ अस्तित्व का और प्रसार का प्रश्न आता है। आत्मनिर्भरता समाचारपत्र का प्राण होती है, बिना अपने को तनिक भी प्रभावित किए, बिना अपनी अभिव्यक्ति पर थोड़ा भी अकुश स्वीकार किए, जो आय हो सकती है, उससे सब खर्च जो समाचारपत्र निकाल सकते हैं, उनका अस्तित्व ही आदर के योग्य माना जा सकता है। ऐसे कितने हैं, इस सवाल को उठाकर, इस मंतव्य को दबाया नहीं जा सकता कि ऐसे समाचारपत्र ही समाज और समय का नेतृत्व प्राप्त करते हैं। शेष सब की समाज और समय पर निर्भरता, उन्हें प्रभाव शून्य-सा बना देती है। इसलिए यह हो रहा है कि राष्ट्र के प्रमुख प्रश्नों पर निर्णय में पत्रों और पत्रकारों के अभिमत का, स्वयं समाचारपत्रों का, कोई आदर और स्थान नहीं है।

पत्र-पत्रिकाओं और पत्रकारों में इस बात की आलोचना, सही ही, बहुत होती है कि आकाशवाणी और दूरदर्शन द्वारा नियोजित रूप से शासक दल और शासनकर्ताओं मे से प्रमुखतम व्यक्तियों को अत्यधिक महत्त्व और स्थान दिया जाता है। जो कुछ वे कहते हैं, और करते हैं, वही मुख्य समाचार बन जाता है। यही नहीं, जो इनके अथवा इनकी छवि के विपरीत पड़ता लगता है, उस सबको कम से कम स्थान और महत्ता मिलती है। परन्तु सम्पादकों की संस्था एडीटर्स गिल्ड ऑफ इण्डिया की ओर से जो सर्वेक्षण समाचारपत्रों का किया गया है, उसका निष्कर्ष यह है कि समाचारपत्रों में भी शासक वर्ग की गतिविधियों को ही समाचार-संकलन तथा समाचार-प्रकाशन में प्राथमिकता दी जाती है। दिल्ली के जो चार दैनिक अपने को देश के बड़े दैनिक मानते हैं, और अंग्रेजी में निकलते हैं, उन पर भी सर्वेक्षण का यह परिणाम पूरी तरह लागू बताया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश के समाचारपत्र 'सम्भ्रान्त वर्ग द्वारा, सम्भ्रान्त वर्ग के लिए' निकलने वाले होकर रह गए हैं।

सर्वेक्षण ने बताया है कि चाहे सरकारी हों, चाहे गैर-सरकारी, सभी समाचारदाता स्रोत राजनीति से अति अधिक ग्रस्त रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे राजनीतिक गतिविधि विषयक जानकारी के अच्छे प्रदाता बन गए हैं, लेकिन जनसाधारण को शिक्षित करने के अपने प्राथमिक दायित्व में वे असफल रहे हैं।

सर्वेक्षण से दूसरी यह चिन्तनीय स्थिति सामने आई है कि सरकारी, गैर-सरकारी दोनों प्रकार के समाचारपत्र तथा अन्य समाचार-प्रसारक दिल्ली तथा राज्यों की राजधानियो से निकले समाचारों को अधिक स्थान देते हैं। इस प्रकार, कस्बों और गाँवों की गतिविधि निरन्तर उपेक्षित रहती है, और भयंकर से भयंकर अकाल (उड़ीसा जैसा) भी तभी प्रकाशनीय समाचार बनता है जब स्थिति को स्वयं देखने को 'अति महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पहुँचते हैं

जो समाचारपत्र अपने राज्य और क्षेत्र की भाषाओं में निकलते हैं उनमें वर्षों से उनकी भाषाई, सांस्कृतिक तथा प्रशासनिक परिधि के बाहर के समाचारों का प्रकाशन बराबर घटता जा रहा है।

सर्वेक्षण ने इसको 'महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय दैनिकों की' उनके प्रकाशन-नगरों से बाहर पाठक-संख्या घटने का कारण बताया है।

देश की जनसंख्या, शिक्षितों की संख्या, सम्पन्न वर्ग की संख्या में से किसी के भी अनुपात के अनुसार समाचारपत्रों का प्रसार बढ़ नहीं पाया है। जो आँकड़े उपलब्ध हैं, उनके अनुसार राजस्थान में भी यही स्थिति है।

प्रत्येक समाचारपत्र के कार्यालय में राज्य की, और अपने क्षेत्र की, प्रमुख विकास समस्याओं, योजनाओं और कार्यक्रमों की सूची होनी चाहिए, और एक निर्धारित अवधि के अन्तराल से, उन सबके विषय में स्वतः सामग्री प्रकाशित होती रहनी चाहिए। जो प्राथमिकताएँ पचंवर्षीय योजनाओं और वार्षिक आय-व्ययकों में अलग-अलग मदों को मिलती हैं, उनके अनुरूप और अनुपात में भी सामग्री विभिन्न निर्धारित स्तम्भों में आनी चाहिए। यह सब उसके अतिरिक्त होगा, जिसे समाचार और सामयिक विषयक सामग्री माना जाता है।

दूसरे, इन विषयों पर परिपूर्णता और विश्वसनीयता समाचारपत्रों को अर्जित करनी चाहिए। प्रत्येक अंक को लेकर यह नहीं हो सकता, न कोई समाचारपत्र अपने को न्यायालय बना सकता है। परन्तु, यह पाठक अपेक्षा करता है कि वह जिस समाचारपत्र का निरन्तर नियमित ग्राहक है, उसके माध्यम से उन विषयों और कार्यक्रमों के सभी पहलुओं का ज्ञान मिलता रहेगा, जिनका उसके जीवन-निर्वहन-मरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरे, पाठक अपेक्षा करता है कि जो हमारा अखबार कहेगा, वह इतना तटस्थ होगा कि उस पर भरोसा करके अपनी सम्मति बनाई जा सकती है। दूसरों की सम्मति, सहायता और सूझबूझ से जो लेखन होगा, वह इस प्रकार की प्रमाणिकता और प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता।

हम फिर, पहली बात पर आ जाते हैं कि राजस्थान के समाचारपत्रों का राजस्थान के विकास से सीधा सम्बन्ध है, परन्तु उस सम्बन्ध की साधना के लिए, और उससे लाभ प्राप्त करने के लिए, जो प्रयत्न पत्रकारों और पत्र-पत्रिकाओं को करना चाहिए, वह हो नहीं पाया है। इसके प्रतिकार के लिए प्रयत्न और परिश्रम के अतिरिक्त, समुचित और बहुविध योग्यता और प्रशिक्षण भी चाहिए। समाचारपत्र-कार्य के लिए भरती की नीति भी परिणामाभिमुख रखनी होगी। और, जो कार्यरत पत्रकार हैं उनके, निर्धारित अवधि के उपरान्त, पुनःप्रशिक्षण की प्रक्रिया प्रारम्भ करनी होगी।

यह भी आवश्यक है कि पत्र-पत्रिकाओं और पत्रकारों के कार्य का मूल्यांकन नियमित रूप से होता रहे। प्रत्येक सुगठित समाचारपत्र संस्थान को अपने आन्तरिक अंग के रूप में इसका आयोजन करना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि मालूम हो सके कि राज्य के समाचारपत्र राज्य के विकास में, क्या, कैसा और कितना योगदान कर रहे हैं—इससे अपने आप मालूम होता रहेगा कि उनका अपना उन्नयन कितना और कैसा हो रहा है।

❑

परिपाटी पर पुनर्विचार आवश्यक

भारत में प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति अहमदी ने एक सवाल ऐसा उठाया था जो न्यायालयों की परिपाटी बदले बिना नहीं सुलझ सकता। वैसे भी, यदि खुले न्यायालयों मे मौखिक रूप से दिए गए निर्णयों पर पुनर्विचार और उनका, चाहे आंशिक, संशोधन और पुनर्लेखन सम्भव और आवश्यक होता है, उन्हें इसके पहले सबके सामने लाने की परम्परा समाप्त की जानी चाहिए। इससे न्यायालयों का, माननीय न्यायाधीशों का, और इस तरह सारे देश का, बहुमूल्य समय बचेगा।

न्यायमूर्ति अहमदी का कहना यह था कि जिन मामलों में तीन या पाँच न्यायाधीश मिलकर सुनवाई करते हैं, और यदि ऐसे किसी मामले में इनमें से एक, वरिष्ठ होने के कारण, सभी न्यायाधीशों की ओर से खुले न्यायालय में मौखिक रूप से न्यायालय का निर्णय लिखाता है तो उसे, सबके साथ सुनने की बाद भी, उपस्थित पत्रकारों को तत्काल समाचारपत्रों में छापने के लिए नहीं देना चाहिए। उन्हें तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब तक उस एक न्यायाधीश द्वारा खुले न्यायालय में मौखिक रूप से लिखाए गए निर्णय पर सभी सम्बन्धित न्यायाधीशों के हस्ताक्षर नहीं हो जाते। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि न्यायालयों की परम्परा के अनुसार जब वरिष्ठ न्यायाधीश मौखिक रूप से निर्णय लिखाता है, उस पर जहाँ-की-तहाँ, उनके साथ बैठे न्यायाधीश खुले में आपत्ति नहीं उठाते, चाहे किसी शब्द अथवा उक्ति से उनकी असहमति हो। जब निर्णय पर हस्ताक्षर का अवसर आता है, ऐसी आपत्ति पर न्यायाधीशों के कमरों में सम्मिलित रूप से विचार होता है, और उसके अनुसार खुले न्यायालय में लिखाए निर्णय में यथोचित परिवर्तन किए जा सकते हैं, कोई भी शब्द अथवा उक्ति बदली जा सकती है।

जब ऐसा है तो यह खुले न्यायालय में निर्णय लिखाने की समस्त प्रक्रिया और परम्परा समाप्त की जानी चाहिए। जो कुछ परिवर्तनीय है, उसे खुले न्यायालय में सुनाने और लिखाने की आतुरता न्यायाधीशों को क्यों रहती है। सब जानते हैं कि न्यायाधीशों में ऐसी क्षमता होती है, और जो अपनी प्रतिभा का परिचय अपनी पूर्व प्रतिष्ठा के उपरान्त भी देना चाहें, उनके लिए इसके अवसर ऐसे मौकों पर मिलते हैं, और मिलते रहने चाहिए, जब न्यायाधीश अकेले-अकेले सुनवाई और फैसले करते हैं।

लेकिन जहाँ सम्मिलित रूप से तीन या पाँच न्यायाधीशों की ओर से निर्णय की बात आती है, और उनमें से एक न्यायालय का सम्मिलित निर्णय खुले न्यायालय में बोलकर लिखाता है, उसके बारे में यह दुविधा नहीं रहनी चाहिए कि अन्ततः लिखित रूप से जो प्राप्त होगा वह भिन्न और परिवर्तित भी हो सकता है। जो कुछ परिवर्तित हो सकता है, उसकी किसी भी न्यायाधीश द्वारा खुले में प्रस्तुति उस न्यायाधीश की परिपूर्ण क्षमता में

आशंका उत्पन्न करती है, उसका अपमान होता है, और इसमें नाहक समस्त न्यायालय का, और राष्ट्र का, समय बरबाद होता है। न्यायालयों को यह समस्त परिपाटी त्याग देनी चाहिए, और जब एक से अधिक न्यायाधीश सुनवाई और निर्णय करें, यह व्यवस्था होनी चाहिए कि वे सब मिलकर पूरी तरह विचार करें, और जो भी न्यायाधीश शेष सबकी ओर से भी निर्णय लिखाए, वह वैसा अपने भीतरी कमरे के अन्दर करे, चाहे उस समय सब न्यायाधीश उपस्थित रहें या नहीं। जो कुछ लिखवाया या लिखा जाए, उस पर सब सम्बन्धित न्यायाधीश विचार कर लें, और सहमत होने पर सब अपने हस्ताक्षर करें, और फिर वह परिपूर्ण और अंतिम निर्णय प्रकट किया जाए। उसका भी खुले न्यायालय में पढ़ा जाना आवश्यक नहीं रहना चाहिए। निर्णय की प्रति उपलब्ध करा दी जाए, और जिसे, जैसे उसकी प्रतियाँ उपलब्ध होनी चाहिए, वैसे, उन्हें, इनको दिए जाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इससे न्यायालयो का समय, और उससे ज्यादा उनका सम्मान बचेगा।

जिस प्रकार से, न्यायाधीश अहमदी के, जयपुर के पिंकसिटी प्रेस क्लब में बताए अनुसार, न्यायालयों की परम्पराएँ, और ऐसे मामलों में तो पूरी-की-पूरी आवश्यकताएँ होती हैं, उसी प्रकार से पत्रकारों और समाचारपत्रों की भी परम्पराएँ और आवश्यकताएँ होती हैं। जो कुछ खुले न्यायालय के सामने लाया जाता है, उसे जैसा-का-तैसा तत्काल अपने पाठकों तक पहुँचाना पत्रकारों का पहला दायित्व होता है, और इसके मार्ग में वे कोई व्यवधान नहीं बरदाश्त कर सकते, न्यायालयों की परम्परा का भी नहीं। इसी सिद्धान्त पर आधुनिक पत्रकारिता चलती है, और स्वयं न्यायमूर्ति अहमदी अन्य, जैसे राजनेताओं के सन्दर्भ में, मामलों में देरी और पुनर्विचार की प्रतीक्षा के लिए सहमत नहीं होंगे, उन्हें समझना चाहिए कि पत्रकार भी न्यायालयों में उद्भासित निर्णयों के पुनरावलोकन की प्रतीक्षा नहीं कर सकते। ज्यादा-से-ज्यादा वे यह माँग कर सकते हैं कि निर्णय में जो परिवर्तन हों, उन्हें भी समाचारपत्रों में स्थान दिया जाए, जो और ज्यादा न्यायालयों की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगा। परम्परा ही यह बननी चाहिए कि न्यायालय का निर्णय केवल अंतिम रूप से सबके लिए साथ सामने आएगा।

इसे इस प्रकार देखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। एक निर्णय लिखाया जाता है, उसमें ऐसी उक्ति आ जाती है जो किसी व्यक्ति अथवा संस्था की प्रतिष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, इतना कि या तो संस्था का दिवाला निकल जाता है या सम्बन्धित व्यक्ति की हृदय गति रुक जाती है या सम्बन्धित क्षेत्र में दंगे भड़क उठते हैं। यह होने वाला काम हो जाता है, और बाद में इस घातक उक्ति को बदल दिया जाता है। इससे न्यायालयों की प्रतिष्ठा तो बच गई, लेकिन जिनका नुकसान होना था हो गया, चाहे इतना ही हुआ हो कि उनकी छवि सबके सामने बिगड़ गई। जो नुकसान अथवा असर नहीं होना चाहिए, उसी को बचाने के लिए तो परिवर्तनों की प्रतीक्षा का प्रतिपादन किया जा रहा था, और जिससे जरा भी (दूसरो का सही) नुकसान हो सकता है, उसे सबके सामने लाने की जल्दबाजी से सम्माननीय न्यायाधीशों को स्वयं बचना चाहिए।

❑

परिवर्तनशील पत्रकारिता

पत्रकारिता हमेशा से खुला व्यवसाय रहा है। यह अवश्य है कि आरम्भ से अब तक यह मान्यता चली आ रही है कि पत्रकार बनाए नहीं जाते, कुछ होता है जो व्यक्ति मे पत्रकारिता के रूप में पनप आता है। असली बात यह है कि भारत में जब तक पत्रकारिता स्वतंत्रता संग्राम का शस्त्र रही, इसमें वही आए जिनमें अपने सुख और स्वार्थ को देश की सेवा में समर्पित करने की तमन्ना थी। देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले स्वय समाचारपत्रों का संचालन और सम्पादन करने लगे, और उन्हीं की तरह के विचारों वाले पत्रकारिता से सम्बद्ध अन्य विधाओं में जुड़े। पत्रकारिता परतंत्रता के विरुद्ध प्रमुख शस्त्र हो गई। परन्तु देश की स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है।

यह कहकर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में भी जो ब्रिटिश सरकार का समर्थन करते थे, ऐसे समाचारपत्र, सम्पादक और पत्रकार थे। और, ऐसे सम्पादक, पत्रकार और दैनिक-साप्ताहिक-पाक्षिक भी थे जो उनकी चाटुकारिता करके कमाई करते थे जो ब्रिटिश सरकार का समर्थन करके अपना अस्तित्व, अपनी सुरक्षा और अपनी समृद्धि बनाए हुए थे।

राजस्थान में अजमेर दोनों प्रकार की पत्रकारिता का प्रमुख केन्द्र था। स्वतंत्रता के बाद भी, यही स्थिति बनी रही, और अजमेर से ऐसे समाचारपत्र निकलते रहे जिनमें कुछ केन्द्र की काँग्रेस सरकार का समर्थन करते थे, कुछ ऐसा विरोध करते थे जिसे प्रधानमंत्री पडित जवाहरलाल नेहरू ने देश में पत्रकारों की स्वतंत्रता का उदाहरण बताया था। इस उल्लेखनीय समाचारपत्र ने स्वयं नेहरू जी और उनके परिवार का चरित्र-हनन किया तब भी नेहरू जी ने उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान किया।

सरकारों में ऐसी उदारता दिखाने वाले कम हुए हैं तो पत्रकारिता में भी ऐसी उग्रता दिखाने वाले कम हुए हैं। मूल में बात यह है कि उग्रता न जीवन के अनुकूल होती है, न पत्रकारिता के अनुकूल हो सकती है। इसी का प्रमाण यह है कि जिस समाचारपत्र का यहाँ उल्लेख है वह बहुत उफन कर अब असंगत ही नहीं, अप्रासंगिक हो गया है। कोई उफान हमेशा नहीं रहता, अतएव यह सिद्ध है कि पत्रकारिता के लिए भिन्न तत्त्वों की आवश्यकता होती है। आज ऐसे समाचारपत्रों के लिए भी स्थान नहीं है, कतई स्थान नहीं है जो निर्बाध रूप से शासनारूढ़ नेताओं का यशगान करते रहना चाहते हैं।

इसे पत्रकारिता की विधा के भीतर भी समझा जाना चाहिए। इन्वेस्टिगेटिव जरनलिज्म की एक बाढ सारे ससार में आई थी और ब्रिटेन अमेरिका जैसे में भी देशों में शासन और समाज दोनों इस प्रकार की पत्रकारिता से आतकित थे

खोजी पत्रकारिता का प्रसार भारत में भी हुआ। लेकिन इस प्रकार की पत्रकारिता कहीं टिक नहीं सकी, मुख्यतः इसलिए कि खोज भी नितान्त निन्दा के लिए नहीं चल सकती। आज का पाठक सब तरह की स्थितियाँ जानना चाहता है, चूँकि उसे शासनकर्ताओं का निर्वाचनों द्वारा चयन करते समय जितनी उनकी कमियों और गलतियों के बारे में जानकारी चाहिए, उतनी ही उनकी क्षमताओं, सेवाओं और उपलब्धियों के बारे में। सन्तुलित निर्णय स्वाधीनता और लोकतंत्र के लिए आवश्यक होता है, इसलिए पत्रकारिता में भी सन्तुलन और प्रामाणिकता का समय आया है।

अब भी, भारत में भी, और विदेशों में भी, पीत पत्रकारिता चल रही है, लोगो के कपड़े उतारकर अखबार अपनी तिजोरियाँ भर रहे हैं। परन्तु ऐसी पत्रकारिता का न भारत मे आदर है, न संसार के अन्य देशों में, न कहीं हो सकता है।

यह समय रचनात्मक अभिवृद्धि का है, हम समाज और शासन के सभी अंगों को परिपुष्ट करना चाहते हैं। इसमें यह शामिल है कि दोष और दुराचरण दूर किए जाएँ, चाहे वे शासन में हों, चाहे समाज में। पहली बात यह है कि इसके लिए जो त्याग और तीखापन जरूरी होता है, वह पत्रकारों में बढ़ते इस भाव के विरुद्ध पड़ता है कि हमें भी सबकी तरह सुख, सुविधाएँ और समृद्धि चाहिए। जिसकी आप बुराई करें, उससे आप आशाएँ करें, यह विरोधाभास भी पत्रकारिता में पनपा है, परन्तु यह शीघ्र पीत पत्रकारिता में आने लगता है। अब यह व्यक्तिशः प्रत्येक पत्रकार के आत्मनिर्णय और आत्मसम्मान की बात हो जाती है कि उसका आलेखन और चित्रण कितना तटस्थ, प्रभावमुक्त और स्वार्थहीन है। इसका उत्तर यह समझकर देना होगा कि समाज और शासन में हर समय में, सम्मान उन्हीं का होता है जो तटस्थ, प्रभावमुक्त और स्वार्थहीन होते हैं। इस प्रकार का जीवन सामान्यतः आज के पत्रकार अपना नहीं पाते। इसलिए वे समृद्ध तो हुए हैं, लेकिन उनका प्रभाव कम हुआ है। यहाँ प्रभाव और 'आतंक' के अन्तर को समझना होगा।

निर्माणकारी युग की यह भी आवश्यकता होती है कि अनेकानेक विधाएँ विविध प्रकार के राष्ट्रनिर्माण में लगती हैं। स्वतंत्रता ने ही विदेश नीति, सुरक्षा नीति, मुद्रा और विनिमय नीति जैसे नये आयाम खोले, और अति अधिक परिवर्तनकारी इस युग में, निर्माणकारी विधाएँ भी संख्या और जटिलता में बहुत बढ़ी हैं। कृषि विज्ञान से लेकर अंतरिक्ष विज्ञान तक, बीच में जीव विज्ञान और प्रजनन विज्ञान तक, न जाने कितने रास्ते खुले हैं जिनमें भारत बढ़ना चाहता है। पत्रकारिता को अगर अपनी पैठ बनाए रखनी है तो इन सभी विधाओं में अपने को दो कदम आगे रखना होगा। एक ही उदाहरण लें। शेयर व्यापार पिछले कुछ ही सालों में अनाप-सनाप बढ़ा है, पटरियाँ शेयरों के फार्मों से पट गई हैं, और स्टॉक एक्सचेंजों की अट्टालिकाएँ उठ गई हैं। इसका साथ समाचारपत्रों ने दिया है। सबमें पृष्ठ और स्तम्भ ही निर्धारित नहीं हुए हैं, कई अखबार शेयरों के सौदों को ही अपनाए हुए हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि इतनी ही तन्मयता समाचारपत्रों और पत्रकारों ने विकास की अधिक आधारिक विधाओं की ओर क्यों नहीं दिखाई? शिक्षा को लें, स्वास्थ्य को लें, निर्माण की किसी विधा को लें उन्नति जो हुई है उस पर प्रश्न ही प्रश्न हैं। प्रधानमंत्री स्तर का राजनेता कह लेता है कि सौ रुपयों में से सिर्फ पन्द्रह का वास्तविक लाभ उन तक पहुँचता है

जिनको लक्ष्य करके कार्यक्रम बनाए जाते हैं। बचे 85 रुपयों को कितना उजागर किया गया, जो निर्माण प्रक्रिया से सम्पूर्ण फल प्राप्ति के लिए उसी अनुपात से आवश्यक था। यह तो हिसाब की बात हुई। सरकार की सिर्फ 15 प्रतिशत प्रशंसा की जा सकती है, 85 प्रतिशत आलोचना होनी चाहिए। कौन पत्रकार कह सकता है कि भ्रष्टाचार, भेदभाव और सीधी-साफ कुसेवा के जितने मामले उसे मालूम होते हैं, उनमें से सबके सब वह प्रकट करता है? यह जो पाठक के प्रति सत्य छिपाने का अपराध है, उसी ने समाचारपत्रों के प्रति पाठको की श्रद्धा कम की है।

आजकल के पत्रकारों पर एक नया संकट भी आया है। जो न पत्रकार हैं, न जिन्होंने पत्रकारिता में प्रशिक्षण प्राप्त किया है, जो विशेष योग्यता अन्य-अन्य विधाओं में रखते हैं, जैसे अर्थशास्त्र, प्रबन्धन, हिसाब, आदि-आदि अनेक विविध एवं नवीन विधाओं के विशेषज्ञ, भारत में ही नहीं, विदेशों में उपाधियाँ अर्जित करके, भारतीय पत्रकारिता में आ रहे हैं। हाल तक उनका लेखन स्तम्भों तक सीमित था। अब संचालन, सम्पादन और समाचार एव सम्मति के क्षेत्र में भी उनका प्रवेश हो रहा है। कोई भी पत्रकार हो सकता है तो विधि का विशेषज्ञ क्यों नहीं, इस तर्क और व्यापकता ने पत्रकारिता के द्वार इतने खोल दिए हैं कि उसके भवन के भीतर बैठे लोग घबराने लगे हैं।

जो जहाँ है वहीं अपनी योग्यता और प्रमाणिकता बढ़ाए और विश्वसनीय बनाए, यह आज के समय में विकास के लिए अनिवार्य है। सिद्धान्त तो 'शून्य त्रुटि' का, जो 'जीरो डिफेक्ट' के नाम से प्रचलित हो रहा है, आ गया है। पत्रकारिता इसे अपना ले तो भी इस तक अपने को नहीं पहुँचा सकती, सबसे ज्यादा इसलिए कि अधिकतम प्रयत्न के लिए समय पत्रकारिता के पैमाने पर प्राप्त नहीं होता। परन्तु हमेशा की तरह, अब भी और आगे भी सत्य यही रहेगा कि जो इसके जितना अधिक निकट रहेंगे वे उतनी ही अधिक उन्नति करेंगे।

❑

माखनलाल चतुर्वेदी : सम्पादक के रूप में

बहुत बरस पहले की बात है। जयपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का बत्तीसवां अधिवेशन आयोजित हुआ था। उस समय रियासती शासन था, और प्रधानमंत्री थे सर मिर्जा इस्माइल। उनकी कुछ नीतियों से लोगों में ज्यादा ही नाराजी थी, और जब यह जाना गया कि अधिवेशन के आरम्भिक आयोजन में वे भी उपस्थित होंगे, विरोध करने वाले इस पर तुल गए कि उस आयोजन को ही नहीं होने देंगे। शोर-गुल हुआ, और हाथा-पाई की नौबत आ सकती थी। लगा, अधिवेशन का आरम्भ हो ही नहीं सकेगा। अधिवेशन के अध्यक्ष गोस्वामी गणेश दत्त जी चुने गए थे, लेकिन मंच उस समय पिछले अधिवेशन के अध्यक्ष माखनलाल चतुर्वेदी के हाथ में था। जब अन्य उपाय निरर्थक हो लिये, उन्होंने माइक अपने हाथ में लिया, और कहा : आपके अध्यक्ष के नाते मुझे जो अधिकार प्राप्त हैं, उनके नाते मैं आपको आदेश देता हूँ कि आप शान्त हो जाएँ। इसका असर वैसा ही हुआ जैसा उफनते दूध पर पानी की छीटों का होता है, सब स्तब्ध और शान्त हो गए। कार्रवाई आगे चली।

जो ओज और आदेश उन उच्चरित शब्दों में था, वह केवल लेखों और अग्रलेखो मे से नहीं निकला था। माखनलाल जी सिर्फ सम्पादक नहीं थे। स्वयं उन्होंने कहा है : "मुझे तो नेहरी जिन्दगी बितानी पड़ी है। उसमें एक तरफ मैं स्कूल मास्टर था, और दूसरी बार सम्पादक था। दूसरी तरफ कविता और साहित्य का लेखक था और तीसरी तरफ पिस्तौलधारी था। और ये तीनों बदनसीब साथ-साथ चल नहीं पाते थे। इसलिए इन्हें साथ-साथ चलाने की विषमताओं में मेरे जीवन के समस्त आनन्द खर्च हो गए। इस त्रिकोण में मैं सदा ही घिरा रहा। और इस समस्या के साथ मेरे साथ यह भी समस्या रही कि नित्य ही मैं समस्याओं का सामना करता रहा हूँ। पहले तो समस्याएँ मुझ पर संकट की तरह टूटीं, फिर समस्याएँ परिस्थिति को लेकर सामने आईं, और उन्होंने समाधान चाहा, और फिर मैं स्वयं समस्याएँ कुरेदने लगा। गरज कि समस्याओं से मेरा पिंड नहीं छूटा।"

माखनलाल जी की उपलब्धियों का महत्त्व इसी में है कि प्रतिकूल परिस्थितियों और समस्याओं के घटाटोप में वे प्राप्त की गईं। लेखक हों चाहे पत्रकार, आज सुविधाएँ ही सुविधाएँ चाहते हैं। उनका आधिक्य होता जा रहा है, और वह ओज और प्रभाव तिरोहित होता जा रहा है जो माखनलाल जी ने जीवन भर की साधना से अर्जित किया था।

जो त्रिकोणात्मक मूल्यांकन ऊपर की पंक्तियों में आया है, उसका समय 1919 तक का ही है। 'प्रभा' के अवसान और 'कर्मवीर' के उदय का यह समय है। माखनलाल जी कर्मवीर के रूप में ही अधिक जाने जाते हैं और उसके के साथ साथ उन्होंने साहित्य को अवदान दिया सगठनो को नेतृत्व दिया, स्वय

साहित्य सृजन के साथ-साथ अनगिनत नव-पल्लवों का सृजन तथा मार्गदर्शन किया, कहानी-कविता में ऐसी उच्चता प्राप्त की जिसने उन्हें 'साहित्य देवता' स्वीकार कराया, उसने उन्हें उच्चतम पुरस्कार ही नहीं प्राप्त कराए, उन्हें एक युग का आरम्भकर्ता निर्धारित किया। माना जाता है कि छायावादी युग की पहली कविता उन्होंने ही लिखी थी। इसी बीच उनकी वक्तृता शक्ति इतनी विकसित हुई कि वे हिन्दी में बोलने वाले सबसे श्रेष्ठ और प्रभावी वक्ता सारे देश में माने जाने लगे।

लेकिन वह समय एकांत में साहित्य सृजन अथवा पत्रकारिता के प्रयोगों का नहीं था। उस समय महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ हो गया था, और कोई भी सृजनशील शक्ति अपने को उससे विमुख या अलग नहीं रख सकती थी। लेखन किसी प्रकार का हो, उसे स्वतंत्रता-यज्ञ में आहुति होना होता था। यह आहुति भी माखनलाल जी ने ऐसी दी कि बारह बार वे जेल गए, उससे पाँच गुना बार उनके यहाँ तलाशियाँ हुईं। दूसरी ओर राजनीति में वे इतने ऊँचे उठे कि अपने प्रदेश के काँग्रेस पार्लियामेन्ट्री बोर्ड के अध्यक्ष बनाए गए। 1936 में चुनाव उनके निरीक्षण ही में हुए। जवाहरलाल जी और सरदार पटेल दोनों का उन्हें समान स्नेह और विश्वास प्राप्त था। यह माखनलाल जी की उच्चता और आदर्शवादिता का दूसरा पहलू है कि राजनीति में पूरे अधिकार प्राप्त करने के बाद भी उन्होंने उससे अपने लिए कुछ नहीं लिया।

पत्रकारिता में भी माखनलाल जी ने नवीन, प्रणवीर, प्रभावी और आदर्श पथों का प्रारम्भ किया। 1907 में प्रयाग में शिक्षा ग्रहण करते हुए, उन्होंने मालवीय जी की अनुमति से 'अभ्युदय' में सम्पादन का अनुभव प्राप्त करना शुरू कर दिया था। 1910 में खंडवा के मराठी साप्ताहिक 'सुबोध सिन्धु' का हिन्दी संस्करण निकला, माखनलाल जी उसमें काम करने लगे। 1912 के दशहरे के अवसर पर उसमें उनका लेख 'शक्ति पूजा' पर निकला। इसमें राजद्रोह की स्थापना हुई, परन्तु माखनलाल जी पर मुकदमा नहीं चल सका। उन्होंने देश भर में प्रसिद्ध कानपुर के 'प्रताप' और कलकत्ता के 'भारत मित्र' के लिए भी लेखन किया। 'प्रताप' का उन्होंने कुछ समय सम्पादन भी किया। लेकिन 'प्रभा' और 'कर्मवीर' ही हैं, जो माखनलाल जी के जाज्वल्यमान जीवन के स्वर्ण सोपान हैं।

'प्रभा' और 'कर्मवीर' अपने समय में बेजोड़ थे, और आजकल भी उनका जैसा कोई मासिक-साप्ताहिक नहीं है। इसीलिए बहुत ध्यान और विस्तार से उनका अध्ययन होना चाहिए। जिस प्रकार माखनलाल जी के साहित्य में शाश्वतता और सार्वदेशिकता है, उसी प्रकार उनकी पत्रकारिता भी सदा के लिए प्रेरक और पथ-प्रदर्शक हो सकती है।

एक उद्धरण देना यहाँ उचित होगा, जिसे कोई पचास वर्ष पहले ऋषि जैमिनी कौशिक बरुआ ने लिखा था, "माखनलाल जी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उस समय हिन्दी साहित्य में आए, जब आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती'-आश्रम में बैठकर राष्ट्रभाषा हिन्दी का आन्दोलन प्रबलतम बना चुके थे। उस समय माखनलाल जी की आयु केवल मासूमियत वहन कर रही थी। वे बड़े ही सुन्दर, गोरे, यष्टि-तन युवक थे, अत्यन्त सुकुमार थे, और प्राइमरी स्कूल में दूसरी कक्षा के अध्यापक मात्र थे। सहसा ही मध्यप्रदेश में हिन्दी [illegible] का [illegible] मुस्करा उठा और [illegible] जी ने अपने असमर्थ हाथों बिना किसी

उचित संरक्षण के, 'प्रभा' नामक हिन्दी मासिक निकाला। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के पीछे इण्डियन प्रेस की व्ययसाध्य, दृढ़ शक्ति लगी हुई थी, लेकिन माखनलाल जी ने 'प्रभा' क्या निकाली, उसे हर हालत में जीवित रखने के नाते, अपनी विवशताओं से संघर्ष करते हुए, अपनी अबोध प्रिया पत्नी की आहुति भी उस पत्रिका के चरणों में चढ़ा दी।"

'प्रभा' कुल मिलाकर, बीच की टूटन के साथ, दो वर्ष निकली, लेकिन इसने एक ओर माखनलाल जी को बहुत झुलसा दिया, दूसरी ओर भारत में कैसी पत्रिकाओं की आवश्यकता है, इसका प्रारूप प्रस्तुत किया। अपने समय की सबसे प्रसिद्ध लेखनियाँ उसके लिए लिखने लगी थीं, लेकिन 'सरस्वती' इस दृष्टि से कहीं ऊँची पड़ती थी। जीवन की समग्रता को जिस तरह 'प्रभा' ने अंगीकार, सजग, परिशुद्ध और प्रेरित किया, वह अपना अलग ही कीर्तमान है। इसकी सराहना स्वयं द्विवेदी जी ने की, और लिखा : इसे हिन्दी प्रेमियों को अवश्य आश्रय देना चाहिए। ऐसे हुआ नहीं, उनका 'अवश्य' आशीर्वाद नहीं बन सका। फिर भी, 'प्रभा' ने माखनलाल जी को सारे साहित्य-जगत में स्थापित कर दिया।

'प्रभा' में सम्पादकीय के अतिरिक्त नीति तत्त्व, समाज तत्त्व, समाज समीक्षा और समाज सुधार जैसे मौलिक स्तम्भ भी स्थापित किए गए थे। उन्होंने अपनी चौबीस वर्ष की आयु में धर्म सम्बन्धी ऐसी टिप्पणियाँ लिखीं, जो हिन्दी में छायावाद का आधार बनीं। इसके साथ ही उनके सामाजिक विचार दूसरी तरफ नव-स्थापनाएँ कर रहे थे। उनके धर्म तत्त्व और उनकी समाज समीक्षा तथा सुधार विचार आज भी उतने ही मनन करने योग्य हैं। भारत की लिपि और राष्ट्रभाषा के लिए उनका लिखा प्रतिमान बना, परन्तु विधवाओं के बारे में, जातीय झगड़ों के बारे में, धार्मिक विचार विभिन्नताओं के बारे में, उच्च शिक्षा के बारे में, उन्होंने प्रश्न तथा प्रेरणा साथ-साथ प्रस्तुत की। देशोन्नति के उपाय बताते हुए, उन्होंने यह भी बताया कि विदेशों से क्या सीखना चाहिए।

लिखने वालों के लिए उन्होंने लिखा था : "खुलकर लिखो"—"हमारा अनुरोध है कि तुम अन्यायों, अत्याचारों और भूलों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखना हो, वह दबकर नहीं, खुलकर लिखो।"

वे अपने समय के सम्पादकों के 'विद्वत्ता के ज्वर' से बहुत परेशान थे। इस टिप्पणी में, और अलग से लिखी गई 'सम्पादकों की अनबन' टिप्पणी में, उन्होंने अपने समय के समाचारपत्रों के विषय में बड़ी सच्ची और तीखी बातें लिखी हैं, जो आज भी इसलिए पढ़ी जानी चाहिए क्योंकि उनकी सच्चाई से हमारे सम्पादक तथा समाचारपत्र अब भी उबर नहीं पाए हैं : "सम्पादक देश-जीवन के उत्थान-मार्ग को स्पष्टता से दिखलाने वाले हैं। उनके द्वारा समाज बहुत कुछ कर चुका है, और बहुत कुछ करेगा। प्रजा के प्रतिनिधि एवं राजा के मत्री बनकर सम्पादक यथार्थ ही में हमारे भाग्यों का उचित निर्णय करके अपनी योग्य योग्यता का परिचय देते हैं। जब उनकी लेखनी किसी कुप्रथा नाश के लिए उठती हैं, तब अत्याचारियों में खलबली मच जाती है, कुरीति समर्थकों की आशा पर तुषार पड़ जाता है, एवं उन्नति प्रिय लोगों में कार्य करने का विचित्र विद्युत प्रवाह संचारित होने लगता है। सभ्य देशों के वे भूषण हैं सभ्य बनने के अभिलाषी देशों के जीवन-जहाज को चातुर्य से चलाने वाले कप्तान हैं इसके साथ ही उन्होंने लिखा किन्तु शोक अब हम यह देखते हैं कि

कोई-कोई सम्पादक कहलाने वाले महानुभाव अपने आप पर ही विजय नहीं प्राप्त कर सकते, वे समय-समय पर विद्वेष के फफोले फोड़ने ही में अपने कर्तव्य की इति समझते हैं, वे अपने उच्चपद को घमंडी बनकर कलंकित करते हैं, उनके वाक्यों एवं आचरण में अन्तर रहता है, वे विद्वद्वरिष्ठ कहलाने के प्रयत्न में पड़कर अपना समय और शक्ति यों ही खर्च करते हैं, वे अपने कलम कुठार से करोड़ों सच्चे सहृदय एवं विद्वान भाइयों के हृदय दुखाने मे कुछ पाप नहीं समझते, वे समय की अनुकूलता तथा अपने पद के गौरव की रक्षा नहीं कर सकते, वे कार्य यथार्थता दर्शित करने के हेतु नहीं करते, किन्तु केवल अपने पक्ष के मनुष्य समूह को रिझाने के हेतु, उसमें प्रशंसा पाने के हेतु तथा मनुष्य समाज पर अपना सिक्का जमाने के हेतु करते हैं, उनकी बुद्धि पक्षपात, जातीय द्वेष, समानता द्वेष, परोदय में डाह आदि साधारण दुर्गुणों का शिकार हो जाती है, उनका हृदय हर्षित होने के हेतु, कार्य-सफलता का मार्ग-प्रतीक्षक न होकर, आत्मप्रशंसा ही में सन्तोष मानता है, वे अपने हृदय में मनुष्य भाइयो के प्रति निश्छल होकर बन्धुत्व नहीं रखते, उनके विचारों पर संकीर्णता का साम्राज्य रहता है तब, हम साधारण मनुष्यों को बड़ा दुःख होता है। सौ दुर्गुणों के द्वारा होने वाली, उनकी दुर्दशा से नहीं, वरन, उनके द्वारा की जाने वाली समाज की भावी दुर्दशा के भय से।"

समाचारपत्रों के विषय में भी उनकी इतनी ही कड़ी टिप्पणी थी : "उस लेखक का कहना बहुत सच है कि यहाँ बरसाती कीड़ों के समान पत्र पैदा होते हैं। फिर, यह संदेह क्यो कि वे शीघ्र ही मर जाते हैं? यूरोप में हर एक पत्र अपनी एक निश्चित नीति रखता है। हिन्दी वालों को इस मार्ग में नीति की गंध भी नहीं लगी। यहाँ वाले जी में आते ही, हमारे समान पत्र निकाल बैठने वाले हुआ करते हैं। उनका न कोई आदर्श और उद्देश्य होता है, और न वे अपना कोई दायित्व सोचते हैं। यहाँ के कई मासिक पत्र अपने को समय का दुश्मन बनाए रहते हैं, और कोई अपने को साहित्य संसार का विधाता मानकर न जाने क्या किया करते हैं? इसी कारण से उनके बनाए मार्ग को उनके पीछे आने वाले ढूँढा ही करते हैं। परन्तु, जब वे कोई मार्ग बनाएं तब तो मिले, नहीं तो मिले कहाँ से? जिसे साहित्य संसार की नाक में अपनी नकेल पहनाने की मनहूसी सूझती है, बस, वही, सम्पादक और प्रकाशक बनकर अपनी हविस पूरी किया, और साहित्य संसार को, अपने "पवित्र चरणों का नम्र सेवक" बनवा लिया चाहता है। कुछ लोगों को इस रास्ते में नादिरशाही सूझ जाती है, और वे अपने को शाही घराने के शाह समझ कर जो जी में आता है, करने लगते हैं। ऐसे लोग अनुभव नहीं करते कि सर्वसाधारण इनके इस पवित्र प्रकाश से काला हुआ जाता है।"

इस प्रकार के अनुभव और आदर्श 'कर्मवीर' के आधार बने, जिसका 1919 मे जबलपुर से प्रकाशन आरम्भ हुआ। माखनलाल जी की श्रेष्ठता और पात्रता इतनी स्थापित हो चुकी थी कि उन्हें बुलाकर इस साप्ताहिक का सम्पादक बनाया गया। 1925 में इसका कायाकल्प हुआ, जिसमें इतनी सफलता उन्हें प्राप्त हुई कि वे 1929 में भरतपुर में हुए सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए। 1934 में वे साहित्य परिषद के अध्यक्ष हुए, 1939 में पूरे साहित्य सम्मेलन के। साहित्य और पत्रकारिता में जो जुड़ाव है, वह मुख्यतः तो माखनलाल जी के लेखन और भाषाणों से प्रकट होता है, यह मान्यता उसी का प्रमाणीकरण है। रघुपति सहाय 'फिराक' ने कहा है - "अब से कोई तीस चालीस बरस पहले जब देश गुलाम था तो कर्मवीर में पंडित चतुर्वेदी के लेख मेरे जैसे लाखों देशवासियों के

दिलों में गुलामी के खिलाफ ऐसा जोश पैदा कर देते थे जिसे भुलाया नहीं जा सकता। कम-से-कम मैं तो तब से अब तक भुला नहीं सका हूँ। जब से देश गुलाम हुआ तब से सत्तर-अस्सी बरसों तक अंग्रेजी भाषा में और भारतीय भाषाओं में देश प्रेम के समर्थन में और गुलामी के विरोध में कई करोड़ शब्द बोले गये और लिखे गये, लेकिन वे सब हवा मे विलीन होकर रह गये और आज किसी के दिल या कानों में गूँज नहीं रहे हैं। माखनलाल जी के लेख अब तक कानों और दिलों में गूँज रहे हैं, उनके लेखों को पढ़ते समय ऐसा मालूम होता था कि आदि शक्ति शब्दों के रूप में अवतरित हो रही है या गगा स्वर्ग से उतर रही है। यह शैली हिन्दी ही में नहीं, भारत की दूसरी भाषाओं में भी बिरले ही लोगों को नसीब हुई।''

माखनलाल जी ने अपना नसीब बनाया, और जो उनके सम्पर्क तथा दायित्व में आया उसका नसीब बनाया। भारत का नसीब बनाने वालों में उनका आदर से स्मरण होता है।

'एक भारतीय आत्मा' के नाम से उन्होंने बहुत लिखा है। माखनलाल जी को पूरी तरह समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वे पूरे-पूरे भारत की भूमि और भावना के प्रतिरूप थे। अपने समय में अति प्रतिष्ठित पश्चिमी संस्कृति और शिक्षा से उनका सम्पर्क नहीं हुआ था। उच्च शिक्षा जिसे जाना जाता है, वह उन्हें नहीं मिली थी। समृद्धि और समर्थन भी उन्होंने प्राप्त नहीं किया। निर्धनता में वे निष्काम बने रहे, और काम ऐसे-ऐसे किए जो सदियों याद किए जाएँगे। उनकी अभिलाषा तो इतनी ही थी—

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर फूल चढ़ाने
जिस पथ जाएँ वीर अनेक।

अपने बारे में उन्होंने जो कहा था, वही सदा-सदा के लिए उनका संदेश है :

सूली का पथ ही सीखा हूँ, सुविधा सदा बचाता आया।

मैं बलि पथ का अंगारा हूँ, जीवन ज्वाला जलता आया।

साहित्य और पत्रकारिता

इसे स्वीकृति की आवश्यकता थी तो साहित्य अकादेमी के साहित्योत्सव के अन्तर्गत आयोजित विचारसभाओं के दूसरे दिन पूरी-पूरी मिल गई थी। वह दिन साहित्यकारों से अधिक पत्रकारों का था, विषय भी ऐसे जिनसे दोनों का सरोकार है।

'साहित्य और संस्थागत नियंत्रण' के अन्तर्गत व्याख्याता थे पत्रकार निखिल चक्रवर्ती तथा कुलदीप नैयर, जिनकी विधा रही है 'जल्दी में लिखा साहित्य', जो पत्रकारिता की एक परिभाषा है। तीसरे, करतारसिंह दुग्गल स्थापित साहित्यकार हैं, परन्तु उनके जीवन का बड़ा हिस्सा आकाशवाणी में बीता है। यह दूसरा वर्ग है, आकाशवाणी और दूरदर्शन, जिसे इसी दिन अंगीकार किया गया था। इनसे साहित्य का चाहे कम साबका पड़ता हो, परन्तु साहित्यकारों के बिना सहयोग के ये प्रबल माध्यम अपना काम नहीं चला सकते, और भारतीय साहित्य के कुछ ऊँचे से ऊँचे नाम इन संस्थाओं से सम्बद्ध रहे हैं, यही कारण था कि दुग्गल जी के अतिरिक्त कमलेश्वर को भी आमंत्रित किया गया था, जो दूरदर्शन से, साहित्यकार होते हुए, जुड़े रहे हैं।

वे दिन के दूसरे अंश में बोले, जब विचारार्थ विषय ही था : 'लेखक और संचार माध्यम'। माध्यम में फिल्मों को भी शामिल कर लिया गया था, और उनकी ओर से थे प्रतिष्ठित तथा पुरस्कृत एन.वी.के. मूर्ति, जिन्होंने भारत सरकार के फिल्म डिवीजन में बहुत प्रसिद्धि पाई है। फिल्में साहित्य की इतनी सामग्री काम में लेती हैं, साहित्यकारों की सेवाओं सहित, किसी को उनको आमंत्रण पर आश्चर्य नहीं हुआ।

दूसरे सत्र के एक वक्ता थे एम.जे. अकबर और अध्यक्ष खुशवन्तसिंह। ये दोनों नामी पत्रकार हैं, परन्तु दो पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। खुशवन्तसिंह जी ने अपनी सुप्रसिद्ध स्पष्टवादिता से इसकी घोषणा की, और अकबर ने समस्त शालीनता तथा गुरुभक्ति से इसे सबके सामने स्वीकार किया।

पहले सत्र के अध्यक्ष न्यायविद, कवि और साहित्य-शोभा लक्ष्मीमल्ल सिंघवी थे, जो उन दिनों लेखकों की संस्था आथर्स गिल्ड के अध्यक्ष थे।

दोनों सत्रों में एक-एक बिदेशी वक्ता थे—ग्रांट डी मेकोनेल तथा कैथरीन क्लीमेंट, जिनके विदेशीपन से अधिक उनके भारत अध्ययन की बात सामने आई।

विषय साहित्योत्सव में सम्मिलित किया गया था, इसी से प्रकट है कि संस्थागत नियंत्रण की कितनी बढ़ती जा रही पीड़ा इस समय है पीड़ा साहित्यकारों की है परन्तु इसका ज्यादा सम्बन्ध और जो हानि हो रही है वह और अधिक इस समय के पाठकों तथा

भविष्य के पाठकों के हिस्से में आती है। यदि रचनाकार परिशुद्ध और प्रभावमुक्त नहीं होगा तो, उसकी कृतियाँ कहाँ पवित्र और सुप्रभावी होंगी। इस पर नाराजी प्रकट की जा सकती है, चिन्ता भी, परन्तु जो वास्तविकता है, वह है, और इसीलिए उस पर विचार हुआ। इस विचार के समय पत्रकारिता और साहित्य का अन्तर लुप्त हो गया, क्योंकि जो नियंत्रण अथवा नियंत्रक होता है, उसका निशाना अभिव्यक्ति होती है, उसकी विधा चाहे पत्र-पत्रिकाएँ हो, चाहे पुस्तकें। वार जब होता है, मार जब पड़ती है, दिन-प्रतिदिन की रोक जो लगती है, छिपी भी, और सीधी भी, वह अन्तर नहीं करती इसमें कि प्रकाशन कैसे, और किसमे हो रहा है। कुलदीप नैयर और करतारसिंह दुग्गल, फिर, ऐसे सौभाग्यशाली हैं, जिनको जितना अन्य विधाओं में स्थान है, उतना ही साहित्य में, कुलदीप नैयर को इसलिए कि उनकी आधा दर्जन से अधिक पुस्तकें खूब बिकी हैं, जिनमें से एक ने अकेले उन्हें पाँच लाख रुपए की रायल्टी दिलाई थी।

उनकी बात आई तो एक अन्य वर्ग है, जो इसी दिन बहुत ज्यादा साहित्यकारो मे आने का यत्न करता रहा, और उसकी ओर से सही ही कहा गया कि पुस्तकों के प्रकाशक नहीं हों तो साहित्यकारों की प्रतिभा सामने कैसे आएगी। इस नाते ये प्रश्न विचारणीय हैं कि पुस्तकों के मूल्य बढ़ रहे हैं, और पुस्तक प्रकाशन में भारत का स्थान सातवें से उतरकर बारहवें पर आ गया है। इसका मतलब ही यह होता है कि कम लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित हो पाई हैं, और उनको पढ़ने वाले भी कम हो रहे हैं। कागज के बढ़ते मूल्य को लेकर यह बात आई कि सरकार क्या जानबूझकर रचना-क्रम में व्याघात डाल रही है। यह भी एक प्रकार का संस्थागत नियंत्रण होता है। इसे प्रस्तुत किया प्रकाशकों में अग्रणी ओ.पी. घई ने, यद्यपि और भी कुछ विशिष्ट तथा जागरूक प्रकाशक विचार-विनिमय के समय प्रायः निरन्तर उपस्थित रहे।

संस्थागत नियंत्रण के शिकार और शिकारी, कुलदीप नैयर को बार-बार कहना पड़ा कि उनकी कटुता का कारण, उन्हें जेल भेजा जाना भर नहीं है। उनके कहे में कटुता से अधिक क्रोध था, जो इस बात का द्योतक है कि कितना कुप्रभाव साहित्य पर सरकार के यत्नों का हो रहा है।

इस बात को पहले ले लें, जो रचनात्मक है, शुभ और स्वीकार्य साहित्यकारों में भी मानी जा रही है, और आपत्ति इस पर उतनी नहीं होती, जितनी इस एक दिन में सामने आई, जिसमें यह तर्क थी कि शासन को, संस्थाओं को तथा धनाढ्य परिवारों को, विवश किया जाना चाहिए कि वे रचनाकारों को पुरस्कार प्रदान करना समाप्त करें। उपहास से अधिक आश्चर्य, कमलेश्वर की ओर से प्रस्तुत, इस आख्यान पर हुआ कि एक बार पुस्तक चयन के लिए साहित्यकार आमंत्रित किए गए, और उनके सत्कार में इतना समय लगा दिया गया कि चयन-कार्य के लिए समय ही नहीं बचा। एक चपरासी जो चंद किताबें उठा लाया, उन्हें ही पुरस्कार-योग्य घोषित कर दिया गया। श्रोताओं की ओर से ऐसे आयोजन का बहिष्कार क्यों नहीं करने की चुनौती मिलने पर भी, कमलेश्वर ने इस घटना की सत्यता से इंकार नहीं किया। इस पर भी इसको पूरा-पूरा मानने का मन नहीं करता. और लगता है कि भीतरी जो अस्वीकृति है उनके मन में पुरस्कार प्रणाली के प्रति उसी को रेखांकित करने के लिए

उन्होंने इस समर्थ गाथा का सृजन किया होगा। जो हो, यदि इस अवसर पर एकत्रित साहित्यकारों, पत्रकारों और बहुत ही वाचाल और व्यग्र श्रोताओं को भी सम्मिलित किया जाए तो निष्कर्ष यही रहेगा कि पुरस्कार साहित्य के सद्विकास के वास्ते अवरोधक हैं, जो फिर एक प्रकार का संस्थागत नियंत्रण बन जाता है।

इस स्थिति का जो दूसरा पक्ष है, उसका उल्लेख आवश्यक लगता है। एक दिन पहले बोलते हुए, सुप्रसिद्ध साहित्यकार, साहित्य अकादेमी के सम्मानित सदस्य तथा उसकी हिन्दी सलाहकार समिति के संयोजक विष्णु प्रभाकर ने कहा था : ''लेखक यह नहीं कह सकता कि ये पुरस्कार नहीं हों, पर उनका सामना करने की क्षमता उसे विकसित करनी होगी, मिलने की स्थिति में भी, और न मिलने की स्थिति में भी।''

यह सब वह हुआ जो कहे गये से भिन्न अथवा अतिरिक्त है। ऐसा कर लेने का मुख्य कारण यह है कि विषय पर विमति कम थी, और सबके स्वर, विविधता होते हुए भी, रंगत और असर में एक समान थे। ''किसी तरह का संस्थागत नियंत्रण हमें स्वीकार नहीं है।''—इस उद्घोष के आगे एक-एक स्वर की गिनती हो कैसे सकती है। 'लेखक और सचार माध्यम' पर विचार भी प्रायः इन माध्यमों से साहित्य पर बढ़ते संकट के विरुद्ध अभिमत बन गया।

सलमान रुशदी की जान लेने के फतबे ने असल में वातावरण को एक दिशा की ओर ही बनाए रखा, और सही भी है, एक किताब में कुछ कहने के कारण एक रचनाकार के सिर पर लाखों के इनाम का ऐलान साहित्य पर ऐसा आक्रमण है जिसे कतई बरदाश्त नहीं किया जा सकता। निखिल चक्रवर्ती ने जो इसके खिलाफ आवाज उठाई, उसे सबका समर्थन मिला, और सभी को 'संस्थागत नियंत्रण' के विरुद्ध मत प्रकट करने को सम्बल भी मिल गया।

लेकिन अधिक चर्चा देश के भीतर की स्थितियों पर ही हुई, और जो उदाहरण आए वे भारत के लेखकों को जो भुगतना पड़ा है, उसी को लेकर दिये गए। निखिल चक्रवर्ती ने प्रश्न को गहराई में उतारा, और उदाहरण पर उदाहरण देकर बताया कि सदा से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सत्ता से भयानक तथा विध्वंसक आतंक का सामना करना पड़ा है—जो आज हो रहा है, उसमें कुछ भी नया नहीं है। यह रचनाकार में निरन्तर बनी रहने वाली व्यग्रता है, आगे आकर अपनी बात कहने की तमन्ना है, जो साहित्य की ज्योति को बुझने नहीं देती। चाहे अंधकार का अन्त दृष्टिगोचर नहीं हो, प्रकाश का सृजन जारी रखना होगा, यह मान्यता और सामर्थ्य साहित्यकार का प्राण और प्रेरणा रही है। जो पुस्तक जलाई जाती है, वही संसार को आलोकित करती है। सत्ता की शक्ति और अभिव्यक्ति का आग्रह निरन्तर संघर्ष में रहे हैं, और जिन पर संकट आता है, उन्हीं का दायित्व बनता है साहित्यकारों की तपस्या तथा बलिदान से प्रज्वलित साहित्यज्योति की रक्षा में अपनी ओर से उत्सर्ग करने का।

सत्ता की ओर से प्रतिबंध वांछनीय नहीं हो सकता, लेकिन निखिल चक्रवर्ती ने यह बताने में चूक नहीं की कि रचनाकारों का भी उत्तरदायित्व होता है, उन्हें भी उनको उत्तर देने के लिए निरन्तर प्रस्तुत रहना चाहिए जो उन्हें पढते हैं। पाठक क्या चाहता है, इसी से रचनाकार की मर्यादाएं बनती हैं

कुलदीप नैयर सम्पूर्ण रूप से संस्थागत नियंत्रण के विपरीत थे—कोई नियंत्रण नहीं। इसका कारण यह नहीं है कि संस्थाओं का दायित्व और अधिकार नहीं होता, लेकिन इस समय हमारे देश में समस्याएँ इतनी विकृत, स्वार्थी और प्रतिबद्ध हो गई हैं कि उनके हाथ मे थोड़ा भी नियंत्रण अभिव्यक्ति के लिए शुभ नहीं रह गया है। उन्होंने उदाहरण देते समय न्यायपालिका को भी अपनी आलोचना में समाविष्ट किया। आश्चर्य उनका यह था कि जिन्होंने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हनन का यथासमय विरोध नहीं किया, वे आज भी उच्च पदों पर हैं, जिनमें उन्होंने, बिना नाम लिए, प्रेस कौंसिल के एक अध्यक्ष को भी गिनाया। वे कम बोले लेकिन उन्होंने पैनी, परेशान करने वाली, बातें हौसले और हिम्मत से कहीं। उनका स्पष्टीकरण यह था कि जब सरकार दुर्बल हो जाती है, वह नियंत्रण निर्मित करने लगती है। समर्पण स्वतंत्रता के प्रति मिट जाता है, और अपना स्वार्थ उभर आता है। स्थिति में सुधार तभी होगा जब जो रचनाकार हैं, और अभिव्यक्ति के अधिकार के निरापद रहने का महत्त्व मानते हैं, वे निरन्तर सचेष्ट रहें, और अपने विरोध को कभी सुप्त नहीं होने दें।

एक बात पर और जोर कुलदीप नैयर ने दिया, जो है जानकारी हासिल करने के हक के बारे में। इसकी रचनाधर्मिता में क्यों आवश्यकता है, इसे आधुनिक संदर्भों में उन्होंने समझाया।

करतार सिंह दुग्गल स्वयं सालों शासनिक संस्थाओं से सम्बद्ध रहे हैं, ऊँचे पदों पर। उन्होंने, स्वभावतः दूसरा पक्ष प्रतिपादित किया। विदेशों के और भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन उदाहरण देकर उन्होंने कहा कि महान् साहित्य अनिवार्यतः स्वतंत्र समाजों मे सृजित नहीं होता, यद्यपि लक्ष्य के रूप में स्वतंत्रता सर्वोपरि है। दूसरे, लेखक की स्वतंत्रता निरर्थक रहती है, यदि अभिव्यक्ति के माध्यम स्वतंत्र नहीं रह पाते। इसलिए हमारे देश में साहित्य अकादेमी और नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी स्वायत्तशासी संस्थाओं की स्थापना की गई। फिर भी, अपने हितों की रक्षा के लिए लेखकों को अपनी ओर से भी चेष्टा करनी होगी, जैसी केरल में 'साहित्य प्रवर्तिका' के रूप में हो रही है। उनके अनुसार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं लेखक की स्वतंत्रता है। अपनी प्रतिबद्धता से अधिक, अपनी आत्मा से प्रेरित होकर उसे लिखना चाहिए। महत्त्व इस बात का है कि परिस्थिति विशेष आने पर, [illegible] साहित्यकार कितनी स्वतंत्रता से अपनी प्रतिक्रिया और अनुभव प्रकट करता है।

समाचारपत्रों पर जो आधिपत्य इस समय चंद धनाढ्य परिवारों का है, उसकी समाप्ति का प्रतिपादन करतार सिंह दुग्गल ने बड़े ही समर्थ शब्दों में किया—"इसके बिना लेखक की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है।" प्रकाशन परिस्थितियों के कारण लेखन समुचित विकास नहीं प्राप्त कर पा रहा, यह अन्य पक्ष है जो वे उतनी ही सबलता से सामने लाए—"भारत में प्रकाशन परिस्थितियाँ नितान्त निन्दनीय हैं।" लाभ और यश के प्रति निर्लिप्तता निभाकर, लेखक को अपनी स्वतंत्रता सुरक्षित रखनी होगी, यह दुग्गल साहब की तीसरी स्थापना थी। सरकार का कर्तव्य है कि वह लेखकों की सहायता करे, परन्तु यह उसके आत्मसम्मान के अनुरूप होना चाहिए। नियंत्रण उस पर किसी और का नहीं हो तो उसके भीतर का होना चाहिए, जो लेखक को अपने आप सही रास्ते पर रख सकता है

विश्व में सलमान रुशदी की हत्या की कुप्रेरणा के कारण जो विपरीत और विकट परिस्थिति बन गई है, उसके सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ने लेखको के मानवाधिकार का प्रतिपादन किया है। अध्यक्ष लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने समुपस्थित सभी विज्ञ व्यक्तियों से उसके समर्थन का अनुरोध किया, और एक प्रकार से सभी को इस अन्तर्राष्ट्रीय अनुरोध के साथ जोड़ लिया।

उनका कहना था कि लेखक की स्वतंत्रता में, उनकी स्वतंत्रता सम्मिलित है जो उसे पढते हैं। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय उद्‌घोषणाओं के आधार पर जहाँ इसका प्रतिपादन किया, वहीं यह भी बताया कि उन्हीं उद्‌घोषणाओं में यह भी निर्धारित है कि स्वतंत्रता नियंत्रणहीन नहीं हो सकती। लेखक के भी दायित्व तथा कर्तव्य होते हैं। ये इतने महत्त्व के हैं कि इन्हें केवल रचनाकारों की स्वच्छन्दता पर नहीं छोड़ा जा सकता। जवाबदारी के अलावा क्षमता और सद्‌गामिता की भी बात है, जिसकी लेखक किसी भी स्थिति में उपेक्षा नहीं कर सकते। लेखक आज के लिए ही नहीं लिखता, भविष्य के निर्माण पर भी उसके यत्न का प्रभाव पडता है। इससे सवाल बनता है, स्वतंत्रता, हाँ, लेकिन कैसी और किसके लिए? अनेक प्रश्न हैं, जिनसे स्वतंत्रता आबद्ध रहती है। हमें संस्कृति और स्वभाव ऐसा विकसित करना होगा जिसमें समुचित स्वतंत्रता का निरन्तर विकास तथा निर्वहन होता रहे। तभी स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता की सुरक्षा हो सकेगी। पुराने समय में कहा गया है, विद्या वही है जो विमुक्त करती है। आज के संदर्भ में यह भी आवश्यक है—शक्ति वही है, जो विमुक्त करे।

कमलेश्वर का कहा लिखकर अंग्रेजी में दिया गया था, लेकिन वे अधिकांश में हिन्दी मे बोले। उनका कहना था कि लेखक समय और समाज से कटकर नहीं लिखता। माध्यम का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। उस देश की स्थितियों का भी, जहाँ लिखा जाता है। केवल स्वान्त:सुखाय नहीं लिखा जाता, यथार्थ की प्रस्तुति ही साहित्य में होती है। उनकी चिन्ता यह थी कि लेखक की रचनाओं के लिए द्वार इस समय बन्द से हैं। इस कारण लेखक की आन्तरिक ऊर्जा का लाभ न समाज को भरपूर मिल पा रहा है, न समय को। उनका कथन विचार और विवाद अधिक उत्प्रेरित कर पाया, इसलिए श्रोताओं की ओर से प्रश्न उनसे ही अधिक हुए। निष्कर्ष यह था कि 'ना' कहने की क्षमता विकसित करनी होगी, और निराशा से विचलित नहीं होना होगा।

कमलेश्वर ने खुशवन्तसिंह की सहमति को अपना तर्क ही नहीं बनाया, अध्यक्ष आसन से उन्होंने अधिकांश में उसी प्रकार की बातें कहीं। वे अभिव्यक्ति के इतने माध्यमों से सम्बद्ध रहे हैं कि विवाद उनके आकार में समाहित हो गया है, और श्रोताओं के सीधे प्रश्नों का उन्हें भी ज्यादा सामना करना पड़ा। परन्तु आदर और आकर्षण उन्हें इतना प्राप्त है कि लोग जो उनसे असहमत थे, वे भी स्नेह से उन्हें सराबोर करते रहे। बड़े भाग्यशाली. अभिव्यक्ति के प्रांगण में, ऐसे व्यक्ति हुआ करते हैं। कुलदीप नैयर, एम. जे. अकबर, खुशवन्तसिंह, एक सीमा तक कमलेश्वर और करतारसिंह दुग्गल, ऐसे पत्रकार एकत्रित हो गये थे, जो आर्थिक अर्थों में भी अत्यन्त सफल, और उस अनुपात में, बहुपठित रहे हैं।

[illegible] मूर्ति विवरण और इतिहास में इतने उतर गए कि उन्हें अपनी व्याख्याओं को उभारने का समय ही नहीं मिला फिर भी उनकी कुछ स्थापनाएँ बहुत ध्यान देने योग्य

हैं, विशेषतः इसलिए कि वे स्वयं शासकीय संस्थाओं से सम्बद्ध रहे हैं। पहली बात यह है कि पत्र और पत्रकारों को शासन के प्रति असहमति का, विरोध का, रुख अपनाए रखना होगा, सिर्फ विगत की विभीषिकाओं के कारण ही नहीं, वर्तमान आवश्यकताओं के कारण भी यह आवश्यक हो गया है। अभिव्यक्ति की सम्भावना और सुविधा बनी रही तो अवश्य असत्य पर सत्य की विजय होगी। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन जैसे जो बहुप्रभावी माध्यम हैं, उन पर शासन का नियंत्रण नहीं रहना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं होता कि निजी क्षेत्र के माध्यम बुराइयों से अछूते हैं। उनके सुधार के लिए निरन्तर सजग सतर्कता आवश्यक है।

विदेशी वक्ता ग्रांट डी मैकोनेल और कैथरीन क्लीमेंट अपने भाषण लिखकर लाए थे, और सुना भी उन्हें समादर के साथ गया। परन्तु विषय उनके ऐसे गहन तथा प्रस्तुत सन्दर्भों से इतनी दूर थे कि उनका सारांश भी यहाँ प्रस्तुत करना अन्याय हो जाएगा। मैकोनेल भारत की लिखित भाषाओं तथा उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयाम पर बहुत ही सूचना सम्मत आलेख तैयार करके लाए थे। कैथरीन क्लीमेंट ने फ्रांसीसी लेखकों की परम्परा से अवगत कराया।

❑

भोपाल में पत्रकारिता का विश्वविद्यालय

भोपाल यह सवाल साथ गया था, भोपाल में बना रहा, और लौटते दिल्ली पहुँचने पर मेरे पुराने पत्रकार मित्र ने भी इसे अपनी ओर से उठा दिया, कुछ उपहास के साथ, कुछ चुनौती के साथ। सवाल यह था कि अकेली पत्रकारिता पर विश्वविद्यालय हो कैसे सकता है।

'विश्वविद्यालय' परिभाषा से, और परम्परा से, ऐसी संस्था होता है जिसमें विश्व-समस्त विश्व—से सम्बन्धित सभी प्रकार की विधाओं की उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती है। यह 'विद्यालय' अथवा 'विद्यापीठ' का पर्याय नहीं होता, जो क्रमशः पाठशाला और महाविद्यालय के अर्थ में काम में लिए जाते हैं।

मध्यप्रदेश शासन के प्रयत्न, प्रोत्साहन और उत्साह से, गौरव पुरुष मूर्धन्य पत्रकार स्वर्गीय माखनलाल जी चतुर्वेदी की पुण्य स्मृति में, मध्य प्रदेश की राजधानी में, हिन्दी पत्रकारिता के शिक्षण, प्रशिक्षण और शोध पर राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में स्थापित, 'माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय संस्थान' के उद्‌घाटन का समारोह था। उप-राष्ट्रपति आमंत्रित थे, और देश के विभिन्न राज्यों से पत्रकार, जनसम्पर्क-जनसंचार विशेषज्ञ और इन विषयों के प्रतिष्ठित प्रशिक्षक उपस्थित थे। आयोजन की यह बड़ी विशेषता थी कि जो स्वभाव से और संस्थागत रूप से उस समय के राज्य शासन का निरन्तर विरोध ही करते थे, वे इस सद्‌कृत्य के लिए बधाई देने स्वयं उपस्थित हुए थे। मध्यप्रदेश की जो प्रतिभा, विभूति और अधिकारिक तत्त्व है, उसका अच्छा प्रतिनिधित्व था।

आयोजन की गरिमा, गम्भीरता, संकल्पशीलता और उचित मात्रा की व्यग्रता ने भरपूर प्रभावित किया। उप-राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल जी शर्मा भोपाल की प्रिय और प्रतिष्ठित विभूति हैं, जिनके राष्ट्रपति होकर भोपाल आने की कामना, जो उनके स्वागत में स्थानीय समाचारपत्रों में व्यक्त की गई, उनके प्रति स्नेह और विश्वास की अभिव्यक्ति थी। उन्होने अपने अभिभाषण में, और बाद में विश्वविद्यालय की महापरिषद की बैठक में, जो आशाएँ और सम्भावनाएँ व्यक्त कीं, वे अवश्य संस्थान को विश्वविद्यालय की ओर ले जाएँगी। वे विश्वविद्यालय के कुलाध्यक्ष बनाए गए हैं। इस संस्थान को "विश्व में पत्रकारिता का एकमात्र विश्वविद्यालय" कहा गया है और कामना की गई है कि यह अपनी शिक्षा और समर्थता से सम्पूर्ण और सर्वोत्तम केन्द्र के रूप में विश्वख्याति प्राप्त करता रहेगा।

विश्वविद्यालय की परिकल्पना उसके पहले महानिदेशक श्री राधेश्याम शर्मा ने प्रस्तुत की और इस अवसर पर वितरित परिचय-पत्र में उसका दिग्दर्शन था प्रस्तावित 'ऐसी है जो सस्थान को विद्यालय विद्यापीठ ही नहीं शिक्षण शिविर भी

बनाएँगी। और यह प्रश्न विश्वविद्यालय की विद्या परिषद की पहली बैठक में भी उठा कि इससे ऊपर उठकर यह विश्वविद्यालय कैसे बनेगा।

जो भी स्वरूप यह संस्थान लेगा, उसके लिए उच्चतम अभिलाषा निश्चय ही मध्यप्रदेश में है, जिसको उद्घाटन समारोह में वहाँ के वरिष्ठ पत्रकारों ने, राजनेताओं ने, और सबसे अधिक मुख्यमंत्री श्री सुन्दरलाल पटवा ने उपस्थित किया, जो उचित भी था, और साधिकार भी। उद्घाटन आयोजन में सर्वपक्षीय एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित उपस्थिति उनके संकल्प को सबल कर रही थी, यद्यपि उन्होंने केन्द्र सरकार, सभी राज्य सरकारों और समूचे पत्रकार जगत से सहयोग की अपेक्षा की। उन्होंने कहा कि पत्रकारिता और जनसंचार के सभी माध्यमों के शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध और प्रकाशन के लिए यह संस्थान एक राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में विकसित किया जाएगा। समारोह में विख्यात विधिवेत्ता डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने कहा कि विश्वविद्यालय का आधार राष्ट्रीय और दृष्टिकोण विश्वव्यापी होगा।

समारोह में शिमला और चंडीगढ़ से लेकर हैदराबाद तक के, बम्बई से लेकर वाराणसी तक के, विद्वान और विशेषज्ञ आए थे, देश की राजधानी दिल्ली का अच्छा प्रतिनिधित्व था। दूसरे, जो विश्वविद्यालय की सर्वोच्च संस्था के रूप में महापरिषद बनाई गई है, वह तो किसी विश्वविद्यालय के लिए भी ईर्ष्या–योग्य हो सकती है। इसमें मध्यप्रदेश से वहाँ के मुख्य, वित्त, जनसम्पर्क और शिक्षा मंत्री, जनसम्पर्क सचिव, प्रतिपक्ष के नेता, दो प्रख्यात सार्वजनिक व्यक्ति, एक कुलपति तथा संस्थान के दो उच्चतम अधिकारी हैं। परन्तु वे अल्पमत ही नहीं, अल्पप्रभाव में रह जाएँगे जब राज्यसभा-लोकसभा के एक–एक प्रतिनिधि, पाँच राज्य सरकारों के प्रतिनिधि, भारतीय प्रेस परिषद और भारतीय जनसंचार संस्थान के अध्यक्ष, एडीटर्स गिल्ड, पब्लिक रिलेशन्स सोसाइटी ऑफ इण्डिया, भारतीय समाचारपत्र सोसाइटी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय के प्रतिनिधि, पाँच हिन्दी राज्यों से एक–एक प्रख्यात सम्पादक, सर्वाधिक परिचालित भारतीय भाषा के समाचारपत्र का सम्पादक, सर्वाधिक परिचालित हिन्दी दैनिक का सम्पादक, भारतीय भाषाओं से पाँच सम्पादक, मध्यप्रदेश के सम्पादक और जनसंचार विशेषज्ञ, पत्रकारिता के विख्यात अध्यापक आदि उनके साथ महापरिषद में बैठेंगे। इस रूप में यह सचमुच सारे राष्ट्र के लिए भेंट है, और इसका राष्ट्रीय स्वरूप स्वतः सिद्ध होता है।

संस्था वही स्वरूप लेती है जो उसका कार्य और परिणाम होता है। माखनलाल चतुर्वेदी विश्वविद्यालय के सामने दायित्व और अवसर अति अधिक है, क्योंकि परिकल्पना में यह सही कहा गया है : "यद्यपि इस समय देश के अनेक विश्वविद्यालयों में पत्रकारिता और जनसंचार कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं, परन्तु हिन्दी में पत्रकारिता और जनसंचार के माध्यमों के शिक्षण, अर्थपूर्ण व्यावहारिक प्रशिक्षण, प्रकाशन और अनुसन्धान के लिए कहीं स्तरीय सुविधा उपलब्ध नहीं है। प्रस्तावित पाठ्यक्रम समाचारपत्रों की और जनसम्पर्क इकाइयों की व्यावसायिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही बनाए जाएँगे, जिसमे शिक्षण और व्यावहारिक प्रशिक्षण का दायित्व वरिष्ठ विषय विशेषज्ञ और अनुभवी, शीर्षस्थ पत्रकारों को सौंपना प्रस्तावित है। इसी प्रकार हिन्दी भाषी प्रदेशों में शासन और सार्वजनिक क्षेत्र के और जनसम्पर्क के पदों पर फिलहाल अप्रशिक्षित व्यक्ति ही नियुक्त होते

हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए हिन्दी में जनसंचार के पाठ्यक्रम भी वरिष्ठ विशेषज्ञों के मार्गदर्शन में संचालित किए जाएँगे।

इसे दोहरा कर कहा गया है कि "वरिष्ठ पत्रकारों और जनसम्पर्क कर्मियों को शिक्षण-प्रशिक्षण की बागडोर सौंपने का उद्देश्य यह है कि शिक्षण-प्रशिक्षण में व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाए। इससे व्यक्ति सीधे व्यवसाय में जाकर सफलतापूर्वक कार्य आरम्भ कर सकें।"

दो सीमाओं से कार्य आरम्भ हो रहा है। पहले तो पत्रकारिता और जनसम्पर्क दोनों के लिए केवल बीस-बीस शिक्षार्थी लिए जाएँगे। सारे देश में सर्वाधिक योग्यता का प्रशिक्षण के लिए चयन का निश्चय अवश्य बहुत आशा बँधाता है, और इसकी वास्तव में सम्भावना है कि यह संस्थान यह प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले कि प्रशिक्षण के समय उसमें भाग लेने वालों को विभिन्न संस्थाएँ अपने लिए ले लें। इस महत्त्वाकांक्षा और प्रयत्न में कमी नहीं है।

परन्तु 'वरिष्ठ पत्रकारों और जनसम्पर्क कर्मियों' का इसके लिए नियोजन बहुत सीमित रूप में सम्भव होगा, जब तक कि कल्पना और प्रयत्न को अति विकसित नहीं किया जाएगा। संस्थान की विधा परिषद (एकेडेमिक कौंसिल) में दो विचार आए। जब प्रशिक्षार्थी समाचारपत्रों में काम देखने और सीखने जाएँ, उसी समाचारपत्र के वरिष्ठ सम्पादक से उनकी सहायता का अनुरोध, एक नियमित प्रबन्ध के अन्तर्गत किया जाए। इससे यथास्थान तात्कालिक रूप से अनुभवी मार्गदर्शन नई पीढ़ी को प्राप्त होता रहेगा। यह उसके अतिरिक्त, और कदाचित उससे अधिक व्यावहारिक और प्रभावी होगा, जो समय-समय पर, सीमित अवधि के लिए, बाहर से आए पत्रकार और विशेषज्ञ नियोजित कर सकेंगे।

परन्तु इस अल्प-अवधि अथवा अवधि-निर्धारित उपलब्धि को वैकल्पिक नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि जब 'बाहर' की बात की जाती है, वह उससे अधिक ही होगा जो अलग-अलग समाचारपत्र अपने यहाँ प्रशिक्षार्थियों को दे सकेंगे। इसमें ही यह जोड़ा गया था कि आधुनिकतम इलेक्ट्रोनिक एवं तकनीकी उपकरणों की सहायता से प्रतिष्ठित पत्रकारों आदि को लेकर प्रशिक्षण कार्यक्रम तैयार किए जाएँ, अब बहु-प्रचलित 'लेसन्स' की तरह। ये जब अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में काम आने लगेंगे, अपने आप भोपाल के संस्थान का स्वरूप व्यापक होता जाएगा।

अपना प्रभाव संस्थान को समाचारपत्रों, सम्पादकों, पत्रकारों पर अलग से बनाना होगा, जो उनकी गोष्ठियों और कार्यशालाओं आदि से तो होगा ही। साथ में यह व्यवस्था भी करनी होगी कि जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होता है, उसका नियमित और व्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण हो। अतीतकालीन शोध से, इस समय यह अधिक आवश्यक है, जिससे इस समय प्रकाशित समाचारपत्रों को अपना स्तर उठाने में सक्रिय सहायता मिल सके।

इसमें संस्थान की ओर से प्रस्तावित त्रैमासिक पत्रिका बहुत सहायक हो सकती है, यदि उसका एक रूप शोध और समीक्षा का हो, दूसरा पत्रकारिता के दायित्व का। ये दोनों मिलकर जितनी अधिक अपेक्षाएँ करते हैं उतनी ही कमी इस ओर है जिसके कारण हिन्दी पत्रकारिता अपना पूरा प्रसार और प्रभाव प्राप्त नहीं कर पा रही

चतुर्वेदी

विश्वविद्यालय की सच्ची सफलता इसी से नापी जाएगी कि उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पत्रकारिता का स्तर कितना उन्नत होता है।

विश्वविद्यालय की अभिलाषा को रूप देने का यत्न करें तो यह दायित्व सामने आता है कि सांसारिक ज्ञान और अनुभव के जितने भो विषय हैं, उन सबमें संप्रेषण के सम्बन्ध मे प्रयोग प्रारम्भ और परीक्षित किए जाएँ। लोकतंत्र का अर्थ और उद्देश्य यह होता है कि जो कुछ है वह सभी के लिए हो, जो ज्ञान-विज्ञान-तकनीक-विचार-शोध पर भी लागू होता है।

सारे संसार में इस समय सूचना के अधिकार और प्रसार की बातें चल रही हैं, जिनसे पत्रकारिता बहुत जुड़ी हुई है, चूँकि सम्प्रेषण के अवसर, उपकरण और उपाय अधिकांश में उसी के पास हैं। पुराने समय में शासनाधिकार से साम्राज्य बनते थे, अब ज्ञान-विज्ञान के आधिपत्य से अपना-अपना अधिकार-क्षेत्र बनाया जा रहा है, जिसमें पश्चिमी देश अपने को बहुत आगे निकाल ले गए हैं। उनसे हम पिछड़े नहीं रहें, इसमें पत्रकारिता बहुत सक्रिय योगदान कर सकती है, अगर वह यह सामर्थ्य भी विकसित करे कि जो ज्ञान संकलित हो जाता है, उसे सबके लिए सुलभ करे। कम से कम उसकी जानकारी और जिज्ञासा प्रसारित करना तो उसका दायित्व होता ही है।

इसके लिए पत्रकारिता में भी अलग-अलग विषयों की क्षमता और विशेष योग्यता आवश्यक होगी। जैसे, सामरिक या कृषि विषयक गतिविधि और विशिष्टता कहीं बढ़ती है, तो उसका ज्ञान प्राप्त करने लायक सुयोग्यता होनी चाहिए, और उसे सर्वसाधारण की समझ में आने लायक लेखन की प्रतिभा भी। इस प्रकार एक-एक करके हर एक विषय पर विचार करें तो बहुत कुछ समझ में आने लगता है कि वास्तव में पत्रकारिता के विश्वविद्यालय की आवश्यकता है, और यह पहल हिन्दी प्रदेश ने हिन्दी के लिए की है, यह हिन्दी के लिए सौभाग्य की भी बात है, और चुनौती की भी।

इतनी सम्भावना इस ओर है कि जो कुछ भोपाल के संस्थान में, उसके प्रयत्न से होगा, उसका उपयोग करने की उत्सुकता अपने आप अन्य पत्रकारिता, जनसम्पर्क, जनसंचार प्रशिक्षणालयों में होती जाएगी। भाषा माध्यम होती है, उसे बाधक नहीं बनने दिया जाना चाहिए। जो भारतीय पत्रकारिता में इस समय सर्वश्रेष्ठ है, संसार की पत्रकारिता में भी, उसके उपयोग का मार्ग प्रशस्त करना होगा, इस लक्ष्य के साथ कि उसमें भी समुन्नति भोपाल के प्रयत्न से हो।

❑

एक पत्रकार की तीर्थयात्रा

एक बार में बम्बई में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के तत्कालीन सम्पादक सर फ्रांसिस लो से बातचीत कर रहा था। अपने उस समय के समाचार सम्पादक (और बाद में पत्र के सम्पादक) श्री के. गोपालस्वामी को मुझसे मिलाने के लिए जब यह कह कर उन्होंने बुलाया कि मैं उनके प्रमुख सहकारी से परिचय प्राप्त करूँ, तो सहसा मैं पूछ बैठा कि क्या उनकी राय में भारत में अंग्रेजी पत्रकार कला के क्षेत्र में अंग्रेजों के बाद दक्षिण भारतीयों का ही सर्वप्रमुख स्थान है। उन्होंने कहा, हाँ! वे महायुद्ध के दिन थे और उनके सब अंग्रेज सहकर्मी युद्धकार्य के लिए जा चुके थे।

सर फ्रांसिस के कहने के पहले भी मैं जानता था कि दक्षिण भारतीय पत्रकार कला के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। दक्षिण के पत्र, विशेषत: अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू', सारे देश मे आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। अतएव जब मुझे मद्रास जाने का अवसर मिला तो मैंने इसे एक प्रकार की तीर्थयात्रा माना, मैंने सोचा जिन व्यक्तियों और संस्थाओं के कारण भारत की पत्रकार कला गौरवान्वित है उन्हें देखने और उनसे चर्चा करने का अवसर पाना सचमुच सौभाग्य की बात होगी।

भारत के राज्यों के जनसम्पर्क निदेशकों के सम्मेलन में भाग लेने मैं मद्रास गया था। स्वभावत: सबसे पहले अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन के सभापति श्री सी. आर. श्रीनिवासन से मिलने का अवसर मिला। वे सम्मेलन के आरम्भिक अधिवेशन में आए थे और अगले दिन उन्होंने कोई डेढ घण्टे तक हम लोगों से बातचीत की। उन्होंने संक्षेप में हमें सम्पादक सम्मेलन का इतिहास बताया और समझाया कि किस प्रकार सम्मेलन भारत सरकार के साथ सहयोग करके एक ओर पत्रों को आवश्यक स्वाधीनता और सुविधाएँ दिलाना चाहता है और दूसरी ओर पत्रों का मापदंड ऊँचा करना चाहता है। उनके तर्कों में और बोलने के ढंग में व्यवहारिकता की छाप थी, जैसे कोई व्यापारी सौदे में होने वाले मुनाफे की बात समझा रहा हो। बाद में मैं उनके घर भी गया—रात का समय होने पर भी उन्होंने बड़े चाव से बातचीत की। श्री श्रीनिवासन ऐसे पहले पत्र-संचालक हैं जो किसी अंग्रेजी अखबार से सम्बन्धित न होते हुए भी सम्पादक सम्मेलन के सभापति चुने गए हैं। भारतीय भाषाओं के पत्रों के बढ़ते हुए प्रभाव का उन्हें प्रतीक माना जाता है। यह उनकी निजी योग्यता और पटुता का प्रमाण है कि उनके हाथों में अंग्रेजी पत्र संचालकों ने भी अपने हित सौंप रखे हैं।

मद्रास के सूचना विभाग के मंत्री श्री भक्तवत्सलम् ने केन्द्रीय सूचना मंत्री श्री आर. आर. दिवाकर के सम्मान में अल्पाहार का आयोजन किया था। हम बाहर से गए व्यक्तियों के अतिरिक्त मद्रास के सभी प्रमुख पत्रकार इस अवसर पर उपस्थित थे वहाँ पहली बार उन

सबको एक जगह देखने का अवसर मिला जिनके नामों का चारों ओर आदर है। अंग्रेजी पत्रकार कला में इतने आगे होते हुए भी अंग्रेजियत से दक्षिण के पत्रकार बहुत दूर हैं। न वे अंग्रेजी में बातचीत करते हैं और न वे अंग्रेजी वेशभूषा में ही रहते हैं। विदेशी सभ्यता के साथ जो ऊपरी तड़क-भड़क घर कर लेती है उसकी भी छाया आपको अंग्रेजी के इन विशेषज्ञों पर देखने को नहीं मिलेगी।

अगले दिन दक्षिण भारतीय पत्रकार सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन था। हम सबको इसमें बुलाया गया था, परन्तु अन्य कार्यक्रमों की भीड़ के कारण कदाचित् हम चार-पाँच ही वहाँ जा सके। 'डकन हेराल्ड' के सम्पादक श्री पोथन जोजफ ने सम्मेलन का उद्‌घाटन किया था और 'हिन्दू' के सहकारी सम्पादक श्री रघुनाथ अय्यर सभापति पद पर थे। दोनों से मैं अलग-अलग भी बाद में मिला। दोनों के भाषण बड़े नपे-तुले थे। बढ़ी-चढ़ी बातें बनाने की या अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने की वृत्ति उनमें नहीं थी। व्यवहारिक सुझावों से भाषण भरे थे। पत्रकार किस प्रकार अपने से श्रेष्ठ का आदर करते हैं, यह भी यहाँ देखने को मिला। श्री अय्यर को पाँच साल तक लगातार अपना सभापति बनाकर दक्षिण के पत्रकार अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहे थे। इस आदर से अपने को दबा श्री अय्यर भी अनुभव करते थे— परन्तु ऐसा लगता है कि उच्चपद, विद्वत्ता और सम्मान उनको तनिक भी विचलित नहीं कर पाता। उनसा सीधा, सरल और कम आकर्षक व्यक्तित्व वाला तो जैसे वहाँ कोई दूसरा था ही नहीं। जैसा कि उन्होंने अपने भाषण में कहा, पत्र-संचालकों की सम्मेलन में उपस्थिति बता रही थी कि नैतिक दृष्टि से सम्मेलन को उनका समर्थन प्राप्त है। और इसका एक बडा कारण श्री अय्यर का व्यक्तित्व माना जाता है। अपने संगठन की दृढ़ता, अपने सोचने और बोलने की व्यावहारिकता के कारण जैसे सम्मेलन ने स्वतः अपने लिए स्थान बना लिया है। दोनों वक्ताओं ने इस बात पर जोर दिया कि संचालकों और पत्रकारों के हितों में उसी प्रकार कोई विरोधाभास नहीं है जैसे कि उनके उद्देश्यों में कोई आपसी विरोध नहीं है।

श्री पोथन जोजफ को उत्तर में भी लोग बखूबी जानते हैं। वे उनमें से हैं जो पत्रकार के धन्धे को वकील का सा मानते हैं। इसी कारण वे ऐसे पत्रों में काम कर चुके हैं जो हर तरह से एक-दूसरे के विरोधी माने जाते हैं। परन्तु पत्रकार के नाते उनकी गणना चोटी के लोगों में की जाती है। अगले दिन मेरी उनसे थोड़ी देर बातचीत हुई। राजस्थान उत्तर की तरह दक्षिण में भी् चर्चा का विषय है। परन्तु विवादास्पद विषयों में भी श्री पोथेन जोजफ के सीधे और खुले विचार होते हैं।

जिस रात को मैं श्री सी. आर. श्रीनिवासन से मिला उसी रात मैंने 'हिन्दू' संचालक श्री के. श्रीनवासन से भेंट की। बिना औपचारिक चर्चा के वे सीधे विषय पर आ गए, और किसी व्यवहारिक निर्णय पर पहुँच कर ही उसे छोड़ा। राजस्थान के बारे में बातचीत करते हुए उन्होंने मुझसे कुछ ऐसी बात कही जिसका उत्तर देने की जगह मैंने उन्हें जयपुर आने का या अपने विश्वस्त प्रतिनिधि को यहाँ भेजने का निमन्त्रण दे दिया। उन्होंने बिना देरी लगाए इसे स्वीकार कर लिया। उनकी व्यापक जानकारी, दूरस्थ चीजों में सजीव रुचि, पर प्रान्तों की क्रिया-प्रक्रिया के प्रति [illegible] और सबसे अधिक जो ठीक जँचे उसे करने की [illegible] की छाप पड़े बिना नहीं रहती वे ऐसे [illegible] नहीं हैं जो पत्र के सम्पादन में रुचि न रखते हों,

न वे ऐसे हैं कि दूसरे की उन्नति न देख सकें। मेरे सामने ही उन्होंने एक भावी पत्र संचालक को अनेक व्यावहारिक सुझाव दिए।

'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के मद्रास स्थित प्रतिनिधि श्री के. एन. परमेश्वरन् उसी होटल मे रहते थे जिसमें मुझे ठहराया गया था। बम्बई के जनसम्पर्क निदेशक श्री एस. ए. अय्यर के कारण उनसे जान-पहचान हो गई और फिर तो कुछ क्षणों के परिचय को उन्होंने सहज ही वर्षों की घनिष्ठता में परिवर्तित कर लिया। दो दिनों में उन्होंने अपना बहुत-सा समय मेरे साथ बिताया। मैं इनका उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि इनसे परिचय प्राप्त किए बिना मेरे लिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता कि मुझे किस-किस से मिलना चाहिए। पत्रों पर सम्पादक की जगह जिसका नाम छपता है वही सदा सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं होता या यों कहें कि इसका स्थान संचालक की दृष्टि से प्रमुख होते हुए भी सम्पादन का काम ऐसे लोगो के हाथ में होता है जिनके नाम कभी-कभी लोग जान भी नहीं पाते।

अगले दिन मैं फिर पत्रकार सम्मेलन में गया। पत्रकारों को और निकट से, कम औपचारिक वातावरण में देखने का अवसर मुझे मिला। 'स्वतन्त्र' के सम्पादक श्री खासा सुब्बाराव ने अपनी ब्रिटेन यात्रा के संस्मरण सुनाए। वे ब्रिटिश सरकार के मेहमान होकर छः सप्ताह के लिए वहाँ गए थे। यद्यपि कम समय और कम-से-कम शब्दों में अपने संस्मरण सुनाने की उन्होंने चेष्टा की, फिर भी एक घण्टे से ऊपर लग गया। इस पर भी ब्रिटेन के पत्रो या पत्रकारों के बारे में वे एक शब्द भी नहीं कह सके। इसका कारण यह था कि आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटेन में उस समय की सरकार के प्रयत्नों से इतना कुछ हुआ है कि विवेकशील व्यक्ति भी उसकी सराहना करते थकता नहीं है। श्री सुब्बाराव ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जो अकारण किसी की प्रशंसा करें। प्रत्येक शब्द तोल-तोल कर वे कहते और लिखते हैं। उनका कहना है कि एक आधारभूत क्रान्ति बिना शोर मचाए की जा रही है। वहाँ की सरकार ने जन-साधारण को दैनिक चिन्ताओं से मुक्त करने के लिए दो सबसे बड़ी बातें यह की हैं कि एक तो रोगी की चिकित्सा का भार राज्य ने उठा लिया है, और दूसरे आधुनिक समस्त साधन-सुविधाओं से सम्पन्न रहने के मकान नीची-से-नीची श्रेणी के लोगों के लिए उपलब्ध किए जा रहे हैं। निर्धनता प्रायः समाप्त करदी गई है—कम-से-कम वेतन की दर पाँच पौंड है।

श्री सुब्बाराम से मैं अगले दिन उनके कार्यालय में मिलने गया। मद्रास की ज्यादा सम्पन्न बस्ती में उनका कार्यालय है, परन्तु वह बड़ा सादा और छोटा है। मुझे यह पहले कह देना चाहिए कि मैं श्री सुब्बाराव से बहुत ज्यादा प्रभावित होकर लौटा हूँ। कभी पहले का परिचय न होने पर भी बड़े स्नेह से वे मिले। अपना सारा काम मेरे कारण उन्होंने स्थगित कर दिया। कोई दो-तीन घण्टे का समय उन्होंने मेरे साथ बिताया। बराबर मुझे लग रहा था कि मैं उनका बहुत समय ले रहा हूँ और बार-बार वे अपने सहज स्नेह से मुझे इस भाव से मुक्त करते जाते थे। हम बातें कर रहे थे, सहसा बीच में मैंने दक्षिण के एक प्रसिद्ध लेखक श्री वैंकटरमणी का नाम ले दिया। श्री सुब्बाराव बिना एक क्षण की भी देरी लगाए स्वयं अपनी मोटर में बिठाकर मुझे उनके घर ले गए यह जानते हुए कि वे मद्रास में नहीं हैं वहाँ जाकर उन्होंने पता लगाया कि श्री कहाँ गए हैं और कब लौटेंगे फिर मद्रास के

कुछ दर्शनीय स्थान उन्होंने मुझे दिखाए। अनुभव, योग्यता और चरित्र के कारण श्री सुब्बाराव का और उनके साप्ताहिक का सारे देश में आदर है। उनके लिए पत्रकार-कला धंधा नहीं, जनसेवा का साधन है।

श्री बालकृष्ण मेनन ने मुझे यह बताया कि दूरस्थ होते हुए भी उनका 'इंडियन एक्सप्रेस' बराबर राजस्थान में रुचि लेता रहा है। समाचारों के स्वरूप के बारे में उन्होंने मुझे कई व्यावहारिक सुझाव दिए। 'एक्सप्रेस' का शानदार नया भवन बन रहा है। इस भवन के आसपास और भी काफी सम्पत्ति 'एक्सप्रेस' के मालिक श्री रामनाथ गोयनका की है। स्थानीय भाषाओं में भी वे दो दैनिक चलाते हैं। उनके बाहर होने के कारण मैं उनसे मिल नहीं सका। वे राजस्थान के ही हैं। इस नाते भी उनसे मिलने की मेरी इच्छा थी। श्री गोयनका को मैं पत्रकार क्षेत्र में उस अध्यवसाय का और योग्यता का प्रतीक मानता हूँ जिसके कारण राजस्थानी देश के विभिन्न भागों में जा बसे हैं। जहाँ बस जाना वहीं के लोकजीवन में घुलमिल जाना, स्थानीय लोगों के साथ अपने हितों को घुला-मिला लेना ऐसे राजस्थानियों का स्वभाव बन गया है। मद्रास में राजस्थानी कम नहीं हैं। एक बाजार का बाजार साहूकार बाजार कहलाता है। मद्रास में 'हिन्दू' के बाद 'एक्सप्रेस' का ही स्थान माना जाता है।

वैसे कदाचित् प्रभाव में 'मेल' भी कम नहीं है। कोई 20-22 वर्ष से लगातार श्री ए ए. हेल्स नामक अँग्रेज सज्जन इसका सम्पादन कर रहे हैं। इस समय भी यह पत्र भारत के सबसे अच्छे सम्पादित पत्रों में गिना जाता है। 'मेल' का आदर इसकी तटस्थता और स्पष्टवादिता के कारण है। श्री हेल्स से मिल कर मैं उनके प्रति सहज ही आदर होने लगता है। उनके सारे कार्यालय में व्यवस्थाप्रियता की छाप स्पष्ट मालूम देती है। शरीर से वे बूढ़े हो चले हैं, परन्तु व्यक्तियों, घटनाओं एवं समस्याओं के प्रति उनकी सजगता में कमी नहीं हुई है। कई ऐसी छोटी-छोटी बातों की ओर मेरा उन्होंने ध्यान दिलाया जो पैनी आँख और तेज नाक के बिना ध्यान में नहीं आ सकतीं।

'हिन्दू' का भवन 'मेल' से मिला हुआ ही है। दोनों भवन शानदार हैं। 'हिन्दू' का भवन बनाते समय अन्य बातों के अतिरिक्त कर्मचारियों की सुविधा का भी बड़ा ध्यान रखा गया था। भवन में जाकर इस बात का गर्व हुए बिना नहीं रहता कि भारतीयों द्वारा संचालित एक भारतीय पत्र के कार्यालय में वह सब कुछ है जिस पर कोई विदेशी समाचारपत्र तक गौरव अनुभव कर सकता है। श्री रघुनाथ अय्यर इस मंदिर के प्रमुख पुजारी हैं। आकार में छोटा और स्वरूप में कम आकर्षक यह व्यक्ति इतना विद्वान माना जाता है कि इसके व्यवहार एवं व्यक्तित्व पर विद्वत्ता का रोब नहीं पड़ता। बातचीत के बाद ही आप इस व्यक्ति की गहराई नाप सकते हैं। अँग्रेजी के समान संस्कृत में भी आपकी पूरी गति है। आपकी सतर्क बुद्धि और पैनी दृष्टि का परिचय प्राप्त करते देरी नहीं लगती। थोड़े दिन हुए आप पहली बार उत्तर भारत आए थे, और अब दूसरी बार आ रहे हैं। उत्तर प्रदेश के पत्रकारों के संगठन ने अपने सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए आपको आमन्त्रित किया है। इस प्रकार एक ऐसे व्यक्ति का उत्तर प्रदेश सम्मान कर रहा है जिसके कारण दक्षिण गौरव अनुभव करता है।

'इंडियन रिपब्लिक' कदाचित् मद्रास का सबसे नया अँग्रेजी दैनिक है! कम-से-कम चारों ज्यादा प्रसिद्ध दैनिकों में यह सबसे छोटा है। कॉंग्रेस के अध्यक्ष डॉ. पट्टाभि सीतारम्मैया का पत्र होने के नाते इसका सम्मान है। इसके सम्पादक श्री सी. वी. एच. राव मेरे पुराने परिचित निकले। लाहौर से वे एक बार जयपुर आए थे। तब से उन्होंने काफी यात्रा करली है, परन्तु मिलते ही उनकी सारी स्मृतियाँ ताजी हो गईं। मेरे प्रति जो स्नेह उन्होंने दिखाया वह स्वाभाविक था।

स्थानीय भाषाओं के कुछ पत्रकारों से भी मैं मिला, परन्तु भौगोलिक दूरी के अतिरिक्त भाषा की दूरी भी उनके हमारे बीच है। समय कम होने के कारण मैं उनसे निकट परिचय प्राप्त नहीं कर सका। श्री सी. आर. श्रीनिवासन के अतिरिक्त 'कलकी' के सम्पादक को देखने का भी मौका मिला। हम सब उनके यहाँ गए थे। वहाँ श्रीमती सुब्बालक्ष्मी ने अपने संगीत और अपनी पुत्री के नृत्य से हमें सम्मानित किया। दक्षिण और उत्तर की सीमाएँ किस प्रकार शक्तिशाली व्यक्तित्व द्वारा जोड़ी जा सकती हैं, इसका यहाँ मुझे दूसरी बार अनुभव हुआ। इसका पहला आभास 'एक्सप्रेस' के भवन में श्री गोयनका को लेकर हुआ था। दक्षिण की भाषा में जिस प्रवीणता से श्रीमती सुब्बालक्ष्मी गाती हैं उतने ही सहज भाव से वे हिन्दी मे गा लेती हैं—इसे सारा देश जान चुका है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी का एक गीत उन्होंने गाया और इसके साथ उनकी पुत्री राधा ने नृत्य किया। श्रीमती सुब्बालक्ष्मी की प्रतिभा और उनकी पुत्री की पटुता की सराहना करने का यह कोई स्थान नहीं है—न शायद इसकी आवश्यकता है। मुझ पर इसका बड़ा असर पड़ा कि आज श्रीमती सुब्बालक्ष्मी का सब क्षेत्रों में बड़ा सम्मान है, लोग बार-बार इसे याद करते हैं कि अपने गले के माधुर्य के बल पर अब तक वे कोई एक करोड़ रुपया या शायद ज्यादा लोकोपयोगी कार्यों के लिए एकत्र कर चुकी हैं। अब तो कदाचित् वे निजी आर्थिक लाभ के लिए गाती ही नहीं।

व्यक्तित्व के आगे भौगोलिक सीमाओं का छोटापन मुझे जैमिनी स्टूडियो में जाकर भी अनुभव हुआ। श्री वसन की 'चन्द्रलेखा' चारों दिशाओं में दिग्विजय-सी करती अब भी डोल रही है। हम गए तब भी वहाँ किसी हिन्दी फिल्म की शूटिंग हो रही थी।

इस संस्मरण की समाप्ति मैं यह बता कर करना चाहूँगा कि मद्रास में मैंने कोई आधा घण्टे के लिए श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य से उनके निवास-स्थान पर भेंट करने का अवसर भी प्राप्त किया। वे पूरी तरह स्वस्थ नहीं थे, फिर भी चाव से उन्होंने बात की। कई समस्याओं पर खुलकर उन्होंने अपने विचार प्रकट किए, परन्तु मुझे उन्हें सार्वजनिक रूप से प्रकट करने का शायद कोई अधिकार नहीं है। जो चीजें छोटी मानी जाती हैं, उनके प्रति भी राजा जी की रुचि, व्यक्तियों के प्रति उनका स्नेह भाव, और अपरिचितों को भी अपने विचारपूर्ण परन्तु छोटे-छोटे प्रश्नों से संकोचविहीन कर देने के उनके स्वभाव का मुझे निकट से परिचय मिला। एक ही बात मैं बताऊँगा। मुझसे उन्होंने कहा कि मैं बहुत छोटा लगता हूँ। यह बताने पर कि मैं 1921 में पैदा हुआ था, राजाजी ने कहा कि वह तो कल की-सी बात लगती है। दूसरे ही वाक्य में वे कहने लगे, पर क्या हुआ, अब तो सेना में भी कम उम्र के अधिकारी आने लगे हैं। राजाजी जिस प्रकार समस्या की तह तक जा सकते हैं उसी प्रकार वे व्यक्तित्व के पैंदे को भी छू सकते हैं इस क्रिया में सहज स्नेह उनका सबसे बडा साधन है

वे महान् हैं। उनकी महानता का एक अनुभव मुझे उनका छोटा-सा मकान देखकर हुआ। वह मकान इतना छोटा है कि उसके छोटेपन का अनुभव भी लोगों को यह याद करके नहीं होता कि हाल तक वे भारत के सबसे बड़े और शानदार राजभवन में रहते थे।

यहाँ दो-चार नाम मैंने जान-बूझकर छोड़ दिए हैं, चूँकि चर्चा मैं उनकी ही करना चाहता था जो प्रतीक माने जा सकें। फिर भी हो सकता है कुछ इतने ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मैं मिल भी न सका होऊँ। परन्तु तीर्थ तक जाकर भी तो कभी-कभी समय की कमी या अपनी सीमाओं के कारण एक-दो डुबकी लगाते ही बनता है। पुण्य उसका भी मिलता है, परन्तु जो टिककर पूजा-अर्चना कर सकें वे ज्यादा भाग्यशाली माने जाते हैं।

मैं तो यही विचार लेकर लौटा हूँ कि हम उत्तर वालों को दक्षिण का और ज्यादा तथा व्यापक ज्ञान होना चाहिए। बातचीत में मुझे लगा कि यही सलाह मैं दक्षिण वालों को भी दे सकता हूँ।

❑